तत्त्वमसि

भगवान् श्री रजनीश के पांच सौ बीस अमृत-पत्र

तत्त्वमसि

भगवान् श्री रजनीश

सम्पादन

स्वामी योग चिन्मय

रजनीश फाउन्डेशन प्रकाशन, पूना

१९७५

प्रकाशक

मा योग लक्ष्मी

सचिव, रजनीश फाउन्डेशन

श्री रजनीश आश्रम, १७ कोरेगाँव पार्क, पूना-१, महाराष्ट्र

प्रथम सम्करण मई, १९७५

प्रतियाँ १०००

मूल्य : चालीस रुपये

मुद्रक

भार्गव भूषण प्रेस,

त्रिलोचन, वाराणसी

१७/८—७५

संकलित पुस्तकें

भूमिका

"मनुष्य एक तनाव है—पशु और प्रभु के बीच।

मनुष्य अवस्था नही—बस, एक सक्रमण है।

यही उसका सौभाग्य भी है और यही उसकी पीडा भी।

शायद कोई सौभाग्य बिना पीडा के नही हो सकता है—इसीलिए।

शिखर बिना खड्ड-खाइयों के होना भी चाहे, तो कैसे हो सकते हैं?

इसलिए मनुष्य होना एक चिता है--एक गहन सताप।

या तो पशु होने मे विश्राम है, या प्रभु होने में।

पशु होने मे वही विश्राम है, जो कि अज्ञान और अधकार और निद्रा की मूर्च्छा मे है।

और प्रभु होने मे वही विश्राम है, जो कि ज्ञान, मुक्ति और प्रकाशोपलब्धि मे है।

फिर मनुष्य होकर कोई पशु होना भी चाहे, तो नही हो सकता है।

क्योकि, वापस पीछे लौटने का कोई उपाय नही है।

इसलिए, आगे बढो—खोजो स्वय मे छिपे प्रभु को।

तोडो बीज और बनो वृक्ष।"

"बीज ही बीज नही है।

मनुष्य भी बीज है।

बीज ही अकुरित नही होते है।

मनुष्य भी अकुरित होते है।

बीज ही फूल नही बनते है।

मनुष्य भी फूल बनते है।

और धर्म मनुष्यता के बीजो को फूल बनाने का विज्ञान है।"

उपरोक्त शब्दो मे भगवान् श्री रजनीश मनुष्य की वर्तमान स्थिति और उसमे छिपी हुई सभावना की ओर इशारा कर रहे है।

मनुष्य की जो परम सभावना है--दिव्यता, भगवत्ता, परमानन्द, मुक्ति, निर्वाण--वह उनमें फलीभूत हुआ है।

वे स्वय परम धन्यता को, परम सतृप्ति को, सिद्धावस्था को उपलब्ध हुए हैं ।

जाग कर उन्होने पाया कि अहकार--स्वप्न की तरह--विलीन हो गया है और भगवत्ता प्रकट हो गयी है ।

अह-शून्यता के आते ही उन्होंने जाना कि जिसे 'मैं' कहा जाता है, वही 'सर्व' हो गया है--वही ब्रह्म हो गया है ।

अब वे सभी संतो, ज्ञानियो एव ऋषियों के साथ स्वर मिलाकर गाते हैं--'अह ब्रह्मास्मि' ।

इस परम उद्‌घोष के, इस परम उपलब्धि के वे स्वय प्रमाण हैं--स्वयं गवाह हैं ।

और इसीलिए तो वे इतने आश्वस्त स्वर मे कह सकते है कि जो उनमे घटित हुआ है--वह सब मे घटित हो सकता है ।

परम चैतन्य मे, भगवत्ता मे, सहज समाधि मे प्रतिष्ठित हुए भगवान् श्री रजनीश के समग्र अस्तित्व से सतत निनाद होता रहता है, इस महामत्र का :

अहं ब्रह्मास्मि--वही हूं मैं ।

तत्त्वमसि--वही है तू भी ।

अपने अनुभव के आधार पर ही वे एक साधक को लिखते है :

"मन का भी जो साक्षी है--मन को भी जो देखता और जानता है--वही हो तुम ।

उसकी ही सुनो ।

उसका ही अनुसरण करो ।

उसको ही जियो ।

शरीर भी उपकरण है--मन भी ।

मालिक--शरीर-मन--दोनो के ही पार है ।

शरीर भी परिधि है--मन भी ।

केंद्र दोनों के अतीत है ।

वही हो तुम ।

उसमे ही ठहरो--उसमे ही रमो ।

वही हो तुम ।

उसको ही जानो--उसको ही पहचानो--उसकी ही स्मृति रखो ।

वही हो तुम--तत्त्वमसि । Thou Art That."

भगवान् श्री रजनीश के इस आमत्रण और उद्‌घोष के साथ प्रस्तुत है : उनके पाच सौ बीस अमृत-पत्रों का सकलन--'**तत्त्वमसि**' ।

इस ग्रंथ में पूर्व-प्रकाशित पत्र-संकलन---'क्रांति-बीज', 'पथ के प्रदीप', और 'अंतर्वीणा' तथा अप्रकाशित एक सौ पचास पत्रों का चौथा संकलन---'घूंघट के पट खोल' संगृहीत है।

भगवान् श्री द्वारा लिखे गये और अब तक सहज उपलब्ध हिन्दी पत्रों की संख्या एक हजार से ऊपर है। उन्हें दो खण्डो मे प्रकाशित करने का आयोजन है।

प्रथम खण्ड---तत्त्वमसि---आपके सामने प्रस्तुत है।

दूसरा खण्ड भी यथा समय प्रकाशित होगा---जिसका शीर्षक होगा---**'बाजत अनहद बांसुरी'**। इसमें संगृहीत होगी---पूर्व-प्रकाशित पुस्तकें---'प्रेम के फूल', 'ढाई आखर प्रेम का', 'मन के पार' तथा 'पद घुंघरू बांध'।

*

शीर्षक मूल पत्र के हिस्से नही है। वे सम्पादक के अपने भाव हैं।

इन पत्रो को संकलित करते समय अनेकों बार सम्पादक भाव-विभोर हो उठा है।

पुलकित और आह्लादित हो उठा है।

नाच उठा है---आनन्द मे।

रो उठा है---भाव के अतिरेक मे।

डूब गया है---अंतर्यात्रा मे।

खो गया है---चैतन्य की झलको मे।

विस्मय से भर उठा है---रहस्य की बौछारो मे।

अनेक बार किसी दूसरे ही लोक मे पहुंच गया है---ध्यान मे।

और उसके हृदय के द्वार खुले है---श्रद्धा मे, समर्पण मे।

*

भगवान् श्री के ये हस्तलिखित पत्र अमूल्य है।

इन पत्रों में उनकी उपलब्धियों का, अनुभूतियों का, उपदेशों का सार-निचोड सूत्रों के रूप मे प्रस्तुत हैं।

इनमे जीवन, साधना और सिद्धि के विभिन्न आयामो का सूक्ष्मतम उद्घाटन हुआ है।

इन पत्रों में उपनिषदों की ताजगी है।

वेद मंत्रों की तेजस्विता है।

तथा बाइबल, कुरान और गीता की गहराई है।

फिर भी 'सत्य' शब्दों मे नही समा सकता है।

और समस्त बुद्ध पुरुषों के वचन मात्र इशारे हैं--परमात्मा की ओर—सत्य की ओर--परमानन्द, मुक्ति और निर्वाण की ओर।

मुमुक्षु, साधक, खोजी, भक्त एवं प्रेमिजन इन इशारों को समझें, इनसे प्रेरणा लें और विकसित हों—अनुभूति की ओर, जहाँ वे भी भगवान् श्री रजनीश की तरह कह सकें : 'अहं ब्रह्मास्मि--तत्त्वमसि'।

*

यदि इन पत्रों को आप 'शांत मन' से पढ़ेंगे--पूर्वाग्रह शून्य होकर—सरल होकर इसे हृदय तक उतरने देंगे, तो हो सकता है कि आपके भीतर भी 'कुछ' अंकुरित हो उठे।

हो सकता है कि ये पत्र आपकी प्यास को जगायें।

आपमें एक 'दिव्य विरह' को जन्म दें।

आपको 'नींद' से झकझोर कर उठायें।

और आपके लिए वे एक आमंत्रण और आह्वान बन जायें।

हो सकता है कि ये पत्र आपके अंतःकरण में दिव्यता के बीज बन जायें और प्रेम, श्रद्धा और आस्था का खाद-पानी पाकर अंकुरित होने लगें।

हो सकता है : ये पत्र आपकी अंतर्यात्रा में--परम चैतन्य और 'स्वभाव' की खोज में--पाथेय बन जायें।

इसी अभीप्सा में प्रस्तुत है—'**तत्त्वमसि**'।

स्वामी योग चिन्मय

श्री रजनीश आश्रम,
पूना—१, (महाराष्ट्र)
कार्तिक पूर्णिमा
२९ नवम्बर, १९७४

क्रांति-बीज

क्रांति-बीज

भगवान् श्री रजनीश द्वारा अपने पूर्व-जन्म की माँ
सुश्री मदनकुँवर पारख, चाँदा, महाराष्ट्र को
सन् १९६२-६३ मे लिखे गये १२० अमृत-पत्र

आमुख

मं भी एक किसान हूँ।

और, मंने भी कुछ बीज बोये थे।

और, फिर उनमें अंकुर आये और अब फूल लग गये हैं।

उन फूलो की सुगंध से मेरा सारा जीवन भर गया है।

उस सुगंध के कारण अब मं किसी और ही लोक में हूँ।

उस सुगंध ने मुझे नया जन्म दिया है।

और, अब जो मं साधारण आँखो से दिखायी पड़ता हूँ, वही नहीं हूँ।

अदृश्य और अज्ञात ने अपने बंद द्वार खोल दिये हं।

और, मं उस जगत् को देख रहा हूँ, जो आँखो से नहीं देखा जाता।

और, उस संगीत को सुन रहा हूँ, जिसे सुनने मे कान समर्थ नहीं होते हं।

और, इस भाँति जो मंने जाना है और पाया है, वह वैसे ही मुझसे बहने और प्रवाहित होने को उत्सुक है, जैसे पहाड़ो के झरने सागर की ओर प्रवाहित होते और भागते हं।

स्मरण रहे कि बदलियाँ जब पानी मे भर जाती हं, तो उन्हे बरसना पड़ता है।

और, फूल जब सुवास से भर जाते हं, तो उन्हे हवाओं को अपनी सुगंध लुटा देनी होती है।

और, जब कोई दिया जलता है, तो आलोक उससे बहता ही है।

ऐसा ही कुछ हुआ है।

और, कुछ क्रांति-बीज हवाएँ मुझसे लिये जा रही हं।

मुझे कुछ ज्ञात नहीं कि वे किन खेतो मे पहुँचेंगे, और कौन उन्हे सम्हालेगा। मं तो इतना ही जानता हूँ कि उनसे ही मुझे जीवन के, अमृत के, और प्रभु के फूल उपलब्ध हुए हं।

और, जिस खेत मे भी वे पड़ेंगे, वही की मिट्टी अमृत के फूलो मे परिणत हो जावेगी।

मृत्यु मे अमृत छिपा है, और मृत्यु मे जीवन—वैसे ही, जैसे मिट्टी मे फूल छिपे होते हैं।

पर, मिट्टी की संभावना, फूलो के बीजों के अभाव में कभी वास्तविकता मे परिणत नहीं हो सकती।

बीज उसे प्रकट कर देते हैं, जो अप्रकट था, और उसे अभिव्यक्त कर देते हैं, जो कि प्रच्छन्न था।

जो भी मेरे पास है, जो भी मैं हूँ, उसे अमृत के, दिव्य के, भागवत चैतन्य के बीजों के रूप में बाँट देना चाहता हूँ।

ज्ञान से जो पाया जाता है, प्रेम उसे लुटा देता है।

ज्ञान से परमात्मा जाना जाता है।

प्रेम से परमात्मा हुआ जाता है।

ज्ञान साधना है।

प्रेम सिद्धि है।

भगवान् श्री रजनीश के इन शब्दो मे उनका पूरा हृदय प्रकट है।

यही वे रोज कहते है, यही वे रोज करते है।

उनके शब्दो मे, उनकी आँखो मे, उनकी साँसों मे——सबमे वे उन्ही बीजो को लुटा रहे है, जिनसे उनका जीवन एक अलौकिक आनन्द और सौदर्य बन गया है, और जिनके द्वारा वे चाहते हैं कि सबके जीवन मे भी आलोक के फूल लग सकें।

उनका यह आलोक-सदेश सब तक पहुँच सके, इसलिए हम उनके कुछ पत्र यहाँ प्रकाशित कर रहे है।

इन पत्रो के शीर्षक सम्पादक की कलम से सहज प्रकाश-किरण की तरह स्फूर्त हुए है।

वैसे यह सही है कि भगवान् श्री के पत्रो को अथवा उनके प्रवचनो को शीर्षक मे सीमित करना सागर को गागर मे भरने की तरह असभव है।

लेकिन, इस आशा मे उन्हे यहा सम्मिलित किया गया है, ताकि वे सक्षिप्त मे, विषय-सूची का उद्देश्य पूरा कर सकें।

तथा पाठक को पुस्तक पढने के पूर्व अतर्गत विषयो की परछाईं और पदचाप की आहट दे सकें।

साथ ही नये सस्करण मे पत्र-सामग्री को और अधिक छोटे-छोटे पैराग्राफ्स (हिस्सो) मे विभाजित कर दिया गया है। आशा है, पाठक इसे पसद करेगे।

अब आप स्वय इन अमृत-पत्रो मे डूबे और आत्म-क्रांति की ओर अग्रसर हो।

पत्र शीर्षक

क्रम

१ / त्याग

एक गाँव में गया था। किसी ने कहा: 'धर्म त्याग है। त्याग बडी कठिन और कठोर साधना है।'

मैं सुनता था, तो एक स्मरण हो आया।

छोटा था—बहुत बचपन की बात होगी। कुछ लोगो के साथ नदी-तट पर वन-भोज को गया था। नदी तो छोटी थी, पर रेत बहुत थी। और रेत मे चमकीले रगों-भरे पत्थर बहुत थे। मैं तो जैसे खजाना पा गया था। साँझ तक इतने पत्थर बीन लिये थे कि उन्हे साथ लाना असम्भव था। चलते क्षण जब उन्हें छोडना पडा, तो मेरी आँखें भीग गयी थी। और साथ के लोगों की उन पत्थरो की ओर विरक्ति देखकर बडा आश्चर्य हुआ था। उस दिन वे मुझे बडे त्यागी लगे थे।

और, आज सोचता हूँ, तो दीखता है कि पत्थरों को पत्थर जान लेने पर त्याग का कोई प्रश्न ही नही है।

अज्ञान भोग है।

ज्ञान त्याग है।

त्याग क्रिया नहीं है। वह करना नही होता है। वह हो जाता है। वह ज्ञान का सहज परिणाम है।

भोग भी यात्रिक है। वह भी कोई करता नही है। वह अज्ञान की सहज परिणति है।

फिर, त्याग के कठिन और कठोर होने की बात ही व्यर्थ है।

एक तो वह क्रिया ही नही है। क्रियाएँ ही कठिन और कठोर हो सकती है।

वह तो परिणाम है।

फिर, उसमे जो छूटता मालूम होता है, वह निर्मूल्य और जो पाया जाता है, वह अमूल्य होता है।

वस्तुत:, त्याग जैसी कोई वस्तु ही नही है, क्योकि जो हम छोडते है, उससे बहुत को पा लेते हैं।

सच तो यह है कि हम केवल बंधनों को छोड़ते है, और पाते है मुक्ति।

छोडते है कौड़िया, और पाते है हीरे।

छोडते है मृत्यु, और पाते है अमृत।

छोड़ते है अंधेरा, और पा लेते हैं प्रकाश—शाश्वत और अनन्त।

इसलिए, त्याग कहाँ है?

न-कुछ को छोड़कर सब-कुछ को पा लेना त्याग नही है!

२ / मृत्यु और समाधि

कल रात्रि कोई महायात्रा पर निकल गया है। उसके द्वार पर आज रुदन है। ऐसे क्षणों मे बचपन की एक स्मृति मन पर दुहर जाती है।

पहली बार मरघट जाना हुआ था। चिता जल गयी थी और लोग छोटे-छोटे झुण्ड बनाकर बातें कर रहे थे। गाँव के एक कवि ने कहा था · 'मैं मृत्यु से नही डरता हूँ। मृत्यु तो मित्र है।'

यह बात तब से अनेक रूपो मे, अनेक लोगो से सुनी है। जो ऐसा कहते है, उनकी आँखो मे भी देखा है और पाया है कि भय से ही ऐसी अभय की बातें निकलती हैं।

मृत्यु को अच्छे नाम देने से ही कुछ परिवर्तन नही हो जाता है।

वस्तुत, डर मृत्यु का नही है, डर अपरिचय का है।

जो अज्ञात है, वह भय पैदा करता है। मृत्यु से परिचित होना जरूरी है। परिचय अभय मे ले आता है।

क्यों ? क्योंकि परिचय से ज्ञात होता है कि 'जो है', उसकी मृत्यु नही है।

जिस व्यक्तित्व को हमने अपना 'मै' जाना है, वही टूटता है, उसकी ही मृत्यु है।

वह है नहीं, इसलिए टूट जाता है।

यह केवल सायोगिक है कुछ तत्त्वो का जोड़ है जोड़ खुलते ही बिखर जाता है।

यही है मृत्यु।

और इसलिए, व्यक्तित्व के साथ स्वरूप को एक जानना जब तक है, तब तक मृत्यु है।

व्यक्तित्व से गहरे उतरें, स्वरूप पर पहुँचे और अमृत उपलब्ध हो जाता है।

इस यात्रा का—**व्यक्तित्व से स्वरूप तक की यात्रा का—मार्ग धर्म है।**

समाधि मे, मृत्यु से परिचय हो जाता है।

सूरज उगते ही जैसे अधेरा न हो जाता है, वैसे ही **समाधि उपलब्ध होते ही मृत्यु न हो जाती है।**

मृत्यु न तो शत्रु है, न मित्र है।

मृत्यु है ही नही।

न उससे भय करना है, न उससे अभय होना है।

केवल उसे जानना है।

उसका अज्ञान भय है, उसका ज्ञान अभय है।

३ / चित्त की समस्या और सत्य

एक दिन मैं मंदिर गया था। पूजा हो रही थी। मूर्तियों के सामने सिर झुकाये जा रहे थे। एक वृद्ध साथ थे, बोले 'धर्म मे लोगो को अब श्रद्धा नही रही। मंदिर मे भी कम ही लोग दिखायी पडते हैं।'

मैने कहा 'मंदिर मे धर्म कहाँ है ?'

मनुष्य भी कैसा आत्मवचक है . अपने ही हाथो से बनायी मूर्तियो को भगवान् समझ स्वय को धोखा दे लेता है ! मन से रचित शास्त्रों को सत्य समझकर तृप्ति कर लेता है !

मनुष्य के हाथो और मनुष्य के मन से जो भी रचित है, वह धर्म नही है।

मंदिरो मे बैठी मूर्तियाँ भगवान् की नही, मनुष्य की ही है।

और शास्त्रो मे लिखा हुआ मनुष्य की अभिलाषाओ और विचारणाओ का ही प्रतिफलन है—सत्य का अंतर्दर्शन नही। सत्य को तो शब्द देना सभव नही है।

सत्य की कोई मूर्ति संभव नहीं है।

क्योंकि, वह असीम, अनंत और अमूर्त है।

न उसका कोई रूप है, न धारणा, न नाम।

आकार देते ही वह अनुपस्थित हो जाता है।

उसे पाने के लिए सब मूर्तियाँ और सब मूर्त धारणाएँ छोड देनी पडती हैं।

स्व-निर्मित कल्पनाओ के सारे जाल तोड देने पड़ते है।

वह असृष्ट तब प्रकट होता है, जब मनुष्य की चेतना उसकी मनःसृष्ट कारा से मुक्त हो जाती है।

वस्तुत, उसे पाने को मंदिर बनाने नही, विसर्जित करने होते हैं। मूर्तियाँ गढनी नही, विलीन करनी होती हैं।

आकार के आग्रह खोने पडने हैं, ताकि निराकार का आगमन हो सके।

चित्त मे मूर्त के हटने ही, वह अमूर्त प्रकट हो जाता है।

वह तो था ही। केवल मूर्तियो और मूर्त मे दब गया था।

जैसे किसी कक्ष मे सामान भर देने मे रिक्त स्थान दब जाता है। सामान हटाओ और वह जहां था, वही है।

ऐसा ही है सत्य।

मन को खाली करो और वह है।

४ / ईश्वर-भीरुता, प्रेम और धर्म

सुबह एक उपदेश सुना है। अनायास ही सुनने मे आया है। एक साधु बोलते थे। मै उस राह से निकला तो सुन पडा। वे बोल रहे थे कि धार्मिक होने का मार्ग ईश्वर-भीरु होना है। जो ईश्वर से डरता है, वही धार्मिक है। भय ही उस पर प्रेम लाता है। 'भय बिनु होय न प्रीति।' प्रेम भय के अभाव मे असभव है।

साधारणत, जिन्हे धार्मिक कहा जाता है, वे शायद भय के कारण ही होते है। **जिन्हें नैतिक कहा जाता है, उनके आधार में भी भय ही होता है।**

काट ने कहा है. 'ईश्वर न हो, तो भी उसका मानना आवश्यक है।' यह भी शायद इसीलिए कि उसका भय लोगो को शुभ बनाता है।

मैं इन बातो को सुनता हूँ, तो हँसे बिना नही रहा जाता है। इतनी भ्रात और असत्य शायद और कोई बात नही हो सकती है।

धर्म का भय से कोई सबध नही है।

धर्म तो अभय से उत्पन्न होता है।

प्रेम भी भय के साथ असम्भव है।

भय प्रेम कैसे पैदा कर सकता है? उससे तो केवल प्रेम का अभिनय ही पैदा हो सकता है।

और, अभिनय के पीछे अप्रेम के अतिरिक्त और क्या होगा?

प्रेम का भय से पैदा होना एक असभावना है।

और, इसलिए वह धार्मिकता और नैतिकता, जो भय पर आधारित होती है, सत्य नही, मिथ्या है।

वह आरोपण है--आत्मशक्ति का आरोहण नहीं।

धर्म या प्रेम आरोपित नहीं किया जाता है। उसे तो जगाना होता है।

सत्य भय पर नही खड़ा होता है। वह सत्य के लिए आधार नही, विरोध ही है। उसकी आधार-शिला तो अभय है।

धर्म और प्रेम के फूल अभय की भूमि मे ही लगते है। और, भय मे जो लगा लिये जाते हैं, वे फूल नहीं, कागज के धोखे हैं।

ईश्वरानुभूति अभय मे ही उपलब्ध होती है। या कि ठीक हो, यदि कहें कि **अभय-चेतना ही ईश्वरानुभूति है।**

जिस क्षण समस्त भय-ग्रथियाँ चित्त से विसर्जित हो जाती हैं, उस क्षण जो होता है, वही सत्य-साक्षात् है।

सम्यक् जागरण से विसर्जन—काम, क्रोध का

दोपहर तप गयी है। पलाश के वृक्षों पर फूल अगारो की तरह चमक रहे हैं।
एक सुनसान रास्ते से गुजरता हूँ। बाँसों का घना झुरमुट है और उनकी छाया भली लगती है।

कोई अपरिचित चिड़िया गीत गाती है। उसके निमत्रण को मान वहीं रुक जाता हूँ।

एक व्यक्ति साथ है। पूछ रहे हैं . 'क्रोध को कैसे जीते, काम को कैसे जीते ?' यह बात तो अब रोज-रोज पूछी जाती है। इसके पूछने मे मी मूल है, यही उनसे कहता हूँ।

समस्या जीतने की है ही नहीं। समस्या मात्र जानने की है।

हम न क्रोध को जानते है और न काम को।

यह अज्ञान ही हमारी पराजय है।

जानना जीतना हो जाता है।

क्रोध होता है, काम होता है, तब हम नही होते है। होश नही होता है, इसलिए हम नही होते है।

इस मूर्च्छा मे जो होता है, वह बिलकुल यात्रिक है।

मूर्च्छा टूटते ही पछतावा आता है, पर वह व्यर्थ है ; क्योकि जो पछता रहा है, वह काम के पकडते ही पुन. मो जाने को है।

वह न सो पावे—अमूर्च्छा बनी रहे—जागृति—सम्यक्-स्मृति बनी रहे, तो पाया जाता है कि न क्रोध है , न काम है।

यात्रिकता टूट जाती है और फिर किमी को जीतना नही पडता है। दुश्मन पाये ही नही जाते हैं।

एक प्रतीक कथा से समझे। अंधेरे मे कोई रस्सी साँप दीखती है। कुछ उसे देखकर भागते हैं, कुछ लड़ने की तैयारी करते है। दोनो ही भूल में है, क्योकि दोनो ही उसे स्वीकार कर लेते है। कोई निकट जाता है और पाता है कि साँप है ही नही। उसे कुछ करना नही होता, केवल निकट भर जाना होता है।

मनुष्य को अपने निकट भर जाना है।

मनुष्य मे जो भी है, सवसे उसे परिचित होना है।

किसी से लडना नही है और मै कहता हूँ कि बिना लड़े ही विजय घर आ जाती है।

स्व-चित्त के प्रति सम्यक् जागरण ही जीवन-विजय का सूत्र है।

६ / साधना में बाधा—बहु छिद्रवान मन

रात्रि बीत गयी है, और खेतो में सुबह का सूरज फैल रहा है। एक छोटा-सा नाला अभी-अभी पार हुआ है। गाडी की आवाज सुन, चाँदनी के फूलो से सफेद बगुलों की एक पक्ति सूरज की ओर उड गयी है।

फिर कुछ हुआ है और गाडी रुक गयी है। इस निर्जन मे उसका रुकना भला लगा है।

मेरे अपरिचित सहयात्री भी उठ आये है। रात्रि किसी स्टेशन पर उनका आना हुआ था। शायद मुझे सन्यासी समझ कर प्रणाम किया है। कुछ पूछने की उत्सुकता उनकी आँखो मे है। आखिर वे बोल रहे है 'अगर कोई बाधा आपको न हो, तो मै एक बात पूछना चाहता हूँ। मै प्रभु मे उत्सुक हूँ। और उसे पाने का बहुत प्रयास किया है, पर कुछ परिणाम नही निकला। क्या प्रभु मुझ पर कृपालु नही है ?'

मैने कहा 'कल मै एक बगीचे मे गया था। कुछ साथी साथ थे। एक को प्यास लगी थी। उसने बालटी कुएँ मे डाली। कुआँ गहरा था। बालटी खीचने मे श्रम पडा, पर बालटी जब लौटी तो खाली थी। सब हँसने लगे।'

मुझे लगा **यह बालटी तो मनुष्य के मन जैसी है।**

उसमे छेद ही छेद थे। बालटी नाम मात्र को थी, बस, छेद ही छेद थे। पानी भरा था, पर सब बह गया।

ऐसा ही मन भी हमारा छेद ही छेद है।

इस छेद वाले मन को कितना ही प्रभु की ओर फेंको, वह खाली ही वापस लौट आता है।

मित्र, पहले बालटी ठीक कर ले, फिर पानी खीच लेना एकदम आसान है।

हाँ, छेद वाली बालटी से तपश्चर्या तो खूब होगी, पर तृप्ति नही।

और, स्मरण रहे कि **प्रभु न कृपालु है, न अकृपालु।**

बस, आपकी बालटी भर ठीक होनी चाहिए।

कुआँ तो हमेशा पानी देने को राजी है। उसकी ओर से कभी कोई इनकार नही है।

७ / स्वप्नों से मुक्ति में उपलब्धि है सत्य की

एक दिन नदी के किनारे खड़ा था : देखा, एक कागज की नाव पानी में डूब गयी है।

कल कुछ रेत के घरौंदे बच्चों ने बनाये थे, वे भी मिट गये हैं।

रोज नावें डूबती हैं और रोज घरौंदे टूट जाते हैं।

एक महिला आयी थी। सपने उनके पूरे नहीं हुए हैं। जीवन से मन उनका उचाट है। आत्महत्या के विचार ने उन्हें पकड़ लिया है। आँखें गड्ढों में धँस गयी हैं और सब व्यर्थ मालूम होता है।

मैंने कहा **सपने किसके पूरे होते हैं ?**

सब सपने अतत दुःख देते हैं।

कागज की नावें कहीं भी, तो कितनी दूर बह सकती हैं

इसमें भूल सपने की नहीं है, वे तो स्वभाव से ही दुष्पूर हैं।

मूल हमारी है।

जो सपना देखता है, वह सोया है।

जो सोया है, उसकी कोई उपलब्धि वास्तविक नहीं है।

जागते ही सब पाया, न पाया हो जाने को है।

सपने नहीं, सत्य देखें। जो है, उसे देखें। उसे देखने से मुक्ति आती है।

वही नाव सच्ची है—वही जीवन की परिपूर्णता तक ले जाती है।

स्वप्नो मे मृत्यु है। सत्य मे जीवन है।

स्वप्न यानी निद्रा। सत्य यानी जागृति।

जागें, और अपने को पहचानें।

जब तक स्वप्न मे मन है, तब तक **जो स्वप्न को देख रहा है,** वह नही दीखता है।

वही सत्य है। वही है। उसे पाने ही डूबी नावों और गिरे घरौंदों पर केवल हँसी आती है।

८ / असीम सत्ता और 'मैं' की गाँठ

एक सूफी गीत है :

प्रेयसी के द्वार पर किसी ने दस्तक दी। भीतर से आवाज आयी, 'कौन है ?' जो द्वार के बाहर खड़ा था, उसने कहा : 'मैं हूँ।' प्रत्युत्तर मे उसे सुनाई पड़ा : 'यह गृह 'मैं' और 'तू' दो को नहीं सभाल सकता है।'

और, बद द्वार बद ही रहा। प्रेमी वन मे चला गया। उसने तप किया, उपवास किये, प्रार्थनाएँ की। बहुत चाँदो के बाद वह लौटा और पुन. उसने वे ही द्वार खटखटाये। दुबारा वही प्रश्न : 'बाहर कौन है ?'

पर, इस बार द्वार खुल गये, क्योकि उसका उत्तर दूसरा था। उसने कहा : 'तू ही है।'

यह उत्तर कि 'तू ही है' समस्त धर्म का सार है।

जीवन के अनन्त-असीम प्रवाह पर 'मैं' की गाँठ ही बंधन है।

'मैं' व्यक्ति को सत्ता से तोड देता है।

'मैं' का बुदबुदा सत्ता-प्रवाह से अपने को भिन्न समझ बैठता है।

जब कि बुदबुदे की अपनी कोई सत्ता नही है। उसका कोई केंद्र और अपना जीवन नही है।

वह सागर ही है। सागर ही उसका जीवन है। सागर मे होकर उसका होना है।

सागर से पृथक् सत्ता का बोध ही अज्ञान है।

बुदबुदे के भीतर झाँको तो सागर मिल जाता है।

'मैं के भीतर झाँको तो ब्रह्म मिल जाता है।

'मैं' जहाँ नहीं है, वहाँ वस्तुतः 'तू' भी नहीं है।

वहाँ केवल 'होना' मात्र है। केवल अस्तित्व है, शुद्ध सत्ता है।

इस शुद्ध सत्ता मे जागना निर्वाण है।

९ / आलोक है भीतर

एक मिट्टी का दीया जल रहा था, वह भी बुझ गया है। हवा का एक झोंका आया और उसे ले गया। मिट्टी के दीयों का विश्वास भी क्या? और, उन ज्योतियों का साथ भी कितना, जिन्हें हवाएँ बुझा सकती है?

अंधेरे के सागर में डूब गये हैं। एक युवक बैठे हैं। अंधेरे से उन्हे बहुत भय लग रहा है। वे कह रहे हैं कि अंधेरे में उनके प्राण काँप जाते हैं और साँसे लेना भी मुश्किल हो जाता है।

मैं उनसे कह रहा हूँ कि जगत् में अंधेरा ही अंधेरा है और ऐसी कोई भी ज्योति जगत् के पास नहीं है कि अंधेरे को नष्ट कर दे।

जो भी ज्योतियाँ हैं, वे देर-अबेर स्वयं ही अंधेरे में डूब जाती हैं। वे आती हैं और चली जाती हैं, पर अंधेरा वहीं का वहीं बना रहता है।

जगत् का अंधकार तो शाश्वत है और उसकी ज्योतियों पर जो विश्वास करते हैं, वे नासमझ हैं; क्योंकि वे ज्योतियाँ वास्तविक नहीं हैं, और सब अंतत अंधेरे से पराजित हो जाती हैं।

पर, एक और लोक भी है।

जगत् से भिन्न एक और जगत् भी है।

जगत् अंधकार है, तो वह लोक प्रकाश ही प्रकाश है।

जगत् में प्रकाश क्षणिक और सामयिक है और अंधकार शाश्वत है, तो उस लोक में अंधकार क्षणिक और सामयिक है और आलोक शाश्वत है।

एक और भी आश्चर्य है कि अंधकार का लोक हमसे दूर और प्रकाश का लोक बहुत निकट है।

अंधकार बाहर है, आलोक भीतर है।

और, स्मरण रहे कि **जब तक अंतस् के आलोक में जागरण नहीं होता है, तब तक कोई ज्योति अभय नहीं दे सकती।**

मिट्टी के—मृण्मय दीयों पर विश्वास छोड़ो और **चिन्मय ज्योति को खोजो।**

इससे ही अभय और आनन्द, और वह आलोक मिलता है, जिसे कि कोई छीन नहीं सकता।

और, वही अपना है जो कि छीना न जा सके, और वही अपना है जो कि बाहर नहीं है।

आंख के बाहर अंधकार है, पर आंख के भीतर तो देखो कि वहां क्या है ?

यदि वहां भी अंधकार होता, तो अंधकार का बोध नहीं हो सकता था। **जो अंधकार को जानता है, वह अंधकार नहीं हो सकता है।**

और, जो आलोक की आकांक्षा करता है, वह कैसे अंधकार हो सकता है ?

वह आलोक है, इसलिए उसे आलोक की आकांक्षा है। वह आलोक है, इसलिए उसे आलोक की अभीप्सा है।

आलोक ही केवल आलोक के लिए प्यासा हो सकता है।

जहां से प्यास आती है, वहीं खोजो—उसी बिंदु को लक्ष्य बनाओ, तो पाओगे कि जिसकी प्यास है, वह वहीं छिपा हुआ है।

१० / नकार और स्वीकार का अतिक्रमण

मैं ईश्वर-भीरु नही हूँ। भय ईश्वर तक नही ले जाता है। उसे पाने की भूमिका अभय है।

मैं किसी अर्थ मे श्रद्धालु भी नही हूँ। श्रद्धा मात्र अंधी होती है। और अंधापन परम सत्य तक कैसे ले जा सकता है?

मैं किसी धर्म का अनुयायी भी नही हूँ। क्योकि, धर्म को विशेषणों में बाँटना संभव नही है। वह एक—और, अविभक्त है।

कल जब मैंने यह कहा, तो किसी ने पूछा : 'फिर क्या आप नास्तिक हैं?"

मैं न नास्तिक हूँ, न आस्तिक ही हूँ। वे भेद सतही और बौद्धिक हैं। सत्ता से उनका कोई संबध नही है।

सत्ता 'है' और न है', मे विभक्त नही है। भेद मन का है।

इसलिए, नास्तिकता और आस्तिकता दोनों मानसिक हैं। आत्मिक को वे नही पहुँच पाती हैं।

आत्मिक विधेय और नकार दोनों का अतिक्रमण कर जाता है।

'जो है', वह विधेय और नकार के अतीत है।

या फिर, वहाँ दोनो एक हैं और उनमे कोई भेद-रेखा नही है।

बुद्धि मे स्वीकार की गयी किसी भी धारणा की वहाँ कोई गति नही है।

वस्तुत आस्तिक को आस्तिकता छोड़नी होती है और नास्तिक को नास्तिकता तब कही वे सत्य मे प्रवेश कर पाते हैं।

वे दोनों ही बुद्धि के आग्रह हैं।

आग्रह आरोपण है।

सत्य कैसा है, यह निर्णय नहीं करना होता है, वरन् अपने को खोलते ही वह जैसा है, उसका दर्शन हो जाता है।

यह स्मरण रखे कि **सत्य का निर्णय नहीं, दर्शन करना होता है।**

जो सब बौद्धिक निर्णय छोड देता है, जो सब तार्किक धारणाएँ छोड देता है, जो समस्त मानसिक आग्रह और अनुमान छोड देता है, वह उस निर्दोष चित्त-स्थिति मे सत्य के प्रति अपने को खोल रहा है, जैसे फूल प्रकाश के प्रति अपने को खोलते हैं।

इसी खोलने मे दर्शन की घटना संभव होती है।

इसलिए, जो न आस्तिक है, न नास्तिक है, उसे मैं धार्मिक कहता हूँ। **धार्मिकता भेद से अभेद मे छलांग है।**

विचार जहाँ नही, निर्विचार है, विकल्प जहाँ नही, निर्विकल्प है, शब्द जहाँ नही, शून्य है—वहाँ धर्म मे प्रवेश है।

११ / 'स्व' या प्रभु की खोज—क्रियाविहीन, मार्गविहीन

रात्रि मे घूमने निकला था। गाँव का ऊबड़-खाबड़ रास्ता था। साथ एक साधु थे। बहुत उन्होंने यात्रा की थी। शायद ही कोई तीर्थ था, जहाँ वे नही हो आये थे। प्रभु को पाने का वे मार्ग खोज रहे थे।

उस रात्रि उन्होने मुझसे भी पूछा था: 'प्रभु को पाने का मार्ग क्या है?'

यह प्रश्न उन्होंने औरो से भी पूछा था। मार्ग भी धीरे-धीरे उन्हे बहुत ज्ञात हो गये थे। पर प्रभु से जो दूरी थी, वह उतनी ही बनी थी। ऐसा भी नही था कि इन मार्गों पर वे चले नही थे। यथाशक्ति प्रयास भी किया था। पर हाथ आया था: केवल चलना ही। पहुँचना नही हुआ था। पर अभी मार्गों से ऊबे नही थे और नये की तलाश जारी थी।

'जो मैं स्वयं हूँ, उसे पाने का कोई मार्ग नहीं है।'

मार्ग 'पर' को और दूर को पाने को होते हैं।

जो निकट है, निकट ही नही, जो मै ही हूँ—वह मार्ग से नहीं मिलता है।

मार्ग के योग्य वहाँ अतराल ही नही है।

फिर, पाना उसे होता है, जिसे खोया हो।

प्रभु को क्या खोया जा सकता है?

जो खोया जा सके, वह स्वरूप नही हो सकता है।

वह केवल विस्मृत है।

इसलिए, कही जाना नही है। केवल स्मरण करना है।

कुछ करना नहीं है। केवल जानना है।

और, जानना ही पहुँचना है।

जानना है कि यह मै कौन हूँ। और यह ज्ञान ही प्रभु की उपलब्धि है।

एक दिन जब सारे प्रयास व्यर्थ हो जाते है, और कोई भी मार्ग कही ले जाता प्रतीत नही होता है, तब दीखता है कि जो भी मै कर सकता हूँ, वह सत्य तक नही ले जायेगा।

कोई क्रिया 'मै' के रहस्य को नहीं खोलेगी, क्योंकि क्रियामात्र बाहर ले जाती है।

कोई क्रिया सत्ता तक नहा लाती है।

जहाँ क्रिया का अभाव है, वहाँ सत्ता प्रकट होती है।

कोई क्रिया उसे नही देगी, क्योंकि वह क्रियाओं के भी पूर्व है।

कोई मार्ग 'वहाँ' के लिए नहीं है, क्योंकि वह तो 'यहाँ' है।

१२ / केवल शांति की सद्भावना से ही शांति की उपलब्धि

एक संध्या की बात है। गेलीली झील पर तूफान आया हुआ था। एक नौका डूबती-डूबती हो रही थी। बचाव का कोई उपाय नही दीखता था। यात्री और माँझी घबड़ा गये थे। आँधियो के थपेडे प्राणो को हिला रहे थे। पानी की लहरें भीतर आना शुरू हो गयी थी। और किनारे पहुँच से बहुत दूर थे। पर इस गरजते तूफान मे भी नौका के एक कोने मे एक व्यक्ति सोया हुआ था—शात और निश्चित। उसके साथियों ने उसे उठाया। सबकी आँखो मे आसन्न मृत्यु की छाया थी।

उस व्यक्ति ने उठ कर पूछा "इतने भयभीत क्यों हो?" जैसे भय की कोई बात ही न थी! उसके साथी अवाक् रह गये। उनसे कुछ कहते भी तो नही बना। उसने पुन: पूछा "क्या अपने आप पर बिलकुल भी आस्था नही है?" इतना कहकर वह शाति और धीरज से उठा और नाव के एक किनारे पर गया। तूफान आखिरी चोटे कर रहा था। उसने उस विक्षुब्ध हो गयी झील से जाकर कहा,

"शाति, शात हो जाओ।" (Peace, be still.)

तूफान जैसे कोई नटखट बच्चा था। ऐसे ही उसने कहा था "शात हो जाओ।"

यात्री समझे होगे कि यह क्या पागलपन है! तूफान क्या किसी की मानेगा? लेकिन उनकी आंखों के सामने ही तूफान सो गया था और झील ऐसी शात हो गयी कि जैसे कुछ हुआ ही नहीं।

उस व्यक्ति की बात मान ली गयी थी।

वह व्यक्ति था—जीसस क्राइस्ट। और यह बात है दो हजार वर्ष पुरानी। पर मुझे यह घटना रोज ही घटती मालूम होती है।

क्या हम सभी निरतर एक तूफान—एक अशाति से नही घिरे हुए है?

क्या हमारी आंखो मे भी निरतर आसन्न मृत्यु की छाया नही है?

क्या हमारे भीतर चित्त की झील विक्षुब्ध नही है?

क्या हमारी जीवन-नौका भी प्रतिक्षण डूबती-डूबती मालूम नही होती है?

तब, क्या यह उचित नही है कि हम अपने से पूछे 'इतने भयभीत क्यो हो? क्या अपने आप पर बिलकुल भी आस्था नही है?"

और फिर, अपने भीतर झील पर जाकर कहे: "शाति, शात हो जाओ।"

मैने यह कहकर देखा है और पाया है कि तूफान सो जाता है।

केवल शांत होने के भाव करने की ही बात है और शांति आ जाती है।

अपने भाव से प्रत्येक अशांत है। अपने भाव से शांत भी हो सकता है।
शांति उपलब्ध करना अभ्यास की बात नहीं है। केवल सद्भाव ही पर्याप्त है।
शांति तो हमारा स्वरूप है।
घनी अशांति के बीच भी एक केंद्र पर हम शांत है।
एक व्यक्ति यहां तूफान के बीच भी निश्चित सोया हुआ है।
इस शांत, निश्चल केंद्र पर ही हमारा वास्तविक होना है।
उसके होते हुए भी हम अशांत हो सके है, यही आश्चर्य है।
उसे वापस पा लेने मे तो कोई आश्चर्य नही है।
शांत होना चाहते हो, तो इसी क्षण, अभी और यहीं शांत हो सकते हो।
अभ्यास भविष्य मे फल लाता है, सद्भाव वर्तमान में ही।
सद्भाव अकेला वास्तविक परिवर्तन है।

१३ / 'मैं कौन हूँ ?' की उद्घाटन प्रक्रिया

'मैं कौन हूँ ?' यह अपने आप से पूछता था।

कितने दिवस-रात्रि यह पूछते बीते, अब उनकी कोई गणना भी तो संभव नही है।

बुद्धि उत्तर देती थी, सुने हुए—सस्कारजन्य। वे सब उत्तर, उधार और मृत थे।

उनसे तृप्ति नही होती थी। सतह पर कही गूँजकर वे विलीन हो जाते थे। अतरात्मा उनसे अछूती रह जाती थी। गहराई मे उनकी कोई ध्वनि नही सुनायी पडती थी।

उत्तर बहुत थे, पर उत्तर नही था।

और, मैं उनसे अस्पर्शित रह जाता था। प्रश्न जहाँ पर था, वहाँ उनकी पहुँच नही थी।

फिर यह दीखा कि प्रश्न कही केद्र पर था उत्तर परिधि पर थे।

प्रश्न अपना था, उत्तर पराये थे। प्रश्न अतस् मे जागा था, समाधान बाहर मे अरोपित था।

और, यह दीखना तो क्रांति बन गया।

एक नयी दिशा उद्घाटित हो गयी।

बुद्धि के समाधान व्यर्थ हो गये। समस्या से उनकी कोई सगति नही थी।

एक भ्रम भग्न हो गया था। और कितनी मुक्ति मालूम हुई थी !

जैसे बद द्वार खुल गया हो या फिर अचानक अधेरे मे प्रकाश हो गया हो, ऐसा मालूम हुआ था।

बुद्धि उत्तर देती थी, यही भूल थी।

उन तथाकथित उत्तरों के कारण वास्तविक उत्तर ऊपर नहीं आ पाता था।

कोई सत्य ऊपर आने को तडप रहा था।

चेतना की गहराइयो मे कोई बीज भूमि को तोडकर प्रकाश के दर्शन के लिए मार्ग खोज रहा था।

बुद्धि बाधा थी।

यह दीखा, तो उत्तर गिरने लगा। बाहर से आया ज्ञान वाष्प होने लगा। प्रश्न और गहरा हो गया।

कुछ किया नही, केवल देखता रहा—देखता रहा।

कुछ अभिनव घटित हो रहा था। मै तो अवाक् था। करने को था ही क्या, मैं जैसे, बस, दर्शक ही था।

परिधि की प्रतिक्रियाएँ झड रही थी, मिट रही थी, न हो रही थी। और केंद्र अब पूरी तरह झकृत हो उठा था।

'मै कौन हूँ'—एक ही प्यास से समग्र व्यक्तित्व स्पदित हो उठा था।

कैसी आँधी थी वह कि साँस-साँस उसमे कपित हो गयी थी।

'कौन हूँ मै ?'—एक तीर की भाँति प्रश्न सब-कुछ चीरता भीतर चल रहा था।

स्मरण करता हूँ, कितनी तीव्र प्यास थी!

सारे प्राण ही तो प्यास मे बदल गये थे।

सब कुछ जल रहा था।

और, एक अग्नि-शिखा की भाँति प्रश्न भीतर खड़ा था. 'कौन हूँ मै ?'

और, आश्चर्य कि बुद्धि बिलकुल चुप थी। निरंतर बहने वाले विचार नही थे।

यह क्या हुआ था कि परिधि नितात निस्पद थी! कोई विचार नही था। कोई संस्कार नही था।

मै था और प्रश्न था। नहीं, नहीं; मं ही प्रश्न था।

और, फिर विस्फोट हो गया। एक क्षण मे सब परिवर्तित हो गया।

प्रश्न गिर गया था।

किसी अज्ञात आयाम से समाधान आ गया था।

सत्य क्रम से नही, विस्फोट मे उपलब्ध होता है।

उसे लाया नही जाता है। सत्य आता है।

शब्द नहीं, शून्य समाधान है। निरुत्तर हो जाने में उत्तर है।

कल कोई पूछता था, और रोज कही कोई पूछता है. 'वह उत्तर क्या है ?' मैं कहता हूँ: 'उसे मै कहूँ तो वह अर्थहीन है, उसका अर्थ उसे स्वय पाने मे है।'

१४ / द्रष्टा का जागरण

मैं उपदेशक नही हूँ। कोई उपदेश, कोई शिक्षा मैं नही देना चाहता। अपना कोई विचार तुम्हारे मन मे डालने की मेरी कोई आकाक्षा नही है।

सब विचार व्यर्थ हैं और धूलिकणो की भाँति वे तुम्हें आच्छादित कर लेते हैं। और, फिर तुम जो नही हो, वैसे दिखायी पडने लगते हो।

और, जो तुम नही जानते हो, वह ज्ञात-सा मालूम होने लगता है।

यह बहुत आत्मघातक है।

विचारो से अज्ञान मिटता नही, केवल छिप जाता है।

ज्ञान को जगाने के लिए अज्ञान को उसकी पूरी नग्नता मे जानना जरूरी है।

इसलिए, विचारों के वस्त्रो मे अपने को मत ढाँको।

समस्त वस्त्रो और आवरणो को अलग कर दो, ताकि तुम अपनी नग्नता और रिक्तता से परिचित हो सको।

वह परिचय ही तुम्हे अज्ञान के पार ले जानेवाला सेतु बनेगा।

अज्ञान के बोध का तीव्र संताप ही क्रांति का बिंदु है।

इससे मैं तुम्हे ढांकना नही, उघाडना चाहता हूँ।

जरा देखो तुमने कितनी अंधी श्रद्धाओ और धारणाओ और कल्पनाओ मे अपने को छिपा लिया है!

और, इन मिथ्या सुरक्षाओ मे तुम अपने को सुरक्षित समझ रहे हो।

यह सुरक्षा नही, आत्मवचना है।

मैं तुम्हारी इस निद्रा को तोड़ना चाहता हूं।

स्वप्न नहीं, केवल सत्य ही एकमात्र सुरक्षा है।

और, तुम यदि स्वप्नो को छोडने का साहस करो, तो सत्य को पाने के अधिकारी हो जाते हो।

कितना सस्ता सौदा है!

सत्य को पाने को और कुछ नही, केवल स्वप्न ही छोडने पडते है।

विचारो की, स्वप्नो की, कल्पना-चित्रो की मूर्च्छा को तोडना है।

उससे, जो कि दीख रहा है, उस पर जागना है, जो कि देख रहा है।

'वह द्रष्टा ही सत्य है, उसे पा लो, तो समझो कि जीवन पा लिया।'

यह किसी से कह रहा था। वे सुनकर विचारमग्न हो गये। मैंने उनसे कहा. 'आप तो सोच मे पड़ गये। उसी से तो मैं जागने को कह रहा हूँ। वही तो निद्रा है।'

१५ / योग अर्थात् द्रष्टा में प्रवेश

एक बैलगाड़ी निकलती है। उसके चाक को देखता हूँ। धुरी पर चाक घूमते हैं। जो स्वय स्थिर है, उस पर चाको का घूमना है।

गति के पीछे स्थिर बैठा हुआ है। क्रिया के पीछे अक्रिया है।

सत्ता के **पीछे** शून्य का वास है।

ऐसे ही एक दिन देखा धूल का एक बवडर। धूल का गुब्बारा चक्कर खाता हुआ ऊपर उठ रहा था, पर बीच मे एक केंद्र था, जहाँ सब शांत और स्थिर था।

क्या जगत् का मूल सत्य इन प्रतीको मे प्रकट नही है ?

क्या समस्त सत्ता के पीछे शून्य नही बैठा हुआ है ?

क्या समस्त क्रिया के पीछे अक्रिया नही है ?

शून्य ही सत्ता का केंद्र और प्राण है। उसे ही जानना है। उसमे ही होना है, क्योकि वही हमारा वास्तविक होना है।

जो प्रत्येक अपने केंद्र पर है, वही प्रत्येक को होना है।

कहीं और नहीं, जो हम हैं, वहीं हमें चलना है।

यह होना कैसे हो ?

उसे देखो—जो 'देखता है' और शून्य में उतरना हो जाता है।

'दृश्य' से 'द्रष्टा' की ओर चलना है।

दृश्य है—रूप, क्रिया, सत्ता।

द्रष्टा है—अरूप, अक्रिया, शून्य।

'दृश्य' है—पर—अनित्य, ससार, बधन, अमुक्ति, आवागमन।

'द्रष्टा' है—स्व—नित्य, ब्रह्म, मुक्ति, मोक्ष, निर्वाण।

देखो—जो देखता है, उसे देखो।

यही समस्त योग है।

यही रोज कह रहा हूँ या जो भी कह रहा हूँ, उसमे यही है।

१६ / सत्य के आयाम का उद्घाटन

ज्ञान के लिए पिपासा है। कितनी प्यास है प्रत्येक में, उसे मैं देखता हूँ।
कुछ भीतर प्रज्वलित है, जो शांत होना चाहता है।
और, मनुष्य कितनी दिशाओं में खोजता है !
शायद अनन्त जन्मों से उसकी यह खोज चलती है।

किसी स्वर्णमृग को खोजता, उसका चित्त भटकता ही रहता है। पर हर चरण पर निराशा के अतिरिक्त और कुछ भी हाथ नहीं आता है।

कोई रास्ता पहुँचता हुआ नहीं प्रतीत होता है।
गति होती है। पर गंतव्य आता हुआ नहीं दीखता है।
क्या रास्ते कहीं भी नहीं ले जाते हैं ?
इस प्रश्न का उत्तर नहीं देना है। **जीवन स्वयं उत्तर है।**
क्या अनन्त मार्गों और दिशाओं में चलकर उत्तर नहीं मिल गया है ?
क्या सच ही उत्तर नहीं मिल गया है ?
बौद्धिक उत्तर खोजने में, उसके धुएँ में, वास्तविक उत्तर खो जाता है।
बुद्धि चुप हो, तो अनुभूति बोलती है।
विचार मौन हों, तो विवेक जागृत होता है।
वस्तुत, जीवन के आधारभूत प्रश्नों के उत्तर नहीं होते हैं।
समस्याएँ हल नहीं होतीं, गिर जाती हैं। केवल पूछने और शून्य हो जाने की बात है।

बुद्धि केवल पूछ सकती है। समाधान उससे नहीं, शून्य से आता है।
'समाधान शून्य से आता है', इस सत्य को जानते ही एक नये आयाम पर जीवन का उद्घाटन प्रारम्भ हो जाता है।

चित्त की इस स्थिति का नाम समाधि है।
पूछें और चुप हो जावें—बिलकुल चुप।
और, समाधान को आने दें, उसे फलने दें।
और, चित्त की इस निस्तरंग स्थिति में दर्शन होता है, उसका—जो है—जो मैं हूँ।

स्वयं को जाने बिना ज्ञान की प्यास नहीं बुझती है।
सब मार्ग छोड़कर स्वयं पर पहुँचना होता है।

चित्त जब किसी मार्ग पर नही है, तब स्वय मे है।

और, स्वय को जानना ज्ञान है। शेष सब जानकारी है, क्योकि परोक्ष है।

विज्ञान ज्ञान नही है। वह सत्य को नही, केवल उपयोगिता को जानना है।

सत्य केवल अपरोक्ष ही जाना जा सकता है।

और, ऐसी सत्ता केवल स्वय की ही है, जो कि अपरोक्ष जानी जा सकती है।

चित्त जिस क्षण खोज की व्यर्थता को जानकर चुप और थिर रह जाता है, उसी क्षण अनन्त के द्वार खुल आते है।

दिशा-शून्य चेतना प्रभु में विराजमान हो जाती है।

और, ज्ञान की प्यास का अत केवल प्रभु मे ही है।

१७ / प्रभु की पुकार सुनें

अर्ध रात्रि बीत गयी है। एक सभा से लौटा हूँ। वहाँ कोई कह रहे थे : 'प्रभु को पुकारो। उसका नाम स्मरण करो। निरतर बुलाने से वह अवश्य सुनता है।'

मुझे याद आया, कबीर ने कहा है. 'क्या ईश्वर बहरा हो गया है?'

शायद, कबीर के शब्द उन तक नही पहुँचे है।

फिर, उन्हे कहते सुना. 'दस आदमी सो रहे है। किसी ने पुकारा : 'देवदत्त।' तो देवदत्त उठ आता है। ऐसा ही प्रभु के सबध मे भी है। उसका नाम पुकारो, वह अवश्य सुनता है।'

उनकी बाते सुन मुझे हँसी आने लगी थी।

प्रथम तो यह कि **प्रभु नहीं, हम सो रहे है।**

वह तो नित्य जाग्रत है। उसे नही, वरन् हमे जागना है।

फिर, सोये हुए जाग्रत को जगावे, तो बडे मजे की बात है!

उसे पुकारना नही, उसकी ही पुकार हमे सुननी है।

यह मौन मे होगा—परिपूर्ण निस्तरग चित्त में होगा।

जब चित्त में कोई ध्वनि नही है, तब उसका नाद उपलब्ध होता है।

पूर्ण मौन ही एकमात्र प्रार्थना है।

प्रार्थना कुछ करना नही है, वरन् जब चित्त कुछ भी नही कर रहा, तब वह प्रार्थना में है।

प्रार्थना क्रिया नहीं, अवस्था है।

द्वितीय, प्रभु का कोई नाम नही है। न उसका कोई रूप है।

इसलिए, उसे बुलाने और स्मरण करने का कोई उपाय भी नही है।

सब नाम, सब रूप कल्पित है। वे सब मिथ्या है। उनसे नही, उन्हे छोडकर सत्य तक पहुँचना होता है।

जो सब छोडने का साहस करता है, वह उसे पाने की शर्त पूरी करता है।

१८/ अपने को मिटा देने का साहस चाहिए

मैंने सुना है :

एक फकीर भीख माँगने निकला था। वह बूढ़ा हो गया था और आँख से उसे कम दीखता था। उसने एक मस्जिद के सामने आवाज लगायी थी। किसी ने उससे कहा : 'आगे बढ़। यह ऐसे आदमी का मकान नही है, जो तुझे कुछ दे सके।'

फकीर ने कहा : 'आखिर इस मकान का मालिक कौन है, जो किसी को कुछ नही देता ?' वह आदमी बोला : 'पागल, तुझे यह भी पता नही कि यह मस्जिद है ! इस घर का मालिक स्वयं परमपिता परमात्मा है।'

फकीर ने सिर उठाकर मस्जिद पर एक नजर डाली और उसका हृदय एक जलती हुई प्यास से भर गया। कोई उसके भीतर बोला : 'अफसोस, असंभव है इस दरवाजे से आगे बढ़ना। आखिरी दरवाजा आ गया। इसके आगे और दरवाजा कहाँ है ?'

उसके भीतर एक संकल्प घना हो गया। अडिग चट्टान की भाँति उसके हृदय ने कहा : 'यहाँ से खाली हाथ नही लौटूँगा। जो यहाँ से खाली हाथ लौट गये, उनके भरे हाथों का क्या मूल्य है ?'

वह उन्ही सीढ़ियों के पास रुक गया। उसने अपने खाली हाथों को आकाश की तरफ फैला दिया। वह प्यासा था—और प्यास ही प्रार्थना है।

दिन आये और गये। माह आये और गये। ग्रीष्म बीती, वर्षा बीती, सर्दियाँ भी बीत चली। एक वर्ष पूरा हो रहा था। उस बूढ़े के जीवन की मियाद भी पूरी हो गयी थी। पर अंतिम क्षणों में लोगों ने उसे नाचते देखा था।

उसकी आँखें एक अलौकिक दीप्ति से भर गयी थी। उसके वृद्ध शरीर से प्रकाश झर रहा था।

उसने मरने से पूर्व एक व्यक्ति से कहा था : 'जो माँगता है, उसे मिल जाता है। केवल अपने को समर्पित करने का साहस चाहिए।

अपने को **समर्पित करने** का साहस।

अपने को **मिटा** देने का साहस।

शून्य होने का साहस।

जो मिटने को राजी है, वह पूरा हो जाता है।

जो मरने को राजी है, वह जीवन को पा लेता है।

१९/मौन और शून्य चेतना

एक प्रभात गौतम बुद्ध बोलने को थे। पर इसके पहले कि वे अपना मौन तोड़ते, विहार के द्वार पर एक विहंग गीत गाने लगा था।

उस शांत, उस निस्तब्ध प्रभात मे फिर वे चुप ही रहे। सूर्य अपनी किरणो का जाल बुनता रहा और वह पक्षी गीत गाता रहा।

बुद्ध चुप थे, तो सभी चुप थे। और उस मौन मे, उस शून्य मे वह गीत दिव्य हो गया था।

गीत पूरा हुआ, तो शून्य और गहरा हो गया था। बुद्ध फिर उठ गये।

उस दिन वे कुछ भी नही बोले।

उस दिन, बस, यह मौन प्रवचन ही हुआ था।

और, इस मौन से उन्होने जो कहा, वह किसी शब्द से कभी नही कहा गया है।

इस जगत् में और इस जीवन मे जो भी है, सब दिव्य है, सब भागवत है। सब मे विराट् की छाप और छाया है। वही सब मे प्रच्छन्न है। वही सब मे प्रकट है। उसका ही रूप है, उसकी ही ध्वनि है।

पर, हम चुप नही है, इसलिए उसे नही सुन पाते हैं।

और, हमारी आँखे खुली नही हैं, इसलिए उसका दर्शन नही होता है।

हम अनिशय हैं, इसलिए 'वह' नही हो पाता है।

हम खाली हो, तो वह अभी और यही है।

सत्य है, पर स्व मूर्च्छा मे है, जैसे प्रकाश हो, पर आँख बद हो। और फिर स्व को तो नही जगाते है, सत्य की खोज करते है! आँख तो नही खोलते है, और प्रकाश का अनुसधान करते है!

इस भूल मे कभी मत पडना।

सब खोज छोडो और चुप हो जाओ।

चित्त को चुप कर लो और सुनो।

आँखें खुली कर लो और देखो।

जैसे पानी की मछली मुझसे पूछे कि उसे सागर खोजना है, तो उससे मैं क्या कहूँगा? मैं उससे कहूँगा खोज छोडो और देखो कि तुम सागर मे ही हो।

प्रत्येक सागर मे है। सागर को पाना नही, पीना शुरू करना है।

२० / स्व-स्मृति का जागरण

एक मदिर पड़ोस मे है। रात्रि वहाँ रोज ही भजन-कीर्तन होते हैं। धूप की तीव्र गध उसके बंद प्रकोष्ठ मे भर जाती है। फिर आरती-वंदन होता है। वाद्य बजते हैं। घटो का निनाद होता है। और ढोल भी बजते हैं। फिर, पुजारी नृत्य करता है। और क्रमश. भक्तगण भी नाचने लगते हैं।

यह देखने एक दिन मदिर के भीतर गया था। जो देखा, वह पूजा नही, मूर्च्छा थी। वह प्रार्थना के नाम पर आत्मविस्मरण था।

अपने को भूलना दु.ख-विस्मरण देता है। जो नशा करता है, वही काम धर्म के ऐसे रूप भी कर देते हैं।

जीवन-संताप को कौन नहीं भूलना चाहता है ?

मादक द्रव्य इसीलिए खोजे जाते हैं।

मादक क्रिया-कांड भी इसीलिए खोजे जाते हैं।

मनुष्य ने बहुत तरह की शराबें बनायी हैं। और, सबमे खतरनाक शराबे वे है, जो कि बोतलो मे बद नही होती हैं।

दु ख-विस्मरण मे दुःख मिटता नही है।

उसके बीज ऐसे नष्ट नही होते, विपरीत, उसकी जड़े और मजबूत होती जाती हैं।

दु ख को भूलना नही, मिटाना होता है।

उसे भूलना धर्म नही, वचना है।

दुःख-विस्मरण का उपाय जैसे स्व-विस्मरण है, वैसे ही दु ख-विनाश का उपाय स्व-स्मरण है।

धर्म वह है, जो स्व को परिपूर्ण जाग्रत करता है। धर्म के शेष सब रूप मिथ्या हैं।

स्व-स्मृति पथ है, स्व-विस्मृति विपथ है।

और, यह भी स्मरण रहे कि स्व-विस्मृति मे स्व मिटता नही है। उसकी प्रच्छन्न धारा प्रवाहित ही रहती है।

स्व-स्मृति से ही स्व विसर्जित होता है।

जो स्व को परिपूर्ण जानता है, वह स्व के विसर्जन को उपलब्ध हो, सर्व को पा लेता है।

स्व के विस्मरण से नही, स्व के विसर्जन से सर्व की राह है।

प्रभु के स्मरण से स्व को भुलाना भूल है।

स्व के बोध से स्व को मिटाना मार्ग है।

और, जब स्व नहीं रह जाता है, तब जो शेष रह जाता है, वही प्रभु है।

प्रभु स्व के विस्मरण मे नही, विसर्जन से उपलब्ध होता है।

२१/ आत्म-ज्योति

साँझ से ही आँधी-पानी है। हवाओं के थपेड़ो ने बड़े वृक्षो को हिला डाला है। बिजली बंद हो गयी है और नगर मे अँधेरा है।

घर मे एक दीपक जलाया गया है।

उसकी लौ ऊपर की ओर उठ रही है। दीया भूमि का भाग है, पर **लौ न मालूम किसे पाने निरंतर ऊपर की ओर भागती रहती है ?**

इस लौ कि भाँति ही मनुष्य की चेतना भी है।

शरीर भूमि पर तृप्त है, पर मनुष्य मे शरीर के अतिरिक्त भी कुछ है, जो निरंतर भूमि से ऊपर उठना चाहता है।

यह चेतना ही, यह अग्नि-शिखा ही मनुष्य का प्राण है।

यह निरतर ऊपर उठने की उत्सुकता ही उसकी आत्मा है।

यह लौ है, इसलिए मनुष्य मनुष्य है, अन्यथा सब मिट्टी है।

यह लौ पूरी तरह जले, तो जीवन में क्रांति घटित हो जाती है।

यह लौ पूरी तरह दिखायी देने लगे, तो मिट्टी के बीच ही मिट्टी को पार कर लिया जाता है।

मनुष्य एक दीया है।

मिट्टी भी है उसमें, पर ज्योति भी है।

मिट्टी पर ही ध्यान रहा, तो जीवन व्यर्थ हो जाता है।

ज्योति पर ध्यान जाना चाहिए।

ज्योति पर ध्यान जाते ही सब कुछ परिवर्तित हो जाता है।

क्योंकि, तब मिट्टी मे ही प्रभु के दर्शन हो जाते हैं।

२२ / अतिक्रमण बिंदु—ठीक मध्य में जीना

सुबह जा चुकी है। धूप गर्म हो रही है और मन छाया मे चलने को है।

एक वृद्ध अध्यापक आये हैं। वर्षों से साधना में लगे हैं। तन सूखकर हड्डी-हड्डी हो गया है और आँखें धूमिल हो गयी हैं। और गड्ढों मे खो गयी हैं। लगता है कि अपने को बहुत सताया है और उस आत्मपीडन को ही साधना समझा है।

प्रभु के मार्ग पर चलने को जो उत्सुक होते हैं, उनमें अधिक का जीवन इसी भूल से विषाक्त हो जाता है।

प्रभु को पाना—ससार के निषेध का रूप ले लेता है। और आत्मा की साधना—शरीर को नष्ट करने का।

यह नकार-दृष्टि उन्हे नष्ट कर देती है और उन्हे खयाल भी नही आ पाता है कि पदार्थ का विरोध परमात्मा के साक्षात् का पर्यायवाची नहीं है।

सच तो यह है कि देह के उत्पीड़क देहवादी ही होते हैं।

और, ससार के विरोधी, बहुत सूक्ष्म रूप से ससार मे ही ग्रसित होते हैं।

संसार के प्रति भोग-दृष्टि जितना संसार मे बाँधती है, विरोध-दृष्टि उससे कम नहीं, ज्यादा ही बाँधती है।

संसार और शरीर का विरोध नही, अतिक्रमण करना साधना है।

और, वह दिशा न भोग की है और न दमन की है। वह दिशा दोनों से भिन्न है।

वह तीसरी दिशा है। वह दिशा सयम की है।

दो बिंदुओ के बीच मध्य बिंदु खोज लेना संयम है।

पूर्ण मध्य मे जो है, वह अतिक्रमण है।

वह कहने को ही मध्य मे है, वस्तुत वह दोनो के अतीत है।

भोग और दमन के जो पूर्ण मध्य मे है, वह कुछ भोग और कुछ दमन नही है।

वह न भोग है और न दमन है। वह समझौता नहीं सयम है।

अति असयम है, मध्य सयम है।

अति विनाश है, मध्य जीवन है।

जो अति को पकडता है, वह नष्ट हो जाता है।

भोग और दमन दोनो जीवन को नष्ट कर देते हैं।

अति ही अज्ञान है, और अहकार है, और मृत्यु है।

मैं सयम और सगीत को साधना कहता हूँ।

वीणा के तार जब न ढीले होते हैं, और न कसे ही होते हैं, तब संगीत पैदा होता है

बहुत ढीले तार भी व्यर्थ हैं और बहुत कसे तार भी व्यर्थ हैं।

पर तारो की एक ऐसी भी स्थिति होती है, जब वे न कसे कहे जा सकते हैं, न ढीले कहे जा सकते हैं।

वह बिंदु ही उनमें संगीत के जन्म का बिंदु बनता है।

जीवन में भी वही बिंदु संयम का है।

जो नियम संगीत का है, वही संयम का है।

सयम से सत्य मिलता है।

संयम की यह बात उनसे कही है और लगता है कि जैसे उसे उन्होने सुना है। उनकी आँखे गवाही हैं। जैसे कोई सांकर उठा हो, ऐसा उनकी आँखो मे भाव है। वे शात और स्वस्थ प्रतीत हो रहे हैं। कोई तनाव जैसे शिथिल हो गया है और कोई दर्शन उपलब्ध हुआ है।

मैने जाते समय उनसे कहा है 'सब तनाव छोड़ दे और फिर देखें। भोग छोड़ा है, दमन भी छोड़ दे। छोडकर---सब छोड़कर देखे---सहज होकर देखें---**सहजता ही स्वस्थ करती है---स्वभाव में ले जाती है।**

उन्होने उत्तर मे कहा 'छोडने को अब क्या रहा ? छूट ही गया। मै शात और निर्भार होकर जा रहा हूँ। एक दु ख-स्वप्न जैसे टूट गया है। मै बहुत उपकृत हूँ।' और उनकी आँखे बहुत सरल और शात हो गयी है और उनकी मुस्कराहट बहुत भली लग रही है। वे वृद्ध हैं, पर बिल्कुल बालक लग रहे है।

काश, यह उन सभी को दीख सके, जो प्रभु मे उत्सुक होते हैं।

२३./मन को देखना

सत्य को पाना है, तो मन को छोड़ दो।

मन के न-होते ही सत्य आविष्कृत हो जाता है।

वैसे ही, जैसे किसी ने द्वार खोल दिये हों, और सूर्य का प्रकाश भीतर आ गया हो।

सत्य के आगमन को मन दीवार की भाँति रोके हुए है।

मन की इस दीवार की ईंटें विचारों से बनी हैं।

विचार, विचार और विचार—विचारों की यह श्रृंखला ही मन है।

रमण ने किसी से कहा था . **'विचारों को रोक दो और फिर मुझे बताओ कि मन कहाँ है ?"**

विचार जहाँ नहीं है, वहाँ मन नहीं है। ईंटें न हों, तो दीवार कैसे होगी ?

एक साधु रात्रि आये थे। पूछते थे . 'मन के साथ क्या करूँ ?

मैंने कहा · 'कुछ भी न करो। मन को छोड़ दो और देखो। उसे बिलकुल छोड़ दो और बस, देखते रहो।

जैसे कोई नदी के किनारे बैठकर जल-प्रवाह को देखता है। ऐसे ही विचार-प्रवाह को देखो—अलिप्त और असंग।

देखते रहो—देखते रहो।

उस देखने के आघात से विचार शून्य हो जाते हैं और मन नहीं पाया जाता है।

और, मन के हटते ही उसके रिक्त स्थान में जिसका अनुभव होता है, वही आत्मा है। वही सत्य है, क्योंकि वही सत्ता है।'

२४ / मूर्ति-विसर्जन

एक सर्द और अँधेरी रात्रि में एक साधु किसी मंदिर मे ठहरा था। उसने सर्दी दूर करने को भगवान् की एक काष्ठ मूर्ति जला ली। आग जली देख पुजारी जाग गया। मूर्ति को जलते देख वह अवाक् रह गया। वह क्रोध मे कुछ बोल भी न सका—वह कृत्य ऐसा ही असोचनीय था।

और, तभी उसने देखा : साधु जली राख के ढेर में से कुछ खोज रहा है। उसने पूछा. 'यह क्या कर रहे हो?' साधु ने कहा 'भगवान् की देह की अस्थियाँ खोजता हूँ!'

अब पुजारी के समक्ष उस साधु का पागलपन पूरी तरह स्पष्ट हो गया था। उसने साधु से कहा. 'पागल, लकड़ी मे अस्थियाँ कहाँ रखी हैं?' वह साधु बोला. 'तब एक मूर्ति और लाने की कृपा करो, रात बहुत सर्द है और बहुत लम्बी भी है।'

मैं इस कथा को सोचता हूँ और लगता है कि वह पागल साधु मैं ही हूँ।

मैं चाहता हूँ कि हम मूर्तियो से मुक्त हो सके, ताकि जो अमूर्त है, उसके दर्शन सम्भव हों।

रूप पर जो रुका है, वह अरूप पर नहीं पहुँच पाता है।

और, आकार जिसकी दृष्टि मे है, वह निराकार सागर मे कैसे कूदेगा?

और, वह जो दूसरे की पूजा में है, वह अपने पर आ सके, यह कैसे संभव है?

मूर्त को अग्नि दो, ताकि अमूर्त ही अनुभूति मे शेष रहे।

और, आकार की बदलियो को विसर्जित होने दो, ताकि निराकार आकाश उपलब्ध हो।

और, रूप को बहने दो, ताकि नौका अरूप के सागर मे पहुँचे।

जो सीमा के तट से अपनी नौका छोड़ देता है, वह अवश्य ही असीम को पहुँचता और असीम हो जाता है।

२५ / प्रार्थना और ध्यान : शुद्ध 'है' की समग्रता

'प्रार्थना क्या है ?

आत्म-विस्मरण !

नही, प्रार्थना आत्म-विस्मरण नही है ।

वह— जिसमे भूलना, डूबना और खोना है—मादकता का ही एक रूप है ।

वह उपाय प्रार्थना नही, पलायन है ।

शब्द मे, सगीत मे खोया जा सकता है ।

ध्वनि-सम्मोहन मे, नृत्य मे 'जो है' उसका विस्मरण हो सकता है ।

यह विस्मरण और बेहोशी सुखद भी मालूम हो सकती है, पर यह प्रार्थना नही है ।

यह मूर्च्छा है, जब कि **कि प्रार्थना सम्यक् चैतन्य में जागरण का नाम है ।**

प्रार्थना क्या कोई क्रिया है ? क्या कुछ करना प्रार्थना है ?

नही प्रार्थना क्रिया नही, वरन् चेतना की एक स्थिति है ।

प्रार्थना की नही जाती है, प्रार्थना मे हुआ जाता है ।

प्रार्थना मूलत अक्रिया है ।

जब सब क्रियाएँ शून्य है, और केवल साक्षी चैतन्य शेष रह गया है, ऐसी स्थिति का नाम प्रार्थना है ।

प्रार्थना शब्द मे 'करने' की ध्वनि निकलती है ।

ध्यान शब्द से भी 'करने' की ध्वनि निकलती है ।

पर, वे दोनो शब्द क्रियाओ के लिए नही, चेतना की स्थिति के लिए प्रयुक्त हुए हैं ।

शून्य मे, मौन में, निःशब्द में होना प्रार्थना है, ध्यान है ।'

एक प्रार्थना-सभा मे मैंने कल यह कहा है ।

किसी ने बाद मे पूछा "फिर हम क्या करे ?"

मैंने कहा थोडे समय को कुछ भी न करे । बिल्कुल विश्राम मे अपने को छाड दे । शरीर व मन दोनो को चुप हो जाने दे ।

चुपचाप मन को देखते रहे, वह अपने से शात और शून्य हो जाता है ।

इसी शून्य मे, सत्य का सान्निध्य उपलब्ध होता है ।

इसी शून्य मे वह प्रकट होता है, जो भीतर है—और वह भी जो बाहर है ।

फिर, बाहर और भीतर मिट जाते है और केवल वही रह जाता है—'जो है' ।

इस शुद्ध 'है' की समग्रता का नाम ही ईश्वर है ।

२६ / सर्वोत्तम पुरुषार्थ---शून्य हो जाना

संध्या बीती है। कुछ लोग आये है। वे कहते हैं कि 'आप शून्य सिखाते हैं। पर शून्य के तो विचार से ही भय लगता है। क्या कोई सहारा और आधार नही हो सकता है!'

मैं उनसे कहता हूँ कि शून्य मे कूदने मे अवश्य साहस की जरूरत है।

पर जो कूद जाते हैं, वे शून्य को नही, पूर्ण को पाते है।

और जो कोई कल्पित सहारा और आधार पकडे रहते हैं, वे शून्य में ही अटके रहते हैं।

कल्पनाओ के सहारे और आधार भी क्या कोई सहारे और आधार हैं!

सत्य का सहारा और आधार केवल शून्य से ही मिलता है।

शून्य होने का अर्थ---कल्पनाओ के सहारो और आधारो से ही शून्य होना है।

एक कहानी उनसे कहता हूँ

'एक अमावस की अधेरी रात्रि मे, पर्वतीय निर्जन मे गुजरते एक अजनबी यात्री ने पाया कि वह किसी खड्ड मे गिर गया है। उसके पैर चट्टान से फिसल गये हैं, और वह एक झाडी को पकड कर लटक गया है। चारो ओर अधकार है। नीचे भी अधकार और भयकर खड्ड है। घटो वह उस झाडी को पकडे लटका रहा। और उसने इस समय मे सभाव्य मृत्यु की बहुत पीडा सही। सर्दी की रात्रि थी। फिर क्रमश उसके हाथ ठडे और जड हो गये। और अतत उसके हाथों ने जवाब दे दिया। उसे उस भयकर खड्ड में गिरना ही पडा। उसकी कोई चेष्टा सफल नही हो सकी। और उसने अपनी आँखो स्वय को मृत्यु के मुँह मे जाते देखा। वह गिरा, पर गिरा नही। वहाँ खड्ड था ही नही। गिरते ही उसने पाया कि वह जमीन पर खडा है।'

ऐसा ही मैंने भी पाया है। शून्य मे गिरकर पाया कि शून्य ही भूमि है।

चित्त के सब आधार जो छोड़ देता है, वह प्रभु का आधार पा जाता है।

शून्य होने का पुरुपार्थ ही एक मात्र पुरुपार्थ है।

और, जो शून्य होने की शक्ति नही जुटा पाते है, वे 'शून्य' ही बने रह जाते है।

२७/ अहं के मिटने पर ही संतृप्ति

सुबह घूमकर लौटता था। नदी-तट पर एक छोटे-से झरने से मिलना हुआ। राह के सूखे पत्तो को हटाकर वह छोटा-सा झरना नदी की ओर दौड रहा था। उसकी दौड देखी और फिर नदी मे उसका आनंदपूर्ण मिलन भी देखा। फिर देखा कि नदी भी दौड रही है।

और, फिर देखा कि सब कुछ भाग रहा है। सागर से मिलने के लिए, असीम में खोने के लिए। पूर्ण को पाने के लिए समस्त जीवन ही—राह के सूखे, मृत पत्तों को हटाता हुआ—भागा जा रहा है।

बूँद सागर होना चाहती है।

यही सूत्र समस्त जीवन का ध्येय-सूत्र है।

उसके आधार पर ही सारी गति है और उसकी पूर्णता मे ही आनद है।

सीमा दुःख है, अपूर्णता दुःख है।

जीवन—सीमा के, अपूर्णता के समस्त अवरोधों के पार उठना चाहता है।

उनके कारण उसे मृत्यु झेलनी पडती है।

उनके अभाव मे वह अमृत है।

उनके कारण वह खंड है, उनके अभाव मे वह अखड हो जाता है।

पर, मनुष्य अह की बूँद पर रुक जाता है और वही वह जीवन के अनत प्रवाह मे खडित हो जाता है।

इस भाँति वह अपने ही हाथो सूरज को खोकर एक क्षीणकाय दीये की लौ मे तृप्ति को खोजने का निरर्थक प्रयास करता है।

उसे तृप्ति नही मिल सकती है, क्योकि **बूँद, बूँद बनी रहकर कैसे तृप्त हो सकती है?**

सागर हुए बिना कोई राह नही है।

सागर ही गन्तव्य है।

सागर होना ही होगा।

बूँद को खोना जरूरी है।

अह को मिटाना जरूरी है।

अह ब्रह्म बने, तभी सतृप्ति सभव है।

सागर होने की सतृप्ति ही सत्य मे प्रतिष्ठित करती है।

और, वह संतृप्ति ही मुक्त करती है।

क्योकि, जो सतृप्त नही है, वह मुक्त कैसे हो सकता है!'

जीसस क्राइस्ट ने कहा है : **'जो जीवन को बचाता है, वह उसे खो देता है; और जो उसे खो देता है, वह उसे पा जाता है।'**

यही मुझे भी कहने दें। यही प्रेम है।

अपने को खो देना ही प्रेम है।

प्रेम की मृत्यु को अंगीकार करना ही, प्रभु के जीवन को पाने का उपाय है।

इसलिए, मैं कहता हूँ. बूँदो ! सागर की ओर चलो। सागर ही गंतव्य है। प्रेम की मृत्यु को वरण करो, क्योंकि वही जीवन है। जो सागर के पहले ठहर जाता है, वह मर जाता है, जो सागर मे पहुँच जाता है, वह मृत्यु के पार पहुँच जाता है।

२८। जीवन और मृत्यु

एक बार ऐसा हुआ कि किसी साधु का शिष्य मर गया था। वह साधु उस शिष्य के घर गया। उसके शिष्य की लाश रखी थी और लोग रोते थे। उस साधु ने जाकर जोर से पूछा 'यह मनुष्य मृत है या कि जीवित है? Is the man dead or alive?' इस प्रश्न से लोग बहुत चौंके और हैरान हुए। यह कैसा प्रश्न था! लाश सामने थी और पूछने की बात ही क्या थी?

थोड़ी देर सन्नाटा रहा और फिर किसी ने साधु से कहा 'आप ही बतावें?'

और, जानते हैं कि साधु ने क्या कहा? साधु ने कहा 'जो मृत था, वह मृत है; जो जीवित था, वह अभी भी जीवित है। केवल दोनों का संबंध टूट गया है।'

जीवन की कोई मृत्यु नहीं होती है और मृत का कोई जीवन नहीं होता है।

जीवन को जो नहीं जानते हैं, वे मृत्यु को जीवन का अंत कहते हैं।

जन्म जीवन का प्रारंभ नहीं है और मृत्यु उसका अंत नहीं है।

जीवन—जन्म और मृत्यु के भीतर भी है और बाहर भी है।

वह जन्म के पूर्व भी है और मृत्यु के पश्चात् भी है।

उसका ही जन्म है, उसकी ही मृत्यु है, पर न उसका कोई जन्म है, न उसकी कोई मृत्यु है।

एक शवयात्रा से लौटा हूँ। वहाँ चिता से लपटें उठीं, तो लोग बोले 'सब समाप्त हो गया।' मैंने कहा 'आँखें नहीं हैं, इसलिए ऐसा लगता है।'

२९ / धर्म की जड़ें—योग में, साधना में

एक यात्रा से लौटा हूँ। जहाँ गया था, वहाँ बहुत-से साधु-साध्वियो से मिलना हुआ।

साधना तो बिलकुल नही है और साधु बहुत है! सब तरफ कागज ही कागज के फूल दिखायी देते है।

साधना के अभाव में धर्म असंभव है।

फिर, धर्म के नाम से जो चलता है, उससे अधर्म का ही पोषण होता है।

धर्म ऊपर, और अधर्म भीतर होता है।

और, यह स्वभाविक है ही।

जिन पौधो मे जडे नही है, वे ऊपर से खोसे हुए होगे—किसी उत्सव मे उनसे शोभा बन सकती है, पर उन पौधो मे फूल और फल तो नही लग सकते है।

धर्म की जडे साधना मे है, योग मे है।

योग के अभाव में साधु का जीवन या तो मात्र अभिनय हो सकता है या फिर दमन हो सकता है।

दोनो ही बाते शुभ नही है।

सदाचरण का मिथ्या अभिनय पाखड है।

और दमन भी घातक है। उसमे सघर्ष ता है पर उपलब्धि कोई नही।

जिसे दबाया है, वह मरता नही, वरन् और गहरी परता पर सरक जाता है।

एक ओर वासना की पीडाएँ है—उनकी ज्वालाओ मे उत्तप्त और ज्वरग्रस्त जीवन है—तृष्णा की दुष्पूर दौड-दुख है।

और दूसरी ओर दमन और आत्मउत्पीडन की अग्नि-शिखाएँ है।

एक ओर के कुएँ से जा बचता है, वह दूसरी ओर की खाई मे गिर जाता है।

योग न भोग है, न दमन।

वह तो दोनो से जागरण है।

अतियो के द्वन्द्व मे से किसी को भी नही पकडना है।

द्वन्द्व का कोई भी पक्ष द्वन्द्व के बाहर नही ले जा सकता है।

उनके बाहर जाना, उनमे से किसी को भी चुनकर नही हो सकता है।

जो उनमे से किसी को भी चुनता और पकडता है वह उनके द्वारा ही चुन और पकड लिया जाता है।

योग किसी को पकडना नहीं है, वरन् समस्त पकड को छोड़ना है।

किसी के पक्ष मे किसी को नही छोडना है। बस बिना किसी पक्ष के निष्पक्ष ही सब पकड छोड देनी है।

[पकड़ ही भूल है ।

वही कुएँ मे या खाई मे गिरा देती है । वही अतियो मे और द्वन्द्वो मे और संघर्षों ले जाती है ।

जबकि मार्ग वहाँ है—जहाँ कोई अति नही है, जहाँ कोई दुई नही है, जहाँ कोई संघर्ष नही है ।

चुनाव न करें, वरन् चुनाव करने वाली चेतना मे प्रतिष्ठित हो ।

द्वन्द्व मे न पडे, वरन् द्वन्द्व को देखने वाले 'ज्ञान' मे स्थिर हो । उसमे प्रतिष्ठा ही प्रज्ञा है ।

और, वह प्रज्ञा ही प्रकाश मे जाने का द्वार है ।

वह द्वार निकट है ।

और, जो अपनी चेतना की लौ को द्वन्द्वो की आँधियो से मुक्त कर लेते हैं, वे उस कुजी को पा लेते हैं, जिससे सत्य का वह द्वार खुलता है ।

३० / जो खाली है, वह भर दिया जाता है

मैं मनुष्यो को इतना भरा हुआ देखता हूँ कि उन पर मुझे बहुत दया आती है। उनमे किंचित् भी अवकाश नही है, थोडा-सा भी आकाश नही है।

और, जिसमे आकाश नही है, वह मुक्त कैसे हो सकता है ?

मुक्ति के लिए बाहर नहीं, भीतर अवकाश चाहिए।

जिसमे भीतर आकाश होता है, वह बाहर के आकाश से एक हो जाता है।

और, अंतस् का आकाश जब विश्व के आकाश से एक होता है—वह सम्मिलन, वह सगम, वह सपरिवर्तन ही मुक्ति है।

वही ईश्वरानुभव है।

इसलिए, मै किसी को अपने को ईश्वर से भरने को नही कहता हूँ—वरन् कहता हूँ कि सबसे अपने को खाली कर लो, और तुम पाओगे कि ईश्वर ने तुम्हें भर दिया है।

वर्षा मे जब बदलियाँ पानी गिराती है, तो टीले उस जल से वचित ही रह जाते हैं, और गड्ढे परिपूरित हो जाते हैं।

गड्ढो की तरह बनो, टीलो की तरह नही।

अपने को भरो मत, खाली करो—और प्रभु की वर्षा तो प्रतिक्षण हो रही है—जो उस जल को अपने मे लेने को खाली है, वह भर दिया जाता है।

गागर का मूल्य यही है कि वह खाली है, वह जितनी खाली होती है सागर उसे उतना ही भर देता है।

मनुष्य का मूल्य भी उतना ही है, जितना कि वह शून्य है, उस शून्यता मे ही सागर उतरता है और उसे पूर्ण करता है।

३१ / मन को साधना नही, विसर्जित करना है

मै साधको को देखता हूँ, तो पाता हूँ कि वे सब मन को साधने मे लगे है।

मन को साधने से सत्य नही मिलता है, विपरीत, वही तो सत्य के अनुभव मे अवरोध है।

मन को साधना नही, विसर्जित करना है।

मन को छोडो, तब द्वार मिलता है।

धर्म मन मे या मन से उपलब्ध नहीं होता।

वह अ-मन की स्थिति मे उपलब्ध होता है।

मात्सु साधना मे था। वह अपने गुरु-आश्रम के एक एकांत झोपडे मे रहता और अहर्निश मन को साधने का अभ्यास करता। जो उससे मिलने भी जाते, उनकी ओर भी वह कभी कोई ध्यान नही देता था।

उसका गुरु एक दिन उसके झोपडे पर गया। मात्सु ने उसकी ओर भी कोई ध्यान नही दिया। पर उसका गुरु दिन भर वही बैठा रहा और एक ईंट को पत्थर पर घिसता रहा। मात्सु से अतत न रहा गया और उसने पूछा 'आप यह क्या कर रहे है?' गुरु ने कहा 'इस ईंट का दर्पण बनाना है।' मात्सु ने कहा 'ईंट का दर्पण! पागल हुए है—जीवन भर भी घिसने से नही बनेगा।' यह सुन गुरु हँसने लगा और उसने मात्सु से पूछा 'तब तुम क्या कर रहे हो? **ईंट दर्पण नहीं बनेगी, तो क्या मन दर्पण बन सकता है?** ईंट भी दर्पण नही बनेगी, मन भी दर्पण नही बनेगा। मन ही तो धूल है, जिसने दर्पण को ढाँका है। उसे छोडो और अलग करो, तब सत्य उपलब्ध होता है।'

विचारो का संग्रह मन है और विचार बाहर से आये धूलिकण है। उन्हे अलग करना है।

उनके हटने पर जो शेष रह जाता है वह निर्दोष चैतन्य सदा से ही निर्दोष है।

निर्विचार, मे इस **अ-मन की स्थिति मे, उस सनातन सत्य के दर्शन होते है** जो कि विचारो के धुएँ मे छिप गया होता है।

विचारो का धुआँ न हो तो फिर चेतना की निर्धूम ज्योतिशिखा ही शेष रह जाती है।

वही पाना है वही होना है।

साधना का साध्य वही है।

३२ / अपरिवर्तनशील सत्ता के प्रति जागना

सुबह थी, फिर दोपहर आयी, अब सूरज डूबने को है। एक सुंदर सूर्यास्त पश्चिम पर फैल रहा है।

मैं रोज दिन को उगते देखता हूँ, दिन को छाते देखता हूँ, दिन को डूबते देखता हूँ। और फिर यह देखता हूँ कि न तो मैं उगा, न मैंने दोपहर पायी और न ही मैं अस्त पाता हूँ।

कल यात्रा से लौटा तो यही देख रहा था। सब यात्राओ मे ऐसा ही अनुभव होता है। **राह बदलती है, पर राही नहीं बदलता है।**

यात्रा तो परिवर्तन है, पर यात्री अपरिवर्तित मालूम होता है।

कल कहाँ था, आज कहाँ हूँ कभी क्या था, अब क्या है—पर जो मैं कल था, वही आज भी हूँ, जो मैं कभी था, वही अब भी हूँ।

शरीर वही नही है, मन वही नही है, पर मैं वही हूँ।

दिक् और काल में परिवर्तन है, पर 'मैं' मे परिवर्तन नही है।

सब प्रवाह है, पर यह 'मैं' प्रवाह का अग नही है। यह उनमे होकर भी उनसे बाहर और उनके अतीत है।

यह नित्य-यात्री—यह चिर-नूतन, चिर-परिचित यात्री ही आत्मा है।

परिवर्तन के जगत् मे इस अपरिवर्तित के प्रति जाग जाना ही मुक्ति है।

३३ / दृश्य से द्ष्टा की ओर यात्रा

मैं तुम्हे देखता हूँ : तुम्हारे पार जो है, उसे भी देखता हूँ।

शरीर पर जो रुक जावें, वे आँखे देखती ही नहीं है। शरीर कितना पारदर्शी है !

सच ही, देह कितनी ही ठोस क्यों न हो, उसे तो नही ही छिपा पाती है, जो कि पीछे है।

पर, आँखे ही न हो, तो बात दूसरी है। फिर तो सूरज भी नही है।

-सब खेल आँखो का है।

विचार और तर्क से कोई प्रकाश को नहीं जानता है।

वास्तविक आँख की पूर्ति किसी अन्य साधन से नही हो सकती है। आँख चाहिए।

आत्मिक को देखने के लिए भी आँख चाहिए, एक अंतर्दृष्टि चाहिए।

वह है, तो सब है। अन्यथा, न प्रकाश है, न प्रभु है।

और, जो दूसरे की देह के पार की सत्ता को देखना चाहे, उसे पहले अपनी पार्थिव सत्ता के अतीत झाँकना होता है।

जहाँ तक मै अपने गहरे मे देखता हूँ, वही तक अन्य देहे भी पारदर्शी हो जाती हैं।

जितनी दूर तक मं अपनी जड़ता मे चैतन्य का आविष्कार कर लेता हूँ, उतनी ही दूर तक समस्त जड़ जगत् मेरे लिए चैतन्य से भर जाता है।

जो मैं हूँ, जगत् भी वही है।

जिस दिन मै समग्रता मे अपने चैतन्य को जान लूं,उसी दिन जगत् नही रह जाता है।

स्व-अज्ञान संसार है; आत्मज्ञान मोक्ष।

यही रोज कह रहा हूँ, यही प्रत्येक से कह रहा हूँ एक बार देखो कि कौन तुम्हारे भीतर बैठा हुआ है ?

इस हड्डी-माँस की देह मे कौन आच्छादित है ? कौन है आबद्ध तुम्हारे इस बाह्य रूप मे ?

इस क्षुद्र मे कौन विराट् विराजमान है ?

कौन है यह चैतन्य ? क्या है यह चैतन्य ?

यह पूछे बिना, यह जाने बिना जीवन सार्थक नही है।

मैं सब-कुछ जान लूं, स्वय को छोडकर, तो उस ज्ञान का कोई मूल्य नहीं है।

जिस शक्ति से 'पर' जाना जाता है, वह शक्ति 'स्वय' को भी जानने मे समर्थ है।

जो अन्य को जान सकती है, वह स्वय को कैसे नही जानेगी !

केवल दिशा-परिवर्तन की बात है।

जो दीख रहा है, उससे उस पर चलना है, जो कि देख रहा है।

दृश्य से द्रष्टा पर ध्यान परिवर्तन आत्म-ज्ञान की कुंजी है।

विचार प्रवाह में से उस पर जागो, जो उनका भी साक्षी है।

और, एक क्रांति घटित हो जाती है।

कोई अवरुद्ध झरना जैसे फूट पड़ा हो, ऐसे ही चैतन्य की धारा जीवन से समस्त जड़ता को बहा ले जाती है।

३४./ धर्म की जमीन, आत्मा की जड़ें और मनुष्य का फूल

कल सन्ध्या तक एक पौधे मे प्राण थे। उसकी जड़ जमीन मे थी और पत्तों में जीवन था। उसमे हरियाली थी, चमक थी। हवा में वह डोलता था, तो उससे आनन्द झरता था। उसके पास से मैं अनेक बार गुजरा था और उसके जीवन-संगीत को अनुभव किया था।

फिर कल यह हुआ कि किसी ने उसे खीच दिया, उसकी जड़े हिल गयीं और आज जब मैं उसके पास गया, तो पाया कि उसकी सांसे टूट गयी है। जमीन से हट जाने पर ऐसा ही होता है। सारा खेल जडो का है। वे दीखती नही, पर जीवन का सारा रहस्य उन्ही में है।

पौधो की जड़े होती है। मनुष्य की भी जडे होती हैं।

पौधो की जमीन है। मनुष्य की भी जमीन है।

पौधे जमीन मे जडे हटाते ही सूख जाते है। मनुष्य भी सूख जाता है।

आल्बेयर कामू की एक पुस्तक पढता था। उसकी पहली पंक्ति है कि आत्महत्या एकमात्र महत्त्वपूर्ण दार्शनिक समस्या है।

क्यो ? क्योंकि अब मनुष्य को जीवन में कोई प्रयोजन नही मालूम होता है। सब व्यर्थ और सब निष्प्रयोजन हो गया है।

हुआ यह है कि हमारी जडे हिल गयी है, हुआ यह कि उस मूल जीवन-स्रोत से हमारे संबध टूट गये हैं, जिसके अभाव मे जीवन एक व्यर्थ की कहानी मात्र रह जाता है।

मनुष्य को पुनः जड़ें देनी है और मनुष्य को पुनः जमीन देनी है।

वे जड़ें आत्मा की हैं और वह जमीन धर्म की है।

उतना हो सके, तो मनुष्यता में फिर से फूल आ सकते हैं।

३५ / सारा संसार कागजी महल है

एक परिवार में आमन्त्रित था। सध्या गये ही वहाँ से लौटा हूँ। एक मीठी घटना वहाँ घटी। बहुत बच्चे उस घर मे थे। उन्होंने ताश के पत्ता का एक महल बनाया था। मुझे दिखाने ले गये। सुदर था। मैने प्रसशा की। गृहिणी बोली 'ताश के पता के महल की भी प्रशसा! जरा-सा हवा का झोका सब मिट्टी कर देता है।

मैं हँसने लगा तो बच्चो ने पूछा 'क्यो हँसते हैं?' यह बात ही होती थी कि महल भरभरा कर गिर गया। बच्चे उदास हो गये। गृहिणी बोली देखा। मैंने कहा देखा, पर मैंने और महल भी देखे है, और सब महल ऐसे ही गिर जाते है।

पत्थर के ठोस महल भी पत्तो के ही महल है। बच्चो के ही नही, बूढ़ो के महल भी पत्तो के महल ही होते है। हम सब महल बनाते हैं—कल्पना और स्वप्नो के महल और फिर हवा का एक झोका सब मिट्टी कर जाता है।

इस अर्थ मे हम सब बच्चे है। प्रौढ होना कभी-कभी होता है। अन्यथा अधिक लोग बच्चे ही मर जाते हैं।

सब महल ताश के महल हैं, यह जानने से व्यक्ति प्रौढ़ हो जाता है।

फिर भी, वह उन्हे बनाने मे सलग्न हो सकता है पर तब सब अभिनय होता है।

यह जानना कि जगत् अभिनय है, जगत् से मुक्त हो जाना है।

इस स्थिति मे जो पाया जाता है वही भर किसी झोके से नष्ट नही होता है।

३६ / अनावश्यक आप ही आप विसर्जित

कल रात्रि पानी पडा है। मौसम गीला है और अभी-अभी फिर धीमी फुहार आनी शुरू हुई है। हवाएँ नम हो गयी है और वृक्षो से गिरते पत्तो को द्वार तक ला रही हैं। लगता है पतझड हो रही है और वसत के आगमन की तैयारी है। रास्ते पत्तो से ढँक रहे हैं और उन पर चलने मे सूखे पत्ते मधर आवाज करते हैं।

मै उन पत्ता को देर तक देखता रहा हूँ।

जो पक जाता है वह गिर जाता है।

पत्तो पर पत्ते सुबह स शाम तक गिर रहे हैं। पर वृक्षो को उनके गिरने से कोई पीडा नही हो रही है।

इससे जीवन का एक अदभुत नियम समझ में आता है।

कुछ भी कच्चा तोडने मे कष्ट है। पकने पर टूटना अपने से हो जाता है।

एक सन्यासी आये हैं। त्याग उन्ह आनन्द नही बन पाया है। वह कष्ट है और कठिनाई है। सन्यास अपने से नही आया लाया गया है। मोह के अज्ञान के, परिग्रह के अहकार के पत्ते अभी कच्चे थे। जबरदस्ती की है—पत्ते तो टूट गये पर पीडा पीछ छोड गये हैं। वह पीडा शाति नही आने देती है।

सोचता हूँ कि आज शाम जाकर पके पत्तो के टूटने का रहस्य उन्ह बताऊँ।

सन्यास पहले नहीं है। ज्ञान है प्रथम।

उसकी आँख मे ससार पके पत्ता की भाँति गिर जाता है।

सन्यास लाया नही जाता पाया जाता है।

ज्ञान की क्रांति के बाद त्याग कष्ट नहीं, आनंद हो जाता है।

ज्ञान का भ्रम

ज्ञान और 'ज्ञान' मे भेद है।

एक ज्ञान है—केवल जानना, जानकारी, बौद्धिक समझ।

और, एक ज्ञान है—अनुभूति, प्रज्ञा, जीवत प्रतीति।

एक मृत तथ्यों का संग्रह है, एक जीवित सत्य का बोध है।

दोनो मे बहुत अंतर है—भूमि और आकाश का, अधकार और प्रकाश का।

वस्तुतः, बौद्धिक ज्ञान कोई ज्ञान ही नही है। वह ज्ञान का भ्रम है।

क्या अधे व्यक्ति को प्रकाश का कोई ज्ञान हो सकता है?

बौद्धिक ज्ञान वैसा ही ज्ञान है।

ऐसे ज्ञान का भ्रम अज्ञान को ढँक लेता है। वह आवरण मात्र है। उसके शब्द-जाल और विचारो के धुएँ मे अज्ञान विस्मृत हो जाता है।

यह अज्ञान से भी घातक है।

क्योंकि, अज्ञान दीखता हो, तो उससे ऊपर उठने की आकाक्षा तो पैदा होती है।

पर, वह न दीखे, तो उससे मुक्त होना सभव ही नही रह जाता है।

तथाकथित ज्ञानी अज्ञान मे ही नष्ट हो जाते हैं।

ज्ञान—सत्य-ज्ञान बाहर से नही आता है।

और, जो बाहर से आये जानना कि वह ज्ञान नही है, मात्र जानकारी ही है।

ऐसे ज्ञान के भ्रम मे गिरने से सावधानी रखनी आवश्यक है।

जो भी बाहर से आता है, वह स्वयं पर और परदा बन जाता है।

ज्ञान भीतर से जागता है। वह आता नही, जागता है। और उसके लिए परदे बनाने नही, तोडने होते है।

ज्ञान को सीखना नही होता है, उसे उघाड़ना होता है।

सीखा हुआ ज्ञान जानकारी है, उघाडा हुआ ज्ञान अनुभूति है।

और, जिस ज्ञान को सीखा जावे, उसके अनुसार जीवन को जबरदस्ती ढालना पडता है, फिर भी वह कभी सपूर्णतया उसके अनुकूल नही हो पाता है और उस ज्ञान और जीवन मे एक अनर्द्वन्द्व बना ही रहता है।

पर, जो ज्ञान उघाडा जाता है, उसके आगमन से ही आचरण सहज उसके अनुकूल हो जाता है।

सत्य-ज्ञान के विपरीत जीवन का होना एक असंभावना है। वैसा आज तक धरा पर कभी नही हुआ है।

एक कथा है।

एक घने वन के बीहड़ पथ पर दो मुनि थे। शरीर की दृष्टि से वे पिता पुत्र थे। पुत्र आगे था, पिता पीछे। मार्ग था एकदम निर्जन और भयानक। और फिर अचानक सिंह का गर्जन हुआ। पिता ने पुत्र से कहा : 'तुम पीछे आ जाओ, खतरा है।' पुत्र हँसने लगा, आगे चलता था—आगे चलता रहा। पिता ने दोबारा कहा। सिंह सामने आ गया था। मृत्यु द्वार पर खड़ी थी। पुत्र बोला : 'मैं शरीर नही हूँ, तो खतरा कहाँ है ? आप भी तो यही कहते है न ?' पिता ने भागते हुए चिल्लाकर कहा . 'पागल, सिंह की राह छोड दे।' पर पुत्र हँसता ही रहा और बढ़ता ही रहा। सिंह का हमला भी हो गया। वह गिर पड़ा था, पर उसे दीख रहा था कि जो गिरा है, वह 'मै' नहीं हूँ। शरीर वह नही था. इसलिए उसकी कोई मृत्यु भी नहीं थी। जो पिता कहता था, वह उसे दीख भी रहा था। और वह अतर महान् है।

पिता दु खी था और दूर खड़े उसकी आँखो मे आँसू थे। और पुत्र स्वय मात्र द्रष्टा ही रह गया था। वह जीवन मे द्रष्टा था, तो मृत्यु मे भी द्रष्टा था। उसे न दुःख था, न पीडा। वह अविचल और निर्विकार था, क्योंकि जो भी हो रहा था, वह उसके बाहर हो रहा था। वह स्वय कही भी उसमें सम्मिलित नही था।

इसमे कहता हूँ कि ज्ञान और ज्ञान मे भेद है।

३८ । समाधि अर्थात् निर्विषय चेतना

'समाधि क्या है ?

किसी ने कहा है बूँद का सागर मे मिल जाना।

किसी ने कहा है सागर का बूँद मे उतर आना।

मै कहता हूँ बूँद और सागर का मिट जाना।

जहाँ न बूँद है, न सागर है, वहाँ समाधि है।

जहाँ न एक है, न अनेक है, वहाँ समाधि है।

जहाँ न सीमा है, न असीम है, वहाँ समाधि है।

समाधि सत्ता के साथ ऐक्य है।

समाधि सत्य है। समाधि चैतन्य है। समाधि शांति है।

मैं समाधि में नही होता हूँ वरन् **जब मैं' नहीं होता हूँ, तब जो है वह समाधि है।**

और शायद यह मै जो कि मै नही है वास्तविक मै है।

'मैं' की दो सत्ताएँ है अहम् और ब्रह्म।

अहम वह है जो मै नही हूँ पर जो मै जैसा भासता है।

ब्रह्म वह है जो मै है लेकिन जो मै जैसा प्रतीत नही होता है।

चेतना—शुद्ध चैतन्य—ब्रह्म है।

मै शुद्ध साक्षी चैतन्य हूँ पर विचार प्रवाह से तादात्म्य के कारण वह दिखायी नही पडता है।

विचार स्वय चेतना नही है। विचार को जो जानता है वह चैतन्य है।

विचार का भी जो द्रष्टा है वह चैतन्य है।

विचार विषय है चेतना विषयी है।

विषय से विषयी का तादात्म्य मूर्च्छा है।

यही असमाधि है। यही प्रसुप्त अवस्था है।

विचार विषय के अभाव म जो शेष है वही चेतना है। इस शेष म ही होना समाधि है।

विचार शून्यता म जागरण सत्ता के द्वार खोल देता है।

सत्ता अर्थात वही जो है।

उसम जागो—यही समस्त जाग्रत पुरुषो की वाणी का सार है।

३९ / अनत को पाने की शर्त—अनत धैर्य

मैं माली को बीज बोते देखता हू । फिर वह खाद देता है । पानी देता है । और फलो क आने की प्रतीक्षा करता है । फल खीचकर जबरदस्ती पौधे से नही निकाले जाते है । उनकी तो धीरज से प्रतीक्षा करनी होती है ।

प्रेम और प्रतीक्षा ।

ऐसे ही प्रेम के बीज भी बोने होते है ।

और ऐसे ही दिव्य जीवन के फूलो के खिलने की भी राह देखनी होती है ।

प्रार्थना और प्रतीक्षा ।

जो इसके विपरीत चलता है और अधैर्य प्रकट करता है वह कही भी नही पहुँच पाता है ।

अधैर्य—उस विकास के लिए अच्छी खाद नही है ।

शाति से धैर्य से और प्रीति से प्रतीक्षा करने पर किसी सुबह अनायास ही फूल खिल जाते है और उनकी गध जीवन के आँगन को सुवासित कर देती है ।

अनत के फूलो के लिए अनत प्रतीक्षा अपेक्षित है ।

पर यह स्मरण रहे कि जो उतनी प्रतीक्षा के लिए तत्पर होता है उसकी प्राप्ति का समय तत्क्षण आ जाता है ।

अनत धैर्य ही अनत को पाने की एकमात्र शर्त है ।

उस शर्त के पूरे होते ही वह उपलब्ध हो जाता है ।

उसे कही बाहर से थोडे ही आना है । वह तो भीतर का ही विकास है ।

वह तो मौजूद ही है ।

पर अधैर्य और अशाति के कारण हम उसे नहीं देख पाते है ।

४० / साक्षी होना   मन की निर्मलता का सूत्र

मनुष्य का मन अद्भुत है
वही है रहस्य—संसार का और मोक्ष का।
पाप और पुण्य बंधन और मुक्ति स्वर्ग और नरक सब उसमें ही समाये हुए हैं
अँधेरा और प्रकाश सब उसी का है।
उसमें ही जन्म है उसमें ही मृत्यु है
वही है द्वार—बाह्य जगत का वही है सीढ़ी—अंतस की।
और उसका ही न हो जाना दोनों के पार हो जाना हो जाता है।
मन सब-कुछ है।
सब उसकी ही लीला और कल्पना है।
वह खो जाय तो सब लीला विलीन हो जाती है।

कल वही यह कहा था। कोई पूछने आया मन तो बड़ा चंचल है वह खोये कैसे? मन तो बड़ा गंदा है वह निर्मल कैसे हो?

मैंने फिर एक कहानी कही

बुद्ध जब वृद्ध हो गये थे तब एक दोपहर एक वन में एक वृक्ष तले विश्राम को रुके थे उन्हें प्यास लगी तो आनन्द पास के पहाड़ी झरने पर पानी लेने गया था। पर झरने में से अभी अभी गाड़ियाँ निकली थीं और उसका सब पानी गंदा हो गया था कीचड़ ही कीचड़ और सड़े पत्ते उसमें उभरकर आ गये थे। आनन्द उसका पानी बिना लिये ही वापस लौट आया उसने बुद्ध से कहा नाले का पानी निर्मल नहीं है मैं पीछे लौटकर नदी से पानी ले आता हूँ। नदी बहुत दूर थी बुद्ध ने उसे झरने का पानी ही लाने को वापस लौटा दिया आनन्द थोड़ी देर में फिर खाली लौट आया वह पानी उसे लाने जैसा नहीं लगा। पर बुद्ध ने उसे इस बार भी वापस लौटा दिया। और तीसरी बार जब आनन्द झरने पर पहुंचा तो देखकर चकित हो गया झरना अब तक बिलकुल निर्मल और शांत हो गया था कीचड़ बैठ गया था और जल बिलकुल निर्मल हो गया था

यह कहानी मुझे बड़ी प्रीतिकर है
यही स्थिति मन की भी है। जीवन की गाड़ियाँ उसे विक्षुब्ध कर जाती हैं।

पर, कोई यदि शांति और धीरज से उसे बैठा देखता रहे, तो कीचड़ अपने से नीचे बैठ जाता है और सहज निर्मलता का आगमन हो जाता है।

मन की निर्मलता में जीवन नया हो जाता है।

केवल धीरज की बात है--और शांत प्रतीक्षा की, और 'बिना कुछ किये' मन का कीचड़ बैठ सकता है।

केवल साक्षी होना है और मन निर्मल हो जाता है।

मन को निर्मल करना नहीं होता है। करने से ही कठिनाई बन जाती है।

उसे तो केवल किनारे पर बैठकर देखें--और फिर देखें कि क्या होता है!

४१ / जीवन की बाँसुरी का सगीत

रात्रि के इस सन्नाटे मे कोई बाँसुरी बजा रहा है। चाँदनी जम गयी-सी लगती है। सद एकात रात्रि और दूर से आते बाँसुरी के स्वर। स्वप्न-सा मधुर! विश्वास न हो इतना सुदर है यह सब।

एक बाँस की पोगरी कितना अमृत बरसा सकती है!

जीवन भी बाँसुरी की भाँति है।

अपने में खाली और शून्य पर साथ ही सगीत की अपरिसीम सामर्थ्य भी उसमे है।

पर सब कुछ बजाने वाले पर निर्भर है।

जीवन वैसा ही हो जाता है जैसा व्यक्ति उसे बनाता है। वह अपना ही निर्माण है।

यह तो एक अवसर मात्र है—कैसा गीत कोई गाना चाहता है यह पूरी तरह उसके हाथो म है।

मनष्य की महिमा यही है कि वह स्वग और नरक दोनो के गीत गाने को स्वतन्त्र है।

प्रत्येक व्यक्ति दिव्य स्वर अपनी बाँसुरी से उठा सकता है। बस, थोड़ी-सी उँगलिया भर साधने की बात है।

थोडी सी साधना और विराट उपलब्धि है।

न कुछ करने मे ही अनन्त आनद का साम्राज्य मिल जाता है।

मै चाहता हूँ कि एक एक हृदय म कह दू कि अपना बासुरी को उठा लो।

समय भागा जा रहा है, देखना कही गीत गाने का अवसर बीत न जाय!

इसके पहले कि परदा गिरे तुम्हें अपना जीवन-गीत गा लेना है।

४२ / ज्ञान प्रारंभ है, शील परिणाम है

जीवन-साधना मे बीज क्या है और फल क्या है, यह जानना अत्यत अनिवार्य है। प्रारम्भ और परिणाम को पहचानना जरूरी है। कार्य और कारण को न जाने हुए जो चलता है, वह भूल करता है।

केवल चलना ही पर्याप्त नही है। **अकेले चलने से ही कोई नहीं पहुँचता है। दिशा और साधना-विधि का सम्यक् होना जरूरी है।**

साधना मे केंद्रीय भी कुछ है, परिधिगत भी है। केंद्र पर प्रयास हो, तो परिधि अपने से सँभल जाती है। उसे पृथक् सँभालने का कारण नही है। वह केंद्र की ही अभिव्यक्ति है, वह फैला हुआ केंद्र है। इसमे परिधि पर प्रयास व्यर्थ होते हैं। एक कहावत है 'झाडी के आसपास पीटना।' परिधि पर उलझना ऐसा ही है।

क्या है केंद्र ? क्या है परिधि ?

ज्ञान केंद्र है, शील परिधि है।

ज्ञान प्रारम्भ है, शील परिणाम है।

ज्ञान बीज है, शील फल है।

पर साधारणत लोगो का चलना विपरीत है।

शील से चलकर वे ज्ञान पर पहुँचना चाहते है। शील को वे ज्ञान म परिणत करना चाहते है।

पर शील अज्ञान मे पैदा नही किया जा सकता। शील पैदा ही नही किया जा सकता। पैदा किया हुआ शील, शील नही है। वह मिथ्या आवरण है जिसके तले कुशील दब जाता है।

चेष्टित शील वचना है।

अँधेरे को दबाना-छिपाना नही है। उसे मिटाना है।

कुशील पर शील के कागजी फूल नही चिपकाने है। उसे मिटाना है।

जब वह नही है तब जो आता है वह शील है।

अज्ञान मे जबरदस्ती लाया गया शील घातक है, क्योकि उसमे जो नही है, वह ज्ञान होता है कि है। और इस भाँति जिसे लाना है, उसका आँख से ओझल हो जाना हो जाता है।

अज्ञान मे सीधे शील लाने का कोई उपाय भी नही है, क्योकि अज्ञान की अभिव्यक्ति ही कुशील है।

कुशीलता अज्ञान ही है।

किसी बुद्ध ने कहा है . 'अण्णाणी किं काही ।'—जो अज्ञान में है, वह क्या कर सकता है ?

शील नहीं, ज्ञान लाना है । ज्ञान ही शील बन जाता है ।

ज्ञान सर्व को प्रकाशित करता है ।

उसके उदय से ही अज्ञान और मोह का नाश होता है ।

उससे ही राग और द्वेष का क्षय होता है ।

उससे ही मुक्त दशा उपलब्ध होती है ।

४३. सब आनन्द--द्रष्टा के प्रकट होते ही

सुबह एक पत्र मिला है। किसी ने उसमे पूछा है कि 'जीवन दुख मे घिरा है, फिर भी आप आनन्द की बात कैसे करते हैं ? जो है उसे देखे तो आनन्द की बातें कल्पना प्रतीत होती है।

निश्चय ही जीवन दुख मे घिरा है चारो आर दुख है, पर जो घिरा है वह दुख नही है।

जब तक जो घेरे है उन्हे देखते रहेगे दुख ही मालूम होगा पर जिस क्षण उसे देखने लगेंगे जो कि घिरा है तो उसी क्षण दुख असत्य हो जाता है और आनन्द सत्य हो जाता है।

कुल बात दृष्टि-परिवर्तन की है।

जो दृष्टि द्रष्टा को प्रकट कर देती है, वही दृष्टि है। शेष सब अधापन है।

द्रष्टा के प्रकट होते ही सब आनन्द हो जाता है, क्योकि आनन्द उसका स्वरूप है।

जगत फिर भी रहता है पर दूसरा हो जाता है।

आत्म-अज्ञान के कारण उसमे जो काँटे मालूम हुए थे वे अब काँटे नही मालूम होते हैं।

दुख की सत्ता वास्तविक नही है क्याकि परवर्ती अनुभव स वह खडित हो जाती है।

जागने पर जैसे स्वप्न अवास्तविक हो जाता है वैसे ही स्व-बोध पर दुख खो जाता है।

आनन्द सत्य है क्योकि वह स्व है।

४४ / निर्विचार में मनुष्य का दिव्यता में अतिक्रमण

कल एक जगह बोला हूँ।

कहा मै तुम्हें असतुष्ट करना चाहता हूँ। **एक दिव्य प्यास, एक अलौकिक अतृप्ति सब में पैदा हो, यही मेरी कामना है।**

मनुष्य जो है उसमे तृप्त रह जाना मृत्यु है।

मनुष्य विकास का अत नही है। वह भी एक सीढी है। एक विकास-सोपान है।

जो उसमे प्रकट है वह अप्रकट की तुलना मे कुछ भी नही है।

जो वह है वह उसकी तुलना मे जो कि वह हो सकता है कुछ न होने के बराबर ही है।

घम तृप्ति की इस मृत्यु से प्रत्येक को अतृप्ति के जीवन मे जगाना चाहता है।

क्याकि उस अतृप्ति से ही उस बिंदु तक पहुँचना हो सकता है जहाँ कि वास्तविक सतृप्ति है।

मनुष्य का मनुष्यता का अतिक्रमण करना है।

यह अतिक्रमण ही उसे दिव्यता म प्रवेश देना है।

यह अतिक्रमण कैसे होगा ?

एक परिभाषा का समझ तो अतिक्रमण की प्रक्रिया भी समझ मे आ जाती है।

पशुता—विचार प्रक्रिया के पूव की स्थिति।

मनुष्यता—विचार प्रक्रिया की स्थिति।

दिव्यता—विचार प्रक्रिया के अतीत की स्थिति।

विचार प्रक्रिया के घर के पार चल तो चेतना दिव्यता मे पहुच जाती है।

विचार को पार करना मनुष्यता का अतिक्रमण कर जाना है।

४५ / परमात्मा के रहस्य का परदा

मैं प्रकृति मे ही परमात्मा को देखता हूँ।

प्रतिक्षण, प्रतिघडी, उसका मुझे अनुभव हो रहा है। एक श्वास भी ऐसी नही आती-जाती है, जब उसमे मिलन न हो जाता हो।

जहाँ भी आँख पडती है, देखता हूँ कि वह उपस्थित है।

और, जहाँ भी कान सुनते है, पाता हूँ कि उसका ही सगीत बज रहा है।

वह तो सब जगह है, केवल उसे देखना भर आने की बात है।

वह तो है, पर उसे पकड पाने के लिए आँख चाहिए।

आँख के आते ही वह सब दिशाओ में और सब समयो मे उपस्थित हो जाता है।

रात्रि मे जब आकाश तारो से भर जाय, तो उन तारो को सोचो मत, देखो।

और, सागर के वक्ष पर जब लहरे नाचती हो, तो उन लहरो को सोचो मत, देखो।

और, कली जब फूल बनती हो, तो देखो, और केवल देखो।

विचार न हो और मात्र दर्शन हो, तो एक बडा राज खुल जाता है, और प्रकृति के द्वार से उस रहस्य में प्रवेश होता है, जो कि परमात्मा है।

प्रकृति परमात्मा के आवरण से ज्यादा कुछ भी नही है, और जो उसके घूँघट को उठाना जानते है, वे ही केवल जीवन के सत्य से परिचित हो पाते है।

सत्य का एक युवा खोजी किसी सद्गुरु के पास गया था। उसने जाकर पूछा 'मैं सत्य को जानना चाहता हू, मैं धर्म को जानना चाहता हूँ। कृपा करे और मुझे बताये कि मैं कहाँ से प्रारम्भ करूँ कहाँ से प्रवेश करूँ? सद्गुरु ने कहा 'क्या पास ही पर्वत से गिरते जलप्रपात की ध्वनि तुम्हे नही सुनायी पड रही है?' उस युवक ने कहा 'मैं उसे भली-भाँति सुन रहा हूँ।' सद्गुरु बोले 'तब वही से प्रारम्भ करो--वही से प्रवेश करो—(Then enter from there.) वही द्वार है।'

सच ही प्रवेश-द्वार इतना ही निकट है—पहाड से गिरते झरनो मे, हवाओ मे डोल रहे वृक्षो के पत्तो मे, सागर पर नाच रही सूरज की किरणो मे।

पर, हर प्रवेश-द्वार परदा है, और बिना उठाये वह नही उठता है।

और, वस्तुत वह परदा प्रवेश-द्वारो पर नही है, वह हमारी दृष्टि पर ही है।

और, इस भाँति एक ही परदे ने अनत द्वारो पर परदा कर दिया है।

४६ / ईश्वर हमारा स्वभाव है

चाँद ऊपर उठ रहा है। दरख्तो को पार करता उसका मद्धिम प्रकाश रास्ते पर पडने लगा है। और आम्र फूलो की भीनी गध से हवाएँ सुवासित हो रही है।

मै एक विचार-गोष्ठी मे लौटा हूँ। जो थे वहाँ अधिकतर युवक थे। आधुनिकता से प्रभावित और उत्तेजित। अनास्था ही जैसे उनकी आस्था है निषध स्वीकार है। उनमें से एक ने कहा मै ईश्वर को नही मानता हूँ मै स्वतत्र हूँ। इस एक पक्ति मे नो युग की मन स्थिति ही प्रतिबिम्बित है। सारा यग इस स्वतत्रता की छाया मे है बिना यह जाने कि यह स्वतत्रता आत्महत्या है।

क्यो है यह आत्महत्या ? क्योकि **अपने को अस्वीकार किये बिना ईश्वर को अस्वीकार करना असभव है।**

एक कहानी मैंने उनमे कही ईश्वर के भवन पर फैली एक अगर-बल थी। वह फैलते फैलते बढते बढते आज्ञा मानते मानते थक गयी थी। उसका मन परतत्रता से ऊब गया था और फिर एक दिन उसने भी स्वतत्र होना चाहा था वह जोर से चिल्लायी थी कि सारा आकाश सुन ले म अब बढँगी नही।

मै अब बढ गी नही।

मै अब बढ गी नही।

यह विद्रोह निश्चय ही मौलिक था क्योकि स्वभाव के प्रति हा था।

ईश्वर ने बाहर आकर कहा न बढो बढने की आवश्यकता ही क्या है ? बल्लरी का हुई विद्रोह सफल हुआ था। वह न बढने के श्रम म लग गयी। पर बढना न रुका न रुका वह न बढन म लगी रही और बढती गयी बढती गयी—और ईश्वर यह सब पूव से ही जानता था।

यही स्थिति है।

ईश्वर हमारा स्वभाव है।

वह हमारा आतरिक नियम है।

उससे दूर नही जाया जा सकता है।

वह हुए बिना कोई माग नही है।

कितना ही अस्वीकार कर कितना ही स्वतत्र होना चाह उमस पर उसस मुक्ति नही है क्योकि वह हमारा स्व है।

वस्तुत वह ही है और हम कल्पित ह।

इसलिए कहता हूँ उमसे नही उसम ही मुक्ति है।

४७ / एकाकीपन से भय क्यों ?

एक राजा ने किसी सामान्यत: स्वस्थ और संतुलित व्यक्ति को कैद कर लिया था—**एकाकीपन का मनुष्य पर क्या प्रभाव होता है,** इस अध्ययन के लिए। वह व्यक्ति कुछ समय तक चीखता-चिल्लाता रहा। बाहर जाने के लिए रोता था, सिर पटकता था—उसकी सारी सत्ता जो बाहर थी। सारा जीवन तो 'पर' से, अन्य से बँधा था। अपने मे तो वह कुछ भी नही था। अकेला होना, न होने के ही बराबर था।

और, सच ही वह धीरे-धीरे टूटने लगा। उसके भीतर कुछ विलीन होने लगा, चुप्पी आ गयी। रुदन भी चला गया। आंसू भी सूख गये। और आँखें ऐसे देखने लगी, जैसे पत्थर की हो। वह देखता हुआ भी लगता कि जैसे नही देख रहा है।

दिन बीते, माह बीते, वर्ष बीत गया। उसकी सुख-सुविधा की सब व्यवस्था थी। जो उसे बाहर उपलब्ध नही था, वह सब कैद में उपलब्ध था। शाही आतिथ्य जो था!

लेकिन, वर्ष पूरा होने पर विशेषज्ञो ने कहा 'वह पागल हो गया है।'

ऊपर से वह वैसा ही था। शायद ज्यादा ही स्वस्थ था। लेकिन भीतर ?

भीतर एक अर्थ मे वह मर ही गया था।

मै पूछता हूँ क्या एकाकीपन किसी को पागल कर सकता है ? एकाकीपन कैसे पागल करेगा ?

वस्तुत, पागलपन तो पूर्व मे ही है। बाह्य सबध उसे छिपाये थे। एकाकीपन उसे अनावृत्त कर देता है।

मनुष्य की अपने को भीड़ में खोने की अकुलाहट उससे बचने के लिए ही है।

प्रत्येक व्यक्ति इसलिए ही स्वय से पलायन किये हुए है।

पर, यह पलायन स्वास्थ्य नही कहा जा सकता है।

तथ्य को न देखना, उससे मुक्त होना नही है।

जो नितांत एकाकीपन में स्वस्थ और संतुलित नही है, वह धोखे में है।

यह आत्मवचना कभी-कभी खडित होगी ही।

और, वह जो भीतर है, उसे उसकी परिपूर्ण नग्नता मे जानना होगा।

यह अपने आप अनायास हो जाये, तो व्यक्तित्व छिन्नभिन्न और विक्षिप्त हो जाता है।

जो दमित है, वह कभी न कभी विस्फोट को भी उपलब्ध होता है।

धर्म इस एकाकीपन में स्वयं होकर उतरने का विज्ञान है।

क्रमशः एक-एक परत उघाड़ने पर अद्भुत सत्य का साक्षात् होता है।
धीरे-धीरे ज्ञात होता है कि वस्तुतः हम अकेले ही हैं।
गहराई में, आंतरिकता के केंद्र पर प्रत्येक एकाकी है।
और, उस एकाकीपन से परिचित न होने के कारण भय मालूम होता है।
अपरिचय और अज्ञान भय देता है।
परिचित होते ही भय की जगह अभय और आनन्द ले लेता है।
एकाकीपन के घेरे में स्वयं सच्चिदानन्द विराजमान है।
अपने में उतरकर स्वयं प्रभु को पा लिया जाता है।
इससे कहता हूँ अकेलेपन से, अपने से भागो मत, वरन् अपने में डूबो।
सागर में डूबकर ही मोती पाये जाते हैं।

४८ / ज्ञान से अहंकार विसर्जित

रात्रि पानी गिरा है। सडकें भीगी हुई है। हवाएँ आद्र हैं और आकाश म अब भी बादल है। लगता है कि सूरज नही निकलेगा। सुबह बडी उदास लग रही है।

एक युवक आये है। बहुत पढ लिख रखा है ऐसा मालूम होता है। बातो मे किताबो ही किताबो की गध है। यह गध कितनी ऊब पैदा करती है!

मैं उन्हें सुनता हूँ वैसे वे ही मुझ सुनने आये थे। एक घटा बोलते रहे है पर जो कहा है सब पराया है।

हमारी आज की शिक्षा यही यात्रिकता ला रही है। वह सृजनात्मक नही है। विचार का नही उससे केवल स्मृति का ही जन्म होता है।

विचार तो मिल जाते हैं, पर विचार शक्ति नहीं मिलती।

यह स्थिति बहुत घातक है। इसम अपना व्यक्तित्व और विचार अपनी स्वानुभूति का कोई विकास नही हो पाता है। व्यक्ति केवल यत्र की भाँति दूसरो को दोहराता है।

वह शिक्षा वास्तविक नही है जो केवल स्मृति को ही भरती है।

ऐसी शिक्षा शिक्षा का आभास मात्र ही है।

शिक्षा से तो उस अतर्दृष्टि का जन्म होना चाहिए जो स्वय समस्याओ मे देखने मे समर्थ होती है।

समस्याएँ मेरी है तो समाधान दूसरा के काम नही द सकते है।

और फिर प्रत्येक समस्या इतनी नयी है कि कोई भी पुराना समाधान उसके लिए समाधान नही हो सकता है।

शिक्षा म हमारे भीतर जो प्रसुप्त शक्ति है—मेधा है उसका जागरण होना चाहिए न कि हम केवल उन विचारो म भर दिया जाना चाहिए जो कि न हमने जिये हैं और न जाने है जो कि हमारे लिए एकदम मृत हैं। और जिनसे केवल हमारा भार ही बढ सकता है।

इस मृत-भार के नीचे मेधा का जागरण असभव हो जाता है।

मैं रोज अपने चारो ओर ऐसे लोगों का देख रहा हूँ जो कि उन विचारो के बोझ से दब जा रहे है जो कि उन्होने जान नही स्वीकार कर लिये है।

वह विचार जो स्वय नही जाना गया है अनिवार्यत भार बन जाता है।

शिक्षा विचारो का निष्क्रिय स्वीकार नही होना चाहिए। वह तो सक्रिय समझ और सृजनात्मक बोध पर आधारित हो तो ही सार्थक है।

मैं इन बातों मे उन युवक को भूला ही जा रहा हूँ। वे जब अपने—जो कि जरा भी अपने नही है—विचारो को बोलकर चुप हुए तो उन्होंने गौरव से चारो ओर इस भाव से देखा कि मैं भी जानता हूँ।

ज्ञान कितना कठिन पर ज्ञान का अहकार कितना आसान है!

ज्ञान तो नहीं आ पाता है, पर अहंकार अवश्य आ जाता है। और स्मरण रहे कि वे दोनों बिलकुल ही विपरीत आयाम है।

ज्ञान तो अहंकार की मृत्यु है। और जहां वह हो, वहां जाना जा सकता है कि ज्ञान नहीं है। वह ज्ञान के अभाव की पर्याप्त सूचना है।

ज्ञान अहंकार-शून्यता लाता है।

व्यक्ति जितना जानता है, उतना ही उसे अज्ञान का बोध प्रगाढ़ होता जाता है।

ज्ञान रहस्य को मिटाता नहीं, खोलता है। और उस क्षण जब जगत् का और स्वयं का संपूर्ण रहस्य सामने होता है—**ज्ञान के उस उत्ताप बिंदु पर—व्यक्ति शून्य हो जाता है** और उसका समस्त अहं-बोध विसर्जित हो जाता है।

अहंकार अज्ञान के अंधकार की उत्पत्ति था, ज्ञान के प्रकाश में वह मर जाता है।

मैं थोड़ी देर चुप रहा और फिर उनसे कहा . मैं आपको सुनना चाहता था, पर आप तो कुछ कहते ही नहीं है। यह जो कहा, इसमें कुछ भी आपका नहीं है। यह सब तो उधार है। और पराये से समृद्धि नहीं आती है। उससे दरिद्रता ढँक सकती है, पर मिटती नहीं है।

सत्य के संबंध में केवल अपनी ही अनुभूति सत्य और जीवित होती है। वह हो तो जीवन में क्रांति हो जाती है, अन्यथा सत्य के संबंध में मृत, पराये विचार ढोने से कुछ भी हाथ नहीं आता है। उससे केवल बोझ ही बढ़ता है और स्वानुभव की संभावना दूर हो जाती है।

ज्ञान जो अपना नहीं है, उस ज्ञान के उदय में बाधा बन जाता है, जो कि केवल अपना ही हो सकता है।

संध्या रुकी-सी लगती है। पश्चिमोन्मुख सूरज बादलों मे छिप गया है, पर रात्रि अभी नही हुई। **एकांत है : बाहर भी, भीतर भी। अकेला हूँ—कोई बाहर नहीं है, कोई भीतर भी नहीं है।**

मैं इस समय कहीं भी नहीं हूँ या कि वहां हूँ, जहाँ शून्य है। और जब मन शून्य होता है, तो होता ही नही है।

यह मन अद्भुत है।

प्याज की गाँठ की तरह अनुभव होता है।

एक दिन प्याज को देख कर यह स्मरण आया था। उसे छीलता था; छीलता गया—परतों पर परते निकलती गयी और फिर हाथ मे कुछ भी न बचा। मोटी खुरदरी परते, फिर मुलायम चिकनी परते और फिर कुछ भी नहीं।

मन भी ऐसा ही है. उघाडते चले—स्थूल परते, फिर सूक्ष्म परते, फिर शून्य।

विचार, वासनाएँ और अहकार और बस, फिर कुछ भी नही है, फिर शून्य है।

इस शून्य को उघाड लेने को ही मैं ध्यान कहता हूँ।

यह शून्य ही हमारा स्वरूप है।

वह, जो अतत. शेष बच रहता है, वही स्वरूप है।

उसे आत्मा कहे, चाहे अनात्मा। शब्द से कुछ अर्थ नही है।

विचार, वासना, अहकार जहाँ नही है, वही वह है—'जो है।'

ह्यूम ने कहा : "जब भी मैं अपने मे जाता हूँ, कोई 'मैं' मुझे वहाँ नही मिलता है—या तो विचार से टकराता हूँ, या किसी वासना मे या किसी स्मृति से। पर स्वयं से कोई मिलना नही होता है।"

यह बात ठीक ही है। **पर ह्यूम परतों से ही लौट आते हैं। यही उनकी भूल है। वे थोड़ा और गहरे जाते, तो वहाँ पहुँच जाते, जहाँ कि टकराने को कुछ भी नहीं है। वही है स्वरूप।**

जहाँ टकराने को कुछ भी शेष नही रह जाता है, वहाँ वह है, जो मैं हूँ।

उस शून्य पर ही सब खड़ा है, पर कोई यदि सतह से ही लौट आवे, तो उससे परिचय नही हो पाता है।

सतह पर ससार है, केंद्र मे स्व है।

सतह पर सब है, केंद्र मे शून्य है।

५० / 'मैं' का रहस्योद्घाटन

धूप में घूमकर लौटा हूँ। सर्दियों की कुनकुनी धूप कितनी सुखद मालूम होती है। सूरज निकला ही है और किरणों की गरमाहट आहिस्ता-आहिस्ता बढ़ रही है।

एक व्यक्ति साथ थे। मैं राह भर चुप रहा, पर वे बोलते ही रहे।

सुनता था, तो एक बात ध्यान में आयी कि हम कितनी बार 'मैं' का प्रयोग करते हैं। इस 'मैं' के केंद्र से ही सब जुड़ा रहता है।

जन्म के बाद समवत: 'मैं' का बोध सबसे पहले उठता है और मृत्यु के समय सबसे अन्त में यह जाता है। इन दो छोरों के बीच में भी उसका ही विस्तार होता है।

इतना सुपरिचित यह 'मैं' है, पर कितना अज्ञात भी है! इससे अधिक रहस्यमय शब्द मानवीय भाषा में दूसरा नहीं है।

जीवन बीत जाता है, पर 'मैं' का रहस्य शायद ही उघड़ पाता हो!

यह 'मैं' कौन है?

इसे अस्वीकार करना भी संभव नहीं है। निषेध में भी यह प्रस्तावित हो जाता है। 'मैं नहीं हूँ' कहने में भी वह उपस्थित हो जाता है।

मानवीय बोध में यह 'मैं' सबसे सुनिश्चित और असंदिग्ध तत्त्व है।

'मैं हूँ'—यह बोध तो है, पर 'मैं कौन हूँ'—यह सहज ज्ञान नहीं है। इसे जानना साधना से ही सुलभ है।

समस्त साधना 'मैं' को जानने की साधना है। समग्र धर्म, समस्त दर्शन इस एक प्रश्न के ही उत्तर हैं।

'मैं कौन हूँ?' इसे प्रत्येक को अपने से पूछना है।

सब छूट जाये और एक प्रश्न ही रह जाये। सारे मन पर गूँजती यह एक जिज्ञासा ही रह जाये।

तो ऐसे यह प्रश्न अचेतन में उतर जाता है।

प्रश्न जैसे-जैसे गहरा होने लगता है, वैसे-वैसे सतहों तादात्म्य टूटने लगते हैं।

दीखने लगता है कि मैं शरीर नहीं हूँ। दीखने लगता है कि मैं मन नहीं हूँ। दीखने लगता है कि मैं तो वह हूँ, जो सबको देख रहा है। द्रष्टा हूँ मैं, साक्षी हूँ मैं।

यह अनुभूति 'मैं' के वास्तविक स्वरूप का दर्शन बन जाती है।

शुद्ध-बुद्ध, द्रष्टा-चेतना का साक्षात् हो जाता है।

इस सत्-ज्ञान के उदय से जीवन के रहस्य का द्वार खुलता है।
अपने से परिचित होकर हम जगत् के समस्त रहस्य से परिचित हो जाते हैं।
'मैं' का ज्ञान ही प्रभु का ज्ञान बन जाता है।
इसलिए, कहता हूँ कि यह 'मैं' बहुमूल्य है।
इसकी परिपूर्ण गहराई में उतर जाना, सब-कुछ पा लेना है।

५१ / धर्म विचार नहीं, साधना है

रात्रि की शांति मे नगर सो गया है। एक अतिथि को साथ लेकर मैं घूमकर लौटा हूँ। मार्ग मे बहुत बाते हुई हैं। अतिथि अनात्मवादी हैं। विद्वान् हैं और उन्होंने खूब पढा-लिखा है। बहुत तर्क उन्होने इकट्ठे किये हैं। मैंने वह सब शात हो सुना है और फिर सिर्फ एक ही बात पूछी है कि क्या इन सारे विचारो से शाति और आनन्द उन्हे उपलब्ध हो रहा है ?

इस पर वे थोडे सकुचा गये है और उत्तर नही खोज पाये हैं।

सत्य की कसौटी तर्क नही है। सत्य की कसौटी विचार नही है।

सत्य की कसौटी है आनन्दानुभूति।

विचार-सरणी सम्यक् हो तो परिणाम मे जीवन आनन्द-चेतना से भर जाता है।

इस स्थिति को ही पाने के लिए सब विचार हैं और जो विचार-दर्शन यहाँ नही ले आता, वह अविचार ही ज्यादा है।

इससे, मैंने उनसे कहा 'मैं आपकी बातो का विरोध नही करता हूँ। बस, आपसे ही—अपने आपसे यह प्रश्न पूछने की विनय करता हूँ।'

धर्म विचार नही है। वह तो भागवत्-चैतन्य उपलब्ध करने का एक विज्ञान मात्र है।

उसकी परीक्षा विवाद में नहीं, प्रयोग में है।

वह सत्य-निर्णय नहीं, सत्य-साधना और सिद्धि है

एक झोपड़े मे बैठा हूँ। छप्पर की रन्ध्रो से सूरज का प्रकाश गोल चकतों मे फर्श पर पड़ रहा है। उनमे उड़ते धूलिकण दीख रहे हैं। प्रकाश के वे अंग नही हैं, पर उन्होने प्रकाश को धूमिल कर दिया है। वे प्रकाश को छू भी नही सकते हैं, क्योकि वे अत्यत भिन्न और विजातीय है, फिर भी प्रकाश उनके कारण मैला हो गया दीखता है। प्रकाश तो अब भी प्रकाश है। उसके स्वरूप मे कोई भेद नही पड़ा है। पर उसकी देह—उसकी अभिव्यक्ति—अशुद्ध हो गयी है। इन विजातीय अतिथियों के कारण आतिथेय बदला हुआ दीख रहा है।

ऐसा ही मनुष्य की आत्मा के साथ भी हुआ है।

उसमे भी बहुत-से विजातीय धूलिकण अतिथि बन गये हैं और उन धूलिकणो मे उसका जो स्वरूप है, वह छिप गया है।

आतिथेय जैसे बहुत अतिथियों मे खो जाय और पहचाना न जा सके, ऐसा ही हो गया है।

पर जो जीवन से परिचित होना चाहते हैं और सत्य का साक्षात् करना चाहते है, उनके लिए आवश्यक है कि वे अतिथियो की भीड मे उसे पहचाने जो कि अतिथि नही है और गृहपति है।

इस गृहपति को जाने बिना जीवन एक निद्रा है। उसकी पहचान से ही जागरण का प्रारम्भ होता है।

वह पहचान ही ज्ञान है। उस पहचान से उससे परिचय होता है जो कि नित्य-शुद्ध-बुद्ध है।

प्रकाश धूलिकणो मे अशुद्ध नही होता है, न ही आत्मा होती है।

प्रकाश धूमिल हो जाता है, आत्मा विस्मरण हो जाती है।

आत्मा के प्रकाश पर कौन-सी धूल है?

वह सब जो भी मुझमे बाहर से आया है—वह सब धूल है। उसके अतिरिक्त जो मुझमे है, वही मेरा स्वरूप है।

इंद्रियो से जो भी उपलब्ध और संगृहीत हुआ है, वह सब धूल है।

ऐसा क्या है मुझमे, जो इंद्रियो से उपलब्ध नही है? रूप, रस, गध, स्पर्श, ध्वनि—इनके अतिरिक्त और मुझमे क्या है?

वह सत्य है चेतना—जो कि इंद्रियो से गृहीत नही है।

वह इंद्रियों से नहीं आयी है—वरन् उनके पीछे है ।

यह चेतना ही मेरा स्वरूप है : शेष सब विजातीय धूल है । वही गृहपति है, शेष सब अतिथि हैं ।

इस चेतना को ही जानना और उघाड़ना है ।

उसमे ही उस सपदा की उपलब्धि होती है, जो कि अविनश्वर है ।

५३ / अमृत द्रष्टा का अपरोक्ष बोध

भोर का आखिरी तारा डूब रहा है। कुहासे में ढँकी सुबह का जन्म होने को है। पूरब पर प्रसव की लाली फैल गयी है।

एक मित्र ने अपने किसी प्रियजन की मृत्यु की खबर दी है। रात्रि ही देह से उनका सम्बन्ध टूटा है। फिर, थोड़ी देर की चुप्पी के बाद वे मृत्यु पर बात करने लगे हैं। बहुत-सी बातें और अंत में उन्होंने पूछा 'रोज मृत्यु होती है, फिर भी प्रत्येक ऐसे जीता जाता है कि जैसे उसे नही मरना है! यह समझ में ही नही आता है कि मैं भी मर सकता हूँ। इतनी मृत्यु के बीच, यह अमृत्यु का विश्वास क्यो है?'

यह विश्वास बहुत अर्थपूर्ण है। यह इसलिए है कि **मर्त्य देह में जो बैठा है, वह मर्त्य नहीं है।** मृत्यु की परिधि है, पर केंद्र पर मृत्यु नही है।

वह जो देख रहा है—देह-मन का द्रष्टा—वह जानता है कि मैं देह और मन से पृथक् हूँ।

वह मर्त्य का द्रष्टा, मर्त्य नही है।

वह जान रहा है 'मेरी मृत्यु नही है। मृत्यु केवल देह-परिवर्तन है। मैं नित्य हूँ सब मृत्युओ को पार करके भी मैं अमृत शेष रह जाता हूँ।'

पर, यह बोध अचेतन है, इसे चेतना बना लेना ही मुक्त हो जाना है।

मृत्यु प्रत्यक्ष दीखती है, अमृत का बोध परोक्ष है—उसे भी जो प्रत्यक्ष बना लेता है, वह जान लेता है उसे—जिसका न जन्म है, न मृत्यु है।

वह जीवन—जो जीवन और मृत्यु के अतीत है—पा लेना ही मोक्ष है।

वह प्रत्येक के भीतर है, उसे केवल जानना भर है।

एक साधु से किसी ने पूछा था : 'मृत्यु क्या है और जीवन क्या है?—यह जानने आपके पास आया हूँ।' उस साधु ने प्रत्युत्तर में जो कहा, वह अद्भुत है। उसने कहा था 'तब कही और जाओ। मैं जहाँ हूँ, वहाँ न मृत्यु है, न जीवन है।'

५४ / विकारों की खाद और दिव्यता के फूल

मैंने कल कहा है · मिट्टी फूल बन जाती है। और गदगी खाद बनकर सुगध में परिणत होती है। ऐसे ही मनुष्य के विकार हैं। वे शक्तियाँ हैं। जो मनुष्य मे पशु जैसा दीखता है, वही दिशा परिवर्तित होने पर दिव्यता को उपलब्ध हो जाता है। पशुता मे और दिव्यता में विरोध नही, विकास है।

इसलिए, अदिव्य भी बीजरूप मे दिव्य है।

और तब, **वस्तुतः, अदिव्य कुछ भी नहीं है**। समस्त जीवन दिव्यता है। सब कुछ दिव्य है।

भेद केवल उस दिव्यता की अभिव्यक्ति के हैं।

और, ऐसा देखने पर कुछ भी घृणा करने योग्य नही रह जाता है।

जो एक छोर पर पशु है, वही दूसरे छोर पर प्रभु है।

पशुता में और दिव्यता में विरोध नहीं, विकास है।

ऐसी पृष्ठभूमि मे चलने पर आत्म-दमन और उत्पीडन व्यर्थ है। वह सघर्ष अवैज्ञानिक है।

अपने को दो मे तोडकर कोई कभी आत्म-शांति और ज्ञान को उपलब्ध नही हो सकता है।

जो मैं ही हूँ, उसके एक अश को नष्ट नही किया जा सकता।

वह दब सकता है, लेकिन जिसका दमन किया गया है, उसका निरतर दमन करना होता है।

जो हराया गया है, उसे निरतर हराना होता है।

विजय उस मार्ग से कभी पूर्ण नही हो पाती है।

विजय का पथ दूसरा है।

वह दमन का नही, ज्ञान का है।

वह गदगी को हटाने का नही है, क्योकि वह **गंदगी भी मैं ही हूँ। वह उसे खाद बनाने का है। इसे ही पुरानी अलकेमी मे 'लोहे को स्वर्ण बनाना' कहा गया है।**

५५ / 'स्व' और 'पर' की पृथकता से ही अभय

महावीर ने पूछा है : **'श्रमणो, प्राणियों को भय क्या है ?'**

कल कोई यही पूछता था। और कोई पूछे या न पूछे, प्रश्न तो यही प्रत्येक की आँखो में है। शायद यह सनातन प्रश्न है और शायद यह अकेला ही प्रश्न है, जो सार्थक भी है।

प्रत्येक भयभीत है। ज्ञात में, अज्ञात में, भय सरक रहा है। उठते-बैठते, सोते-जागते भय बना हुआ है। प्रत्येक क्रिया मे, व्यवहार मे, विचार मे भय है। प्रेम मे, घृणा मे, पुण्य मे, पाप में—सब मे भय है। मानो हमारी पूरी चेतना ही भय से निर्मित है। हमारे विश्वास, धारणाएँ, धर्म और ईश्वर—भय के अतिरिक्त और क्या हैं ?

यह भय क्या है ?

भय के रूप अनेक है, पर भय एक ही है। वह मृत्यु है। वह मूल भय है।

मिटने की, न हो जाने की संभावना ही समस्त भय के मूल में है। मय अर्थात् न हो जाने की, मिटने की आशका। इस आशका से बचने का पूरे जीवन प्रयास चलता है।

सब प्रयास इस मूल असुरक्षा से बचने को हैं।

पर, पूरे जीवन दौडकर भी 'होना' सुनिश्चित नही हो पाता है। दौड हो जाती है समाप्त—असुरक्षा वैसी ही बनी रहती है। जीवन हो जाता है पूरा, और मृत्यु टल नही पाती है। उलटे, जो जीवन दीखता था, वह पूरा होकर मृत्यु मे परिणत हो जाता है। तब ज्ञात होता है कि जीवन जैसे था ही नही, केवल मृत्यु विकसित हो रही थी। जन्म और मृत्यु जैसे मृत्यु के ही दो छोर थे।

यह मृत्यु का भय क्यो है ? मृत्यु तो अज्ञात है वह तो अपरिचित है। उसका भय कैसे होगा ? जो ज्ञात ही नही है, उससे सबध भी क्या हो सकता है ?

वस्तुत, जिसे हम मृत्यु का भय कहते है, वह मृत्यु का न होकर, जिसे हम जीवन जानते है, उसके खोने का डर है। जो ज्ञात है, उसके खोने का भय है।

जो ज्ञात है, उससे हमारा तादात्म्य है। वही हमारा होना बन गया है। वही हमारी सत्ता बन गयी है। मेरा शरीर, मेरी सपत्ति, मेरी प्रतिष्ठा, मेरे सबध, मेरे सस्कार, मेरे विश्वास, मेरे विचार—यही मेरे 'मैं' के प्राण बन गये हैं। यही 'मैं' हो गया है।

मृत्यु इस 'मैं' को छीन लेगी। यही भय है।

इस सबको इकट्ठा किया जाता है—भय से बचने को, सुरक्षा पाने को और होता उलटा है। इसे खोने की आशका ही भय बन जाती है।

मनुष्य साधारणत. जो भी करता है, वह सब जिसके लिए किया जाता है, उसके विपरीत चला जाता है।

अज्ञान में आनन्द के लिए उठाये गये सब कदम दुःख में ले जाते हैं। अभय के लिए चला गया रास्ता, और भय में ले जाता है। जो 'स्व' की प्राप्ति मालूम होता है, वह 'स्व' नहीं है। यदि इस सत्य के प्रति जागना हो जाये—यदि मैं यह जान सकूँ कि जिसे मैंने 'मैं' जाना है, वह 'मैं' नहीं हूँ और इस क्षण भी मेरे तादात्म्यों से मैं भिन्न और पृथक् हूँ, तो भय विसर्जित हो जाता है।

मृत्यु मे जो 'पर' है, वही खोता है।

इस सत्य को जानने के लिए कोई क्रिया, कोई उपाय नहीं करना है।

केवल उन-उन तथ्यों को जानना है, उन-उन तथ्यों के प्रति जागना है, जिन्हें मैं समझता हूँ कि 'मैं' हूँ—जिनसे मेरा तादात्म्य है।

जागरण तादात्म्य तोड़ देता है।

जागरण 'स्व' और 'पर' को पृथक् कर देता है।

स्व और पर का तादात्म्य भय है।

और उनका पृथक् बोध भय-मुक्ति है—अभय है।

एक साधु ने अपने आश्रम के अतेवासियो को जगत् के विराट् विद्यालय में अध्ययन के लिए यात्रा को भेजा था। समय पूरा होने पर वे सब, केवल एक को छोड़कर, वापस लौट आये थे। उनके ज्ञानार्जन और उपलब्धियो को देखकर गुरु बहुत प्रसन्न हुआ था। वे बहुत-कुछ सीखकर वापस लौटे थे। फिर, अत में पीछे छूट गया युवक भी लौटा। गुरु ने उससे कहा 'निश्चय ही तुम सबसे बाद मे लौटे हो, इसलिए सर्वाधिक सीखकर लौटे होओगे।' उस युवक ने कहा 'मै कुछ भी सीखकर नही लौटा हूँ, उलटा जो आपने सिखाया था, वह भी भूल आया हूँ।' इससे अधिक निराशाजनक और क्या उत्तर हो सकता था!

फिर, एक दिन वह युवक गुरु की मालिश कर रहा था। गुरु की पीठ को मलते हुए उसने स्वगत ही कहा **'मंदिर तो बहुत सुंदर है, पर भीतर भगवान् की मूर्ति नहीं है।'** गुरु ने सुना। उसके क्रोध का ठिकाना न रहा। निश्चय ही वे शब्द उससे ही कहे गये थे। उसके ही सुदर शरीर को उसने मदिर कहा था। और, गुरु के क्रोध को देखकर वह युवक हँसने लगा था। वह ऐसा ही था कि जैसे कोई जलती अग्नि पर और घृत डाल दे। गुरु ने उसे आश्रम से अलग कर दिया था।

और फिर, एक सुबह जब गुरु अपने धर्मग्रंथ का अध्ययन कर रहा था, वह युवक अनायास कही से आकर पास बैठ गया था। वह बैठा रहा, गुरु पढ़ता रहा। और तभी एक जगली मधुमक्खी कक्ष मे आकर बाहर जाने का मार्ग खोजने लगी थी। द्वार तो खुला ही था—वही द्वार, जिससे वह भीतर आयी थी, पर वह बिलकुल अधी होकर बंद खिडकी से निकलने की व्यर्थ चेष्टा कर रही थी। उसकी भनभन मदिर के सन्नाटे मे गूँज रही थी। उस युवक ने खडे होकर जोर से उस मधुमक्खी से कहा 'ओ, **नासमझ, वहाँ द्वार नही, दीवार है। रुक और पीछे देख—Stop and see back.** जहाँ से तेरा आना हुआ है, द्वार वही है।'

मधुमक्खी ने तो नही, पर उस गुरु ने ये शब्द अवश्य सुने और उसे द्वार मिल गया। उसने उस युवक की आँखो मे पहली बार देखा। वह वही नही था, जो यात्रा पर गया था। ये आँखे दूसरी ही थी। उसने उस दिन जाना कि वह जो सीखकर आया है, वह कोई साधारण सीखना नही है।

वह सीखकर नही, कुछ जानकर आया था।

गुरु ने उससे कहा 'मै आज जान रहा हूँ कि मेरा मदिर भगवान् से खाली है, और मै आज जान रहा हूँ कि मै आज तक दीवार से ही सिर मारता रहा हूँ, और द्वार

मुझे नहीं मिला है। पर अब मैं द्वार को पाने के लिए क्या करूँ ? और क्या करूँ कि मेरा मंदिर भगवान् से खाली न रहे ?

उस युवक ने कहा : 'भगवान को चाहते हो, तो स्वयं से खाली हो जाओ। जो स्वय से भरा भरा है, वही भगवान् से खाली है। और जो स्वय से खाली हो जाता है, वह पाता है कि वह सदा से ही भगवान् से भरा हुआ था। और इस सत्य तक द्वार पाना चाहते हो, तो वही करो, जो अब वह मधुमक्खी कर रही है।'

गुरु ने देखा कि मधुमक्खी अब कुछ भी नहीं कर रही है। वह दीवार पर बैठी है, और बस, बैठी है। उसने समझा। उसने जागा। जैसे अंधेरे मे बिजली कौंध गई हो—ऐसे उसने जाना। और उसने यह भी देखा कि वह मधुमक्खी द्वार से बाहर जा रही है।

५७ / मूछित मनुष्य की दरिद्रता

नील नभ के नीचे सूरज की गरमी फैल गयी है। सर्दी घनी हो गयी है और दूब पर जमे ओस-कण वर्फ जैसे ठंडे लगते हैं। फूलों से ओस की बूंदें टपक रही हैं। रातरानी रात भर सुगंध देकर सो गयी है।

एक मुर्गा बाँग देता है और फिर दूर-दूर से उसके प्रत्युत्तर आते हैं। वृक्ष मलय के झोंको से कँप रहे हैं और चिडियो के गीत बंद ही नहीं होते है।

सुबह अपने हस्ताक्षर सब जगह कर देती है। सारा जगत् अचानक कहने लगता है कि सुबह हो गयी है।

मैं बैठा, दूर वृक्षों में खो गये रास्ते को देखता हूँ। धीरे-धीरे राह भरने लगती है और लोग निकलते हैं। वे चलते, पर सोये से लगते हैं। **किसी आंतरिक तद्रा ने सबको पकड़ा हुआ है।** सुबह के इन आनन्द-क्षणों के प्रति वे जागे हुए नही लगते है, जैसे कि उन्हे ज्ञात ही नही कि जो जगत् के पीछे है, वह इन क्षणो में अनायास ही प्रकट हो जाता है।

जीवन में कितना सगीत है--और मनुष्य कितना बधिर है!

जीवन में कितना सौंदर्य है और मनुष्य कितना अंधा है!

जीवन में कितना आनन्द है--और मनुष्य कितना संवेदन-शून्य है!

उस दिन उन पहाड़ियों पर गया था। उन सुदर पर्वत-पक्तियो मे हम देर तक रुके थे, पर जो मेरे साथ थे, वे जीवन की दैनदिन क्षुद्र बातो मे ही लगे हुए थे-- उन सब बातो मे जिनका कोई अर्थ नही, जिनका होना न होना बराबर है। इन बातो ने उन्हे उस पर्वतीय सध्या के सौदर्य से वचित कर दिया था।

इस तरह क्षुद्र में आवेष्टित हम विराट् से अपरिचित रह जाते है और जो निकट ही है, वह अपने ही हाथों दूर पड जाता है।

मैं कहना चाहता हूँ. ओ मनुष्य! तुझे खोना कुछ भी नही है, सिवाय अपने अचेतन के, और पा लेना है सब-कुछ। **अपने हाथों बने भिखारी! आँखे खोल। पृथ्वी और स्वर्ग का सारा राज्य तेरा है।**

५८ / समयशून्यता और ध्यान में प्रवेश

कल दोपहर एक पहाडी के अंचल मे थे। धूप-छाया के विस्तार मे बड़ी सुखद घड़ियाँ बीती। निकट ही था एक तालाब और हवा के तेज थपेडों ने उसे बेचैन कर रखा था। लहरे उठती-गिरती और टूटती। उसका सब-कुछ विक्षुब्ध था।

फिर हवाएँ सो गयी और तालाब भी सो गया।

मैने कहा : 'देखो, जो बेचैन होता है, वह शात भी हो सकता है। बेचैनी अपने मे शाति को छिपाये हुए है। तालाब अब शात है। तब भी शात था। लहरें ऊपर ही थी, भीतर पहले भी शांति थी।'

मनुष्य भी ऊपर ही अशांत है। लहरें ऊपर ही हैं, भीतर गहराई में घना मौन है।

विचारो की हवाओ से दूर चले और शात सरोवर के दर्शन शुरू हो जाते है।

यह सरोवर 'अभी और यही' पाया जा सकता है। समय का प्रश्न ही नहीं है। क्योकि, समय वही तक है, जहाँ तक विचार है।

ध्यान समय के बाहर है।

ईसा ने कहा है : 'और, वहाँ समय नहीं है। And there shall be time no longer'

समय मे दुख है। समय दुख है।

समयातीत होना आनन्द मे होना है। समयातीत होना आनन्द होना है।

चलो मित्र, समय के बाहर चले—वही हम है।

समय के भीतर जो दीखता है, वह समय के बाहर ही है। इतना जानना ही चलना है।

जाना कि हवाएं रुक जाती है। और सरोवर शात हो जाता है।

५९ / पूर्णशून्यता+पूर्णचैतन्य=समाधि

मैं मनुष्य को शब्दो से घिरा देखता हूँ।

पर शास्त्र और शब्द व्यर्थ है।

उस भाँति सत्य के सम्बन्ध में जाना जा सकता है, लेकिन सत्य को जानने का वह मार्ग नही है।

शब्द से सत्ता नही आती है। सत्ता का द्वार शून्य है।

शब्द से नि शब्द मे छलाँग लगाने का साहस ही धार्मिकता है।

विचार 'पर' को जानने का उपाय है, वह 'स्व' को नही देता है। 'स्व' उसके भी पीछे जो है। 'स्व' सबके पूर्व है। 'स्व' से हम सत्ता मे संयुक्त हैं।

विचार भी 'पर' है। वह भी जब नही है, तब 'जो है' वह होता है। उसके पूर्व मैं 'अहं' हूँ और उसमे 'ब्रह्म' हूँ।

सत्य मे—सत्ता मे, स्व-पर मिट जाता है। वह भेद भी विचार मे और विचार का ही था।

चेतना के तीन रूप है (१) बाह्य मूर्च्छित—अतर्मूर्च्छित, (२) बाह्य जागृत—अतर् मूर्च्छित, और (३) बाह्य जागृत—अतर् जागृत।

पहला रूप मूर्च्छा—**अचेतना** का है। वह जडता है। वह विचार-पूर्व स्थिति है।

दूसरा रूप अर्ध-मूर्च्छा—**अर्ध-चेतना** का है। वह जड और चेतन के बीच है। वह विचार की स्थिति है।

तीसरा रूप अमूर्च्छा—**पूर्ण चेतना** का है। वह पूर्ण चैतन्य है और विचारातीत है।

सत्य को जानने को केवल विचाराभाव ही नही पाना है। वह तो जड़ता मे, मूर्च्छा मे ले जाता है। धर्म के नाम से प्रचलित बहुत-सी क्रियाएँ मूर्च्छा मे ही ले जाती है। शराब, सेक्स और सगीत भी मूर्च्छा मे ही ले जाते है। मूर्च्छा मे पलायन है। वह वह उपलब्धि नही है।

सत्य को पाने को विचारशून्यता+चैतन्य पाना होता है। उस स्थिति का नाम ही समाधि है।

६० / मनुष्य जीवन की संभावना

पूर्णिमा है, लेकिन आकाश बादलों से ढँका है ।

मैं राह से आया हूँ। एक रेत के ढेर पर कुछ बच्चे खेल रहे थे। उन्होंने रेत के कुछ घर बनाये और उस पर से ही उनके बीच मे झगडा हो गया था। रेत के घरों पर ही सारे झगड़े होते हैं। वे तो बच्चे ही थे, पर थोडी देर मे जो बच्चे नही थे, वे भी उसमें सम्मिलित हो गये। बच्चो के झगड़े में, बाद मे, बडे भी सम्मिलित हो गये थे।

मैं किनारे खड़ा सोचता रहा कि बच्चों और बड़ों का विभाजन कितना कृत्रिम है ! आयु वस्तुतः कोई भेद नही लाती, और उसमे प्रौढ़ता का कोई सम्बन्ध नही है।

हममे से अधिक बच्चे ही मर जाते है।

लाओत्से के संबंध मे कथा है कि वह बूढ़ा ही पैदा हुआ था। यह बात बहुत अस्वाभाविक लगती है।

पर, क्या इससे भी अधिक अस्वाभाविक घटना यह नही है कि कोई मरते समय तक भी प्रौढता को उपलब्ध न हो पाये !

शरीर विकसित हो जाते है, पर चित्त वही का वही ठहरा रह जाता है। तभी तो सभव है कि रेत के घर पर झगडे चले और आदमी-आदमी के वस्त्रों को उतार क्षण मे नग्न हो जाये और जाहिर कर दे कि सब विकास की बाते व्यर्थ है ! और कौन कहता है कि मनुष्य पशु से पैदा हुआ है ?

मनुष्य के पशु से पैदा होने की बात गलत है, क्योंकि वह तो अभी भी पशु ही है !

क्या अभी मनुष्य पैदा नही हुआ है ?

मनुष्य को गहरा देखने मे जो उत्तर मिलता है, वह 'हाँ' मे नही मिलता है।

डायोजिनीज दिन को, भरी दोपहरी मे भी अपने साथ एक जलती हुई लालटेन लिये रहता था, और कहता था कि मैं मनुष्य को खोज रहा हूँ। वह जब वृद्ध हो गया था, तो किसी ने उससे पूछा कि क्या उसे अब भी 'मनुष्य' को खोज लेने की आशा है। उसने कहा 'हाँ। क्योंकि अब भी जलती हुई लालटेन मेरे पास है !'

मैं खड़ा रहा हूँ और उस रेत के ढेर के पास बहुत भीड इकट्ठी हो गयी है और लोग गाली-गलौज का और एक-दूसरे को डराने-धमकाने का बहुत रस-मुग्ध हो पान कर रहे है। जो लड रहे है, उनकी आँखों मे भी बहुत चमक मालूम हो रही है। कोई पाशविक आनंद जरूर उनकी आँखों और गतिविधियो मे प्रवाहित हो रहा है।

जिब्रान ने लिखा है. एक दिन मैने खेत मे खडे एक काठ के पुतले से पूछा 'क्या तुम इस खेत मे खडे-खड़े उकता नही जाते हो ?' उसने उत्तर दिया. 'ओह ! पक्षियो को डराने का आनंद इतना अधिक है कि समय कब बीत जाता है, कुछ पता

नही चलता । मैंने क्षण भर सोचकर कहा . 'यह सत्य है क्योकि, मुझे भी इस आनंद का अनुभव है ।' पुतला बोला : 'हाँ, वे ही व्यक्ति जिनके शरीर मे घास-फूस भरा है, इस आनंद से परिचित हो सकते ह ! ' पर, इस आनंद से तो सभी परिचित मालूम होते हैं । क्या हम सबके भीतर भी घास-फुस ही नही भरा हुआ है ? और क्या हम भी खेत में खडे झूठे आदमी ही नही है ?

उस रेत के ढेर पर यही आनंद देखकर लौटा हूँ और क्या सारी पृथ्वी के ढेर पर भी यही आनद नही चल रहा है ?

यह अपने से पूछता हूँ और रोता हूँ ।

उस मनुष्य के लिए रोता हूँ, जो कि पैदा हो सकता है, पर पैदा हुआ नही है ।

जो कि प्रत्येक के भीतर है, पर वैसे ही छिपा है, जैसे राख मे आग छिपी होती है ।

वस्तुत शरीर घास-फूस के ढेर से ज्यादा नही है और जो उस पर समाप्त है, अच्छा था कि वह किसी खेत मे होता, तो कम से कम फसलो को पक्षियो से बचाने के काम मे तो आ जाता ! मनुष्य की सार्थकता तो उतनी भी नही है !

शरीर से जो अतीत है, उसे जाने बिना कोई मनुष्य नही बनता है ।

आत्मा को जाने बिना कोई मनुष्य नहीं बनता है ।

मनुष्य की भाँति पैदा हो जाना एक बात है, मनुष्य होना बिलकुल दूसरी बात है ।

मनुष्य को तो स्वय को स्वयं के भीतर ही जन्म देना होता है । यह वस्त्रो की भाँति नही है कि उसे ओढा जा सके ।

मनुष्यता के वस्त्रो को ओढकर कोई मनुष्य नही बनता है, क्योकि वे उसी समय तक उसे मनुष्य बनाये रखते है, जब तक कि मनुष्यता की वस्तुत: कोई आवश्यकता नही पड़ती है । आवश्यकता आते ही, वे कब गिर जाते है, ज्ञान भी नही हो पाता है ।

बीज जैसे अपने प्राणो को परिवर्तित कर अंकुर बनता है—किन्हीं वस्त्रो को धारण करके नही, वैसे ही मनुष्य को भी अपनी समस्त प्राण-सत्ता एक नये ही आयाम मे अकुरित करनी होती है, तभी उसका जन्म होता है, और परिवर्तन होता है ।

और तब, उसका आनद काँटो को फेकने मे नही, काँटो को उठाने मे और फूलो को बिखेरने मे परिणत हो जाता है ।

वह घड़ी ही घोषणा करती है कि अब वह घास-फूस नही है—मनुष्य है, देह नही, आत्मा है ।

गुरजिएफ ने कहा है : 'इस भ्रम को छोड़ दें कि प्रत्येक के पास आत्मा है ।' सच हो जो सोया है, उसके पास आत्मा है या नहीं, इससे क्या अंतर पड़ता है ! वही वास्तविक है—जो है ।

आत्मा सबकी सभावना है, पर उसे जो सत्य बनाता है, वही उसे पाता है ।

९१ / चेतना का प्रसरण

मैं छोटे-छोटे तीन शब्दों पर मनुष्य की समग्र चेतना को घूमते हुए देखता हूँ। वे तीन शब्द कौन से हैं ?

वे शब्द हैं : विवेक, बुद्धि और वृत्ति।

विवेक से श्रेष्ठतम चलते हैं। बुद्धि मे वे—जो मध्यम है। और वृत्ति चेतना की निम्नतम दशा है।

वृत्ति पाशविक है। बुद्धि मानवीय है। विवेक दिव्य है।

वृत्ति सहज और अधी है। वह निद्रा है। वह अचेतन का जगत् है। वहाँ न शुभ है, न अशुभ। कोई भेद वहाँ नही है। इसमे कोई अंत. सघर्ष भी नही है। वह अधी वासनाओ का सहज प्रवाह है।

बुद्धि न निद्रा है, न जागरण। वह अर्ध-मूर्च्छा है। वह वृत्ति और विवेक के बीच सक्रमण है। वह दहलीज है। उसमे एक अश चैतन्य हो गया है। लेकिन शेष अचेतन है। इससे भेद बोध है। शुभ-अशुभ का जन्म है। वासना भी है, विचार भी है।

विवेक पूर्ण जागृति है। वह शुद्ध चैतन्य है। वह केवल प्रकाश है। वहाँ भी कोई सघर्ष नही है। वह भी सहज है। वह शुभ का, सत् का, सौदर्य का सहज प्रवाह है।

वृत्ति भी सहज, विवेक भी सहज। वृत्ति अधी सहजता, विवेक सजग सहजता।

बुद्धि भर असहज है। उसमे पीछे की ओर वृत्ति है, आगे की ओर विवेक है। उसके शिखर की लौ विवेक की ओर, और आधार की जड़े वृत्ति मे है। सतह कुछ, तलहटी कुछ।

यही खिचाव है।

पशु मे डूबने का आकर्षण—प्रभु मे उठने की चुनौती—उसमें दोनो एक हो साथ है।

इस चुनौती से डरकर जो पशु में डूबने का प्रयास करते है, वे भ्राति मे है।

जो अश चैतन्य हो गया है, वह अब अचेतन नही हो सकता है।

जगत्-व्यवस्था मे पीछे लौटने का कोई मार्ग नही है।

इस चुनौती को मानकर जो सतह पर शुभ-अशुभ का चुनाव करते है, वे भी भ्राति मे है। उस तरह का चुनाव व आचरण-परिवर्तन सहज नही हो सकता है। वह केवल चेष्टित अभिनय है।

और, जो चेष्टित है, वह शुभ भी नही है।

प्रश्न सतह पर नहीं है, तलहटी में है।
वहाँ जो सोया है, उसे जगाना है।
अशुभ नहीं, मूर्च्छा छोड़नी ।
अंधेरे में दीया जलाना है।
यह आज कहा है।

६२/ मौन का संगीत

दोपहर की शांति। उजली धूप और पौधे सोये-सोये से।

एक जामुन की छाया तले दूब पर आ बैठा हूँ। रह-रह कर पत्ते ऊपर गिर रहे है— अंतिम, पुराने पत्ते मालूम होते हैं।

सारे वृक्षों पर नयी पत्तियाँ आ गयी है। और नयी पत्तियों के साथ न मालूम कितनी नयी चिड़ियों और पक्षियो का आगमन हुआ है। उनके गीतो का जैसे कोई अत ही नही है।

कितने प्रकार की मधुर ध्वनियाँ इस दोपहर को संगीत दे रही हैं, सुनता हूँ और सुनता रहता हूँ और फिर मैं भी एक अभिनव संगीत-लोक में चला जाता हूँ।

'स्व' का लोक संगीत का लोक ही है।

यह संगीत प्रत्येक के पास है।

इसे पैदा नही करना होता है।

वह सुन पडे, इसके लिए केवल मौन होना होता है।

चुप होते ही कैसा एक परदा उठजाता है!

जो सदा से था, वह सुन पड़ता है और पहली बार ज्ञात होता है कि हम दरिद्र नही है।

एक अनन्त संपत्ति का पुनरोधिकार मिल जाता है।

फिर कितनी हँसी आती है—जिसे खोजते थे, वह भीतर ही बैठा था!

६३ / कल्पित 'मैं' की मृत्यु

रात पानी बरसा है। उसका गीलापन अभी तक है और मिट्टी से सोंधी सुगंध उठ रही है। सूरज काफी ऊपर उठ आया है और गायों का एक झुड जंगल जा रहा है। उनकी काठ की घटियाँ बड़ी मधुर बज रही है। मै थोडी देर तक उन्हें सुनता रहा हूँ। अब गायें दूर निकल गयी हैं और घटियों की फीकी प्रतिध्वनि ही शेष रह गयी है।

इतने मे कुछ लोग मिलने आये है। पूछ रहे है 'मृत्यु क्या है?'

मै कहता हूँ . जीवन को हम नही जानते है, इसलिए मृत्यु है।

स्व-विस्मरण मृत्यु है; अन्यथा मृत्यु नही है, केवल परिवर्तन है।

'स्व' को न जानने से एक कल्पित 'स्व' हमने निर्मित किया है। यही है हमारा 'मै'—अहंकार।

यह है नही, केवल भासता है।

यह झूठी इकाई ही मृत्यु में टूटती है।

इसके टूटने से दुःख होता है, क्योकि इसी से हमने अपना तादात्म्य स्थापित किया था।

जीवन में ही इस भ्रांति को पहचान लेना, मृत्यु से बच जाना है।

जीवन को जान लो और मृत्यु समाप्त हो जाती है।

जो है, वह अमृत है।

उसे जानते ही नित्य, शाश्वत जीवन उपलब्ध हो जाता है।

कल एक सभा मे यही कहा है . 'स्व-ज्ञान जीवन है। स्व-विस्मरण मृत्यु है।'

एक अध्यापक हैं। धर्म मे उनकी अभिरुचि है। धर्म-ग्रथों के अध्ययन मे जीवन लगाया है। धर्म की बात उठे, तो उनके विचार-प्रवाह का अंत नही आता है। एक अंतहीन फीते की भाँति उनके विचार निकलते आते हैं। कितने उद्धरण और कितने सूत्र उन्हें याद हैं, कहना कठिन है। कोई भी उनसे प्रभावित हुए बिना नही रहता है। वे एक चलते-फिरते विश्व-कोश हैं, ऐसी ही उनकी ख्याति है। कई बार मैंने उनके विचार सुने हैं और मौन रहा हूँ।

एक बार उन्होने मुझसे पूछा . 'मेरा उनके संबध मे क्या ख्याल है ?' मैंने जो सत्य था, वही कहा। कहा कि **ईश्वर के संबंध में विचार इकट्ठा करने में उन्होंने ईश्वर को गँवा दिया है।** वे निश्चित ही चौक गये लगे। फिर बाद मे आये भी। उसी सबध मे पूछने आये थे। आकर कहा कि . 'अध्ययन और मनन से ही तो सत्य को पाया जा सकता है। और तो कोई मार्ग भी नही है। ज्ञान ही तो सब-कुछ है।'

यह भ्रांत विचार कितनो का नही है !

मैं ऐसे सब लोगो से एक ही प्रश्न पूछता हूँ। वही उनसे भी पूछा था कि अध्ययन क्या है और उससे आपके भीतर क्या हो जाता है ? क्या कोई नयी दृष्टि का आयाम पैदा हो जाता है ? क्या चेतना किसी नये स्तर पर पहुँच जाती है ? क्या सत्ता मे कोई क्राति हो जाती है—क्या आप जो है, उससे भिन्न और अन्यथा हो जाते हैं ? या कि आप वही रहते है और केवल कुछ और विचार और सूचनाएँ आपकी स्मृति का अग बन जाती है ?

अध्ययन से केवल स्मृति प्रशिक्षित होती है और मन की सतही परत पर विचार की धूल जम जाती है। इससे ज्यादा उससे कुछ भी नही होता है, न हो सकता है।

केन्द्र पर उससे कोई परिवर्तन नही होता। चेतना वही की वही रहती है। अनुभूति के आयाम वही के वही रहते हैं।

सत्य के संबंध में कुछ जानना और सत्य को जानना दोनो बिलकुल भिन्न बातें हैं। 'सत्य के संबंध में जानना' बुद्धिगत है, 'सत्य को जानना' चेतनागत है।

सत्य को जानने के लिए चेतना की परिपूर्ण जागृति—उसकी अमूर्च्छा आवश्यक है। स्मृति-प्रशिक्षण और तथाकथित ज्ञान से यह नही हो सकता है।

जो स्वयं नही जाना गया है, वह ज्ञान नही है।

सत्य के—अज्ञात सत्य के सबध मे जो बौद्धिक जानकारी है, वह ज्ञान का आभास है। वह मिथ्या है और सम्यक्ज्ञान के मार्ग मे बाधा है।

असलियत मे जो अज्ञात है, उसे जानने का ज्ञात से कोई मार्ग नहीं है। वह तो बिलकुल नया है—वह तो ऐसा है, जो पूर्व कभी नहीं जाना गया है, इसलिए स्मृति उसे देने या उसकी प्रत्यभिज्ञा मे भी समर्थ नही है।

स्मृति केवल उसे ही दे सकती है—उसकी ही प्रत्यभिज्ञा भी उससे आ सकती है—जो कि पहले भी जाना गया है। वह ज्ञात की ही पुनरुक्ति है।

लेकिन जो नवीन है—एकदम अभिनव, अज्ञात और पूर्व-अपरिचित—उसके आने के लिए तो स्मृति को हट जाना होगा।

स्मृति को, समस्त ज्ञात विचारो को हटना होगा—ताकि नये का जन्म हो सके—ताकि 'जो है', वह वैसा ही जाना जा सके, जैसा कि है। मनुष्य की समस्त धारणाएँ और पूर्वाग्रह उसके आने के लिए हटने आवश्यक हैं।

विचार, स्मृति और धारणा-शून्य मन ही अमूर्च्छा है, जागृति है।

इसके आने पर ही केंद्र पर परिवर्तन होता है और सत्य का द्वार खुलता है।

इसके पूर्व सब भटकन है और जीवन अपव्यय है।

६५ / समस्त प्रवृत्तियों में निवृत्ति

एक साधु कल कह रहे थे :

'मैं संसार की ओर ले जानेवाली प्रवृति छोड़ चुका हूँ, अब तो प्रवृत्ति मोक्ष की ओर है। यही निवृत्ति है। ससार की ओर प्रवृत्ति मोक्ष के प्रति निवृत्ति है; मोक्ष के प्रति प्रवृत्ति संसार के प्रति निवृत्ति है।'

यह बात दीखने मे कितनी ठीक और समझ-भरी मालूम होती है। कही कोई चूक दिखायी नही देती। बिलकुल बुद्धि और तर्कयुक्त है, पर उतनी ही व्यर्थ भी है। ऐसे ही शब्दो के खेल में कितने लोग प्रवचना मे पडे रहते है।

बुद्धि और तर्क--आत्मिक जीवन के संबध में कही भी ले जाते नही मालूम होते हैं।

मैंने उनसे कहा : "आप शब्दो मे उलझ गये है। 'संसार की ओर प्रवृत्ति' का कोई अर्थ नही है।"

असल में प्रवृत्ति ही संसार है। वह किस ओर है, इससे कोई अंतर नहीं पड़ता है।

बस, उसका होना ही समार है।

वह धन की ओर हो तो, या वह धर्म की ओर हो तो—उसका स्वरूप एक ही है।

प्रवृत्ति मनुष्य को अपने से बाहर ले जाती है।

वह वासना है, वह फलासक्ति है, वह कुछ होने की तृष्णा और दौड है। 'अ' 'ब' होना चाहता है। यह उसका रूप है।

और, **जब तक कुछ होने की वासना है, तब तक वह—'जो है', उसका होना नहीं हो पाता है।**

इस 'है' का उद्घाटन ही मोक्ष है।

'मोक्ष' कोई वस्तु नहीं है, जिसे पाना है।

वह वासना का कोई विषय नहीं है।

इससे उसकी ओर, प्रवृत्ति नहीं हो सकती है।

वह तो तब है, जब कोई प्रवृत्ति नही होती—मोक्ष की भी नही।

तब जो होता है, उसका नाम मोक्ष है।

इससे मोक्ष को पाना नही है, असल मे पाना छोडना है और मोक्ष पा लिया जाता है।

६६ / असीम को देखने की आंखें : द्रष्टा

मनुष्य जिसे जगत् कहता है, वह सत्ता की सीमा नही है। वह केवल मनुष्य की इन्द्रियों की सीमा है।

इन इन्द्रियो के पार असीम विस्तार है।

इस असीम को इन्द्रियो से कभी भी पूरा-पूरा नही पाया जा सकता है।

क्योकि, इन्द्रियाँ खड को देखती हैं—अश को देखती है और जो असीम है, अनंत है, वह खडित और विभाजित नही होता है।

जो असीम है, उसे मापने को कोई सीमित साधन काम नही दे सकता है।

जो असीम है, वह केवल असीम से ही पकड़ा जा सकता है।

और, जिन्होने उसे जाना है, उन्होने इद्रियो से, बुद्धि से नही—स्वयं असीम होकर उसे जाना है।

यह संभव है, क्योंकि **इस क्षुद्र और सीमित दीखते मनुष्य में असीम भी उपस्थित है।**

इन्द्रियो पर उसकी परिसमाप्ति नही है।

वह इद्रियो मे है, पर इद्रियाँ ही नही है।

वह इन्द्रियातीत आयाम में भी फैला हुआ है।

वह जितना दीखता है, वहाँ उसकी समाप्ति-सीमा नही, शुरुआत है।

वह अदृश्य है।

दृश्य के घेरे मे अदृश्य बैठा हुआ है।

इस अदृश्य को वह अपने भीतर पा ले, तो जगत् मे समस्त अदृश्यो को पा लेता है।

क्योकि, समस्त भाग और खड दृश्य के है। अदृश्य अखडित है।

एक और अनेक वहाँ एक ही है, और इसीलिए एक को पा लेने से सबको पा लिया जाता है।

कहा है महावीर ने 'जे एगम जाणई से सव्वम् जाणई।'—एक को जाना कि सबको जाना।

वह एक भीतर है।

यह दृश्य नही, द्रष्टा है।

इससे इसे पाने का मार्ग आँख नही है।

आँख बंद करना इसका मार्ग है।
आँख बंद करने का अर्थ है, दृश्य से मुक्ति।
आँख बद हो और भीतर दृश्य बहते हों, तो आँख खुली ही है।
दृश्य दृष्टि में न हो और आँख खुली हो, तो भी आँख बद है।
दृश्य न हो और केवल दृष्टि, केवल दर्शन रह जाये तो द्रष्टा प्रकट हो जाता है।
जिस दर्शन से द्रष्टा दीखे, वह सम्यक्दर्शन है।
यह दर्शन जब तक नही, तब तक मनुष्य अधा होता है।
आँखें होते हुए भी आँख नही होती है।
इस दर्शन से चक्षु मिलते है—वास्तविक चक्षु, इद्रियातीत चक्षु।
और, सीमाएँ मिट जाती है, रेखाएँ मिट जाती है और जो है—आदि अतहीन विस्तार—ब्रह्म—वह उपलब्ध होता है।
यह उपलब्धि ही मुक्ति है।
क्योंकि, प्रत्येक सीमा बंधन है, प्रत्येक सीमा परतत्रता है।
सीमा से ऊपर होना स्वतंत्र होना है।

६७/ दमन नहीं—प्रेम और ज्ञान

एक प्रवचन कल सुना है। उसका सार था—आत्म-दमन।

प्रचलित रूढ़ि यही है। सोचा जाता है कि सबसे प्रेम करना है, पर अपने से घृणा करनी है। स्वयं अपने से शत्रुता करनी है, तब कहीं आत्म-जय होती है।

पर, यह विचार जितना प्रचलित है, उतना ही गलत भी है।

इस मार्ग से व्यक्तित्व द्वैत में टूट जाता है और आत्महिंसा की शुरूआत होती है। और हिंसा सब कुरूप कर देती है।

मनुष्य को वासनाएँ इस तरह दमन नहीं करनी है, न की जा सकती है। यह हिंसा का मार्ग धर्म का मार्ग नहीं है।

इसके परिणाम में ही शरीर को सताने के कितने रूप विकसित हो गये हैं! उनमें दीखती है तपश्चर्या, पर है वस्तुतः हिंसा का रस—दमन और प्रतिरोध का सुख। यह तप नहीं, आत्म-वंचना है।

मनुष्य को अपने से लड़ना नहीं, अपने को जानना है।

पर, जानना, अपने को प्रेम करने से शुरू होता है।

अपने को सम्यक्‌रूपेण प्रेम करना है।

न तो वासनाओं के पीछे अंधा होकर दौड़ने वाला अपने को प्रेम करता है—न वासनाओं से अंधा होकर लड़नेवाला अपने को प्रेम करता है।

वे दोनों अंधे हैं।

और, पहले अंधेपन की प्रतिक्रिया में दूसरे अंधेपन का जन्म हो जाता है।

एक वासनाओं में अपने को नष्ट करता है, एक उनसे लड़कर अपने को नष्ट कर लेता है।

वे दोनों अपने प्रति घृणा से भरे हैं।

ज्ञान का प्रारंभ अपने को प्रेम करने से होता है।

मैं जो भी हूँ, उसे स्वीकार करना है—उसे प्रेम करना है।

और, इस स्वीकृति और इस प्रेम में ही वह प्रकाश उपलब्ध होता है, जिससे सहज सब-कुछ परिवर्तित हो जाता है।

इससे ही एक अभिनव सौंदर्य का व्यक्तित्व में उदय होता है—एक संगीत का, और एक शांति का और एक आनंद का—जिनके समग्रीभूत प्रभाव का नाम आध्यात्मिक जीवन है।

६८ / मत नहीं—अनुभूति

सत्य पर कुछ चर्चा चल रही थी कि मैं भी आ गया हूँ। सुनता हूँ : जो बात कर रहे हैं, वे अध्ययनशील है। विभिन्न दर्शनों से परिचित हैं। कितने मत हैं और कितने विचार हैं, सब उन्हे ज्ञात मालूम होते हैं। बुद्धि उनकी भरी हुई है—सत्य से तो नही, सत्य के संबंध में औरो ने जो कहा है—उसमे। जैसे औरो ने जो कहा है, उस आधार से भी सत्य जाना जा सकता है ! सत्य जैसे कोई मत है—विचार है, और कोई बौद्धिक—तार्किक निष्कर्ष है !

विवाद उनका गहरा होता जा रहा है। और अब कोई भी किसी की सुनने की स्थिति मे नही है। प्रत्येक बोल रहा है, पर कोई भी सुन नही रहा है।

मैं चुप हूँ। फिर किसी को मेरा स्मरण आता है और वे मेरा मत भी जानना चाहते है। मेरा तो कोई मत नही है।

मुझे तो दीखता है कि **जहाँ तक मत है, वहाँ तक सत्य नहीं है।**

विचार की जहाँ समाप्ति है, सत्य का वहाँ प्रारम्भ है।

मैं क्या कहूँ ! वे सभी सुनने को उत्सुक है।

एक कहानी कहता हूँ

एक साधु था बोधिधर्म। वह ईसा की छठी सदी मे चीन गया था। कुछ वर्ष वहाँ रहा, फिर घर लौटना चाहा और अपने शिष्यो को इकट्ठा किया। वह जानना चाहता था कि सत्य मे उनकी कितनी गति हुई है।

उसके उत्तर मे एक ने कहा 'मेरे मत मे सत्य स्वीकार-अस्वीकार के अतीत है—न कहा जा सकता है कि है न कहा जा सकता है कि नही है,क्योकि ऐसा ही उसका स्वरूप है।

बोधिधर्म ने कहा 'तेरे पास मेरी चमडी है।'

दूसरे ने कहा 'मेरी दृष्टि मे सत्य अन्तर्दृष्टि है। उसे एक बार पा लिया तो पा लिया, फिर उसका खोना नही है।'

बोधिधर्म ने कहा 'तेरे पास मेरा मास है।'

तीसरे ने कहा 'मैं मानता हूँ कि पच महाभूत शून्य है और पच स्कध भी अवास्तविक है। यह शून्यता ही सत्य है।'

बोधिधर्म ने कहा 'तेरे पास मेरी हड्डियां है।'

और अंतत, वह उठा जो जानता था। उसने गुरु के चरणों मे सिर रख दिया और मौन रहा। वह चुप था और उसकी आँखे शून्य थी।

बोधिधर्म ने कहा 'तेरे पास मेरी मज्जा है, मेरी आत्मा है।'

और, यही कहानी मेरा उत्तर है।

६९ / प्रश्न—और फिर मौन प्रतीक्षा

एक मंदिर में बोलने गया था। बोलने के बाद एक युवक ने कहा : 'क्या मैं एक प्रश्न पूछ सकता हूँ ? यह प्रश्न मैं बहुतो से पूछ चुका हूँ; पर जो उत्तर मिले, उनसे तृप्ति नही होती है। समस्त दर्शन कहते है : अपने को जानो। मै भी अपने को जानना चाहता हूँ। यही मेरा प्रश्न है। 'मैं कौन हूँ ?' इसका भी उत्तर चाहता हूँ।'

मैंने कहा 'अभी आपने प्रश्न पूछा ही नही है, तो उत्तर कैसे पाते ? प्रश्न पूछना उतना आसान नही है।'

उस युवक ने एक क्षण हैरानी से मुझे देखा। प्रकट था कि मेरी बात का अर्थ उसे नही दीखा था। यह बोला : 'यह आप क्या कहते है ? मैंने प्रश्न ही नही पूछा है !'

मैंने कहा · 'रात्रि में आ जायें।' वह रात्रि आया भी। सोचा होगा, मैं कोई उत्तर दूँगा। उत्तर मैंने दिया भी, पर जो उत्तर दिया वह उसने नही सोचा था।

वह आया। बैठते ही मैंने प्रकाश बुझा दिया। बोला · 'यह क्या कर रहे है ? क्या उत्तर आप अधेरे मे देते है !'

मैंने कहा 'उत्तर नही देता, केवल प्रश्न पूछना सिखाता हूँ।

आत्मिक जीवन और सत्य के सबध मे कोई उत्तर बाहर नही है।

ज्ञान बाह्य तथ्य नही है। वह सूचना नही है।

अत उसे आपमे डाला नही जा सकता है।

जैसे, कुएँ से पानी निकालते है, ऐसे ही उसे भी भीतर से ही निकालना होता है।

वह है नित्य।

उसकी सतत उपस्थित है, केवल अपना घड़ा उस तक पहुँचाना है।

इस प्रक्रिया मे एक ही बात स्मरणीय है कि घडा खाली हो।

घड़ा खाली हो, तो भरकर लौट आता है और प्राप्ति हो जाती है।'

अँधेरे मे थोडा सा समय चुपचाप सरका। वह बोला 'अब मै क्या करूँ ?' मैंने कहा : घड़ा खाली कर ले, शात हो जावे और पूछें : 'मै कौन हूँ ?'

एक बार, दो बार, तीन बार पूछे—समग्र शक्ति से पूछे : 'मै कौन हूँ ?'

प्रश्न पूरे व्यक्तित्व मे गूँज उठे और तब शात हो जावे और मौन—विचार-शून्य प्रतीक्षा करे।

प्रश्न और फिर खामोशी—शून्य प्रतीक्षा। यही विधि है।

वह थोड़ी देर बाद बोला : 'लेकिन मैं चुप नहीं हो पा रहा हूँ। प्रश्न तो पूछ लिया, पर शून्य प्रतीक्षा असंभव है और अब मैं देख पा रहा हूँ कि मैंने वस्तुतः आज तक प्रश्न पूछा ही नहीं था।'

७० / अचेतन मन की सफाई

एक प्रवचन पढ़ रहा हूँ। किन्ही साधु का है। क्रोध छोड़ने को, मोह छोड़ने को, वासनाएँ छोडने को कहा है। जैसे ये सब बातें छोड़ने को हों—किसी ने चाहा और छोड दिया!

पढ-सुनकर ऐसा ही प्रतीत होता है।

इन उपदेशों को सुनकर ज्ञात होता है कि अज्ञान कितना घना है!

मनुष्य के मन के सम्बन्ध में हम कितना कम जानते हैं!

एक बच्चे से एक दिन मैंने कहा कि तुम अपनी बीमारी को छोड क्यों नहीं देते हो? वह बीमार बच्चा हँसने लगा, और बोला कि क्या बीमारी छोडना मेरे हाथ मे है?

प्रत्येक व्यक्ति विकार और बीमारी को छोड़ना चाहता है, पर विकार की जडो तक जाना आवश्यक है, वे जिस अचेतन गर्त मे आते है, वहाँ तक जाना आवश्यक है—केवल चेतन मन के सकल्प से उनसे मुक्ति नही पायी जा सकती है।

एक कहानी फ्रायड ने कही है। एक ग्रामीण, शहर के किसी होटल मे ठहरा था। रात्रि उसने अपने कमरे मे प्रकाश को बुझाने की बहुत कोशिश की, पर असफल ही रहा। उसने प्रकाश को फूँककर बुझाना चाहा, बहुत भाँति फूँका, पर प्रकाश था कि अकंपित जलता ही गया। उसने सुबह इसकी शिकायत की थी। शिकायत के उत्तर मे उसे ज्ञात हुआ कि वह प्रकाश दीये का नही था, जो फूँकने मे बुझ जाता—वह प्रकाश तो विद्युत का था।

और, मैं कहता हूँ कि **मनुष्य की विकारो को भी फूँककर बुझाने की विधि गलत है।**

वे मिट्टी के दीये नही है, विद्युत् के दीये हैं।

उन्हें बुझाने की विधि अचेतन मे छिपी है।

चेतन के सब सकल्प फूँकने की भाँति व्यर्थ है।

केवल अचेतन में योग के माध्यम से उतरकर ही उनकी जड़े तोड़ी जा सकती हैं।

७१ / 'स्व' में होना

टिक ..टिक...टिक...घड़ी फिर से चलनी शुरू हो गयी है। वह अपने में तो चलती ही थी, मेरे लिए बंद हो गयी थी या ठीक हो कि कहूँ कि मैं ही वहाँ के प्रति बंद हो गया था, जहाँ कि उसका चलना है।

एक दूसरे समय में चला गया था।

आँखें बंद किये बैठा था और भीतर देखता था।

देखता रहा—काल का एक और ही क्रम था।

और फिर, काल-क्रम टूट गया था।

समय के बाहर खिसक जाने में कैसा आनंद है!

चित्त पर चित्र बंद हो जाते हैं। उनका होना ही काल है।

वह मिटे की काल मिटा और फिर शुद्ध वर्तमान ही रह जाता है।

वर्तमान, कहने को समय का अंग है। वस्तुत, वह काल-क्रम के बाहर है, अतीत है।

उसमे होना 'स्व' मे होना है।

उस जगत् से अब लौटा हूँ। सब कितना शांत है।

दूर किसी पक्षी का गीत चल रहा है, पड़ोस मे कोई बच्चा रोता है और एक मुर्गा बोल रहा है।

ओह! जीना कितना आनन्दप्रद है!

और, अब मैं जानता हूँ कि मृत्यु भी आनंद है।

क्योंकि, जीवन उसमें भी समाप्त नही होता है।

वह जीवन की एक स्थिति है।

जीवन उसके पूर्व भी है और उसके पश्चात् भी है।

७२ / ईश्वर का पता

ईश्वर क्या है ?

यह प्रश्न कितनो के मन मे नही है !

कल एक युवक पूछ रहे थे ।

और यह बात ऐसे पूछी जाती है, जैसे कि ईश्वर कोई वस्तु है--खोजने वाले से अलग और भिन्न, और जैसे उसे अन्य वस्तुओ की भाँति पाया जा सकता है ।

ईश्वर को पाने की बात ही व्यर्थ है--और उसे समझने की भी ।

क्योकि, वह मेरे आरपार है ।

मैं उसमे हूँ ।

और, ठीक से कहे, तो 'मैं' हूं ही नही ।

केवल वही है ।

ईश्वर 'जो है' उसका नाम है । वह सत्ता के भीतर 'कुछ' नहीं है; स्वय सत्ता है ।

उसका अस्तित्व भी नही है, वरन् अस्तित्व ही उसमे है ।

वह 'होने' का, अस्तित्व का, अनाम का नाम है ।

इससे उसे खोजा नही जाता है, क्योकि मैं भी उसी में हूँ ।

उसमें तो खोया जाता है और खोते ही उसका पाना है

एक कथा है । एक मछली सागर का नाम सुनते-सुनते थक गयी थी । एक दिन उसने मछलियो की रानी से पूछा 'मैं सदा से सागर का नाम सुनती आयी हूँ, पर यह सागर है क्या ? और कहाँ है ?' उस रानी ने कहा . 'सागर मे ही तुम्हारा जन्म है, जीवन है और जगत् है । सागर ही तुम्हारी सत्ता है । सागर ही तुम मे है और तुम्हारे बाहर है । सागर से तुम बनी हो और सागर मे ही तुम्हारा अंत है । सागर तुम्हे प्रतिक्षण घेरे हुए है ।'

ईश्वर प्रत्येक को प्रतिक्षण घेरे हुए है ।

पर हम मूर्च्छित हैं, इसलिए उसका दर्शन नही होता है ।

मूर्च्छा जगत् है, संसार है । अमूर्च्छा ईश्वर है ।

एक स्वामी आये थे। वर्षों से संन्यासी हैं। मैंने पूछा . "संन्यास क्यों लिया ?"

बोले · "शांति चाहता हूँ।"

सोचता हूँ कि क्या शांति भी चाही जा सकती है ?

क्या 'चाहने' और 'शाति' मे विरोध नही है ?

उनसे यह कहा भी।

कुछ हैरान-से हो गये थे। बोले "फिर क्या करें ?"

मैं हँसने लगा। कहा . "क्या करने मे भी चाह छिपी नही बैठी है ?"

प्रश्न कुछ करने का नही है।

शाति के लिए कुछ भी नही किया जा सकता है।

वह चाह का अग नही है।

उसे चाहना व्यर्थ है।

असल में अशान्ति को समझना आवश्यक है।

अशांति क्या है, यह जानना है—शास्त्रों से नही, स्वय से।

शास्त्रो को जानने से ही शाति की चाह पैदा होती है और तब 'क्या करने' का प्रश्न उठता है।

उन स्वामी ने कहा "अशाति वासना के कारण है—चाह के कारण है। तृष्णा न हो जाये, तो शाति है।"

मैंने कहा . "यह उत्तर शास्त्र से है, स्वय से नही—अन्यथा 'शाति चाहता हूँ,' ऐसा कहना सभव न होता।"

तृष्णा ही अशाति है—चाह ही अशांति है, तो शांति को कैसे चाहा जा सकता है ?

अशांति को जानें, स्वानुभव से उसके प्रति जागें--निर्दोष, निष्पक्ष मन से उसे समझें।

यह समझ अशाति की जड़ो को सामने ला देगी।

अशाति का मूल वासना है, यह दीखेगा।

और, यह दीखना ही अशाति का विसर्जन बन जाता है।

अशाति का ज्ञान ही उसकी मृत्यु है।

उसका जीवन अंधेरे मे और अंधेपन मे ही सभव है।

ज्ञान का प्रकाश आते ही उसकी समाप्ति है।

अशाति के विसर्जन पर जो बच रहता है, वह शाति है।

शांति अशांति के विपरीत नहीं चाही जाती है ।

वह उसकी विरोधी नहीं है ।

वह है, उसका न हो जाना ।

इसलिए, **शांति को नहीं खोजना है, केवल अशांति को जानना है ।**

सीखा हुआ शास्त्रज्ञान, इस ज्ञान मे बाधा बन जाता है ।

क्योंकि, बँधे-बँधाये उत्तर स्वानुभव के पूर्व ही उधार निष्कर्षों से चित्त को भर देते हैं ।

इन उधार निष्कर्षों से कोई परिवर्तन नही होता है ।

स्वानुभूति ही मार्ग है ।

प्रत्येक व्यक्ति को आत्मिक जीवन मे उधार ज्ञान के बोझ को उतार कर चलना होता है ।

७८ / सत्य के राज्य से बहिष्कृत मनुष्य

मनुष्य के साथ क्या हो गया है ?

मैं सुबह उठता हूँ। देखता हूँ गिलहरियों को दौड़ते, देखता हूँ सूरज की किरणों फूलों को खिलते, देखता हूँ सगीत से भरी प्रकृति को।

रात्रि सोता हूँ। देखता हूँ तारो से झरते मौन को, देखता हूँ सारी सृष्टि पर छा गयी आनद-निद्रा को। और फिर, अपने से पूछने लगता हूँ कि मनुष्य को क्या हो गया है ?

सब कुछ आनद से तरगित है, केवल मनुष्य को छोड़कर।

सब कुछ सगीत से आदोलित है, केवल मनुष्य को छोड़कर।

सब दिव्य शाति मे विराजमान है, केवल मनुष्य को छोडकर।

क्या मनुष्य इस सबका भागीदार नही है ? क्या मनुष्य कुछ पराया है ? अजनबी है ?

यह परायापन अपने हाथो लाया गया है।

यह टूट अपने हाथो पैदा की गयी है।

स्मरण आती है, बाइबल की एक पुरानी कथा। मनुष्य 'ज्ञान का फल' खाकर आनद के राज्य से बहिष्कृत हो गया है। यह कथा कितनी सत्य है।

ज्ञान ने, बुद्धि ने, मन ने मनुष्य को जीवन से तोड़ दिया है। वह सत्ता में होकर सत्ता के बाहर हो गया है।

ज्ञान को छोड़ते ही, मन से पीछे हटते ही, एक नये लोक का उदय होता है। उसमें हम प्रकृति से एक हो जाते है।

कुछ अलग नही होता है, कुछ भिन्न नही होता है। सब एक शाति के सगीत मे स्पदित होने लगता है।

यह अनुभूति ही 'ईश्वर' है।

ईश्वर कोई व्यक्ति नही है।

ईश्वर की कोई अनुभूति नही होती है, वरन् एक अनुभूति का नाम ही ईश्वर है।

'उसका' कोई साक्षात् नही है, वरन् एक साक्षात् का ही वह नाम है।

इस साक्षात् मे मनुष्य स्वस्थ हो जाता है।

इस अनुभूति मे वह अपने 'घर' आ जाता है।

इस प्रकाश मे वह फूलो और पत्तियो के सहज-स्फूर्त आनद का साझेदार होता है।

इसमे एक ओर से वह मिट जाता है और दूसरी ओर से सत्ता को पा लेता है।

यह उसकी मृत्यु भी है और उसका जीवन भी है।

७५ / खोज और खोजी का विसर्जन

कोई पूछता था : 'आत्मा को कैसे पाया जाय ? **ब्रह्म-उपलब्धि कैसे सभव है ?'**

आत्मा को पाने की बात ही मेरे देखे गलत है ।

वह प्राप्तव्य नही है । **वह तो नित्य प्राप्त है ।**

वह कोई वस्तु नही, जिसे लाना है । वह कोई लक्ष्य नही, जिसको साधना है । वह भविष्य मे नही है कि उस तक पहुँचना है ।

वह है । 'है' का ही वह नाम है ।

वह वर्तमान है—नित्य वर्तमान । उसमे अतीत और भविष्य नही है । उसमे 'होना' नही है ।

उसे न खोना सभव है और न उसे पाने की बात ही सार्थक है ।

वह शुद्ध नित्य अस्तित्व है ।

फिर, खोना किस स्तर पर हो गया है या खोने का आभास और पाने की प्यास *कहाँ आ गयी है ?*

'मैं' को समझ ले, तो जो आत्मा खोयी नही जा सकती है, उसका खोना समझ में आ सकता है ।

'मैं' आत्मा नही है । न 'स्व' आत्मा है, न 'पर' आत्मा है ।

यह द्वैत, वैचारिक है । यह द्वैत मन मे है ।

मन आभास सत्ता है । वह कभी वर्तमान मे नही होता है । वह तो अतीत मे ही है—या भविष्य मे ।

न अतीत की सत्ता है, न भविष्य की । एक न हो गया है, एक अभी हुआ नही है । एक स्मृति मे है, एक कल्पना मे है ।

सत्ता में दोनो नही है ।

इस असत्ता से 'मैं' का जन्म होता है ।

'मैं' विचार की उत्पत्ति है । काल भी विचार की उत्पत्ति है ।

विचार के कारण, 'मैं' के कारण, आत्मा आवरण मे है ।

वह है, पर खोयी मालूम होनी है ।

फिर यही 'मैं', यही विचार-प्रवाह इस तथाकथित खोयी आत्मा को खोजने चलता है ।

यह खोज असभव है, क्योंकि इस खोज से 'मैं' और पुष्ट होता है—सशक्त होता है ।

'मैं' के द्वारा आत्मा को खोजना, स्वप्न के द्वारा जागृति को खोजने जैसा है।
'मैं' के द्वारा नहीं, 'मैं' के विसर्जन से उसका पाना है।
स्वप्न के जाते ही जागृति है, 'मैं' के जाते ही आत्मा है।
आत्मा शून्यता है, क्योंकि पूर्णता है।
उसमें 'स्व' 'पर' नही है।
वह अद्वैत है।
वह कालातीत है।
विचार के, मन के जाते ही जाना जाता है कि उसे कभी खोया नही था।
इसलिए, उसे खोजना नही है।
खोज छोड़नी है और खोजने वाले को छोडना है।
खोज और खोजी के मिटते ही खोज पूरी हो जाती है।
'मैं' को खोकर उसे पा लिया जाता है।

७६ / साधुता का अर्थ

साधुता क्या है ?

यह प्रश्न अनेको के मन मे है ।

वस्त्र और बाह्य रूप से साधुता का संबंध होता, तो यह प्रश्न उठता ही नही ।

निश्चित ही, साधुता बाह्य सत्य नही है, कुछ आतरिक सत्य है ।

यह आतरिक सत्य क्या है ?

साधुता अपने में होना है ।

साधारणत:, मनुष्य अपने से बाहर है ।

एक क्षण भी वह अपने मे नही है ।

सबके साथ है, पर अपने साथ नही है ।

यह स्व से अलगाव ही असाधुता है ।

स्व मे लौटना—स्वरूप मे प्रतिष्ठित होना, स्वस्थ होना साधुता है ।

आध्यात्मिक अस्वास्थ्य असाधुता है, स्वास्थ्य साधुता है ।

मै बाहर हूँ, तो सोया हूँ । बाह्य 'पर' है, मूर्च्छा है । 'पर' पकड़े हुए है । **'पर' ही ध्यान में है ।**

'स्व' ध्यान के बाहर है । यही निद्रा है ।

महावीर ने कहा है, 'सुत्ता अमुणी'—जो सोता है, सो अमुनि है ।

इस 'पर' की परतत्रता से 'स्व' की स्वतत्रता मे जागना साधु होना है ।

यह साधुता पहचानी कैसे जाती है ?

यह साधुता शाति से, आनन्द से, सम्यक्त्व से पहचानी जाती है ।

एक साधु था, सत फ्रासिस । वह अपने शिष्य लियो के साथ यात्रा पर था । वे सेंट मेरिनो जा रहे थे । राह मे आँधी-वर्षा आयी । वे भीग गये और कीचड़ से लथपथ हो गये ।

रात घिर आयी थी और दिन भर की भूख और थकान ने उन्हें पकड़ लिया था । गाँव अब भी दूर था और आधी रात के पूर्व पहुँचना सभव नही था । तभी फ्रासिस ने कहा, "लियो, वास्तविक साधु कौन है ? वह नही, जो अधों को आँखे दे सकता है, बीमारो को स्वास्थ्य दे सकता है और मृतको को भी जिला सकता है । वह वास्तविक साधु नही है ।"

थोड़ी देर सन्नाटा रहा और फिर फ्रासिस ने कहा, "लियो, वास्तविक साधु

वह भी नही है, जो पशुओं और पौधों और पत्थरों की भी भाषा समझ ले। सारे जगत् का ज्ञान भी जिसे उपलब्ध हो,वह भी वास्तविक साधु नही है।"

फिर, थोड़ी देर सन्नाटा रहा। वे दोनों आँधी-पानी और अंधेरे मे चलते रहे। सैंट मेरिनो के गाँव के दीये दिखायी पडने लगे थे। संत फ्रांसिस ने फिर कहा, "और वह भी वास्तविक साधु नही है, जिसने अपना सब-कुछ त्याग दिया है।"

अब लियो से रहा न जा सका। उसने पूछा, "फिर वास्तविक साधु कौन है ?" सत फ्रांसिस ने कहा था : "हम मेरिनो पहुँचने को हैं। सराय के बाहर, द्वार को हम खटखटायेंगे। द्वारपाल पूछेगा, 'कौन हो ?' और हम कहेगे कि तुम्हारे ही दो बंधु—दो साधु। और यदि वह कहे, 'भिखारियो, भिखमगो, मुफ्तखोरों, यहाँ से भाग जाओ, यहाँ तुम्हारे लिए कोई स्थान नही है।' और द्वार बद कर ले। हम भूखे, थके और कीचड़ से भरे आधी रात मे बाहर खड़े रहे और फिर द्वार खटखटायें। वह अब की बार बाहर निकल कर लकडी से हम पर चोट करे और कहे, 'बदमाशो, हमे परेशान मत करो।' और यदि हमारे भीतर कुछ भी न हो, वहाँ सब शात और शून्य बना रहे और उस द्वारपाल में भी हमे प्रभु दीखता रहे, तो यही वास्तविक साधुता है।"

निश्चय ही सब परिस्थितियों में अखंडित शांति, सरलता और समता को उपलब्ध कर लेना ही साधुता है।

७७ / साक्षी चैतन्य से मन के भ्रम का टूटना

एक युवक ने कल रात्रि पूछा था : "मैं अपने मन से लड़ रहा हूँ, पर शांति उपलब्ध नहीं होती है। मैं क्या करूँ मन के साथ, कि शांति पा सकूँ?"

मैंने कहा : "अंधेरे के साथ कोई कुछ नहीं कर सकता। वह है ही नहीं। वह केवल प्रकाश का न होना है। इसलिए उससे लड़ना अज्ञान है। ऐसा ही मन है। वह भी नहीं है, **उसकी भी कोई स्व सत्ता नहीं है। वह आत्म-बोध का अभाव है, ध्यान का अभाव है।** इसलिए उसके साथ भी सीधे कुछ नहीं किया जा सकता।

"अंधेरा हटाना हो, तो प्रकाश लाना होता है। और मन को हटाना हो, तो ध्यान लाना होता है।

"मन को नियंत्रित नहीं करना है, वरन् जानना है कि वह है ही नहीं। यह जानते ही उससे मुक्ति हो जाती है।"

उसने पूछा : "यह जानना कैसे हो?"

यह जानना साक्षी चैतन्य से होता है।

मन के साक्षी बनें। जो है—उसके साक्षी बनें।

कैसा होना चाहिए, इसकी चिंता छोड़ दें।

जो है, जैसा है, उसके प्रति जागें, जागरूक हों।

कोई निर्णय न लें, कोई नियंत्रण न करें, किसी संघर्ष में न पड़ें।

बस, मौन होकर देखें।

देखना ही—यह साक्षी होना ही मुक्ति बन जाता है।

साक्षी बनते ही चेतना दृश्य को छोड़ द्रष्टा पर स्थिर हो जाती है।

इस स्थिति में अकंप प्रज्ञा की ज्योति उपलब्ध होती है। और यही ज्योति मुक्ति है।

७८ / चेतना के दर्पण पर वासना की धूल का परदा

एक कोने में पड़ा हुआ बहुत दिनों का दर्पण मिला है। धूल ने उसे पूरा का पूरा छिपा रखा है। दिखता नहीं है कि वह अब भी दर्पण है और प्रतिबिम्बों को पकड़ने में समर्थ होगा। धूल सब-कुछ हो गयी है। और दर्पण न-कुछ हो गया है। प्रकटतः धूल ही है और दर्पण नहीं है।

पर, क्या सच ही धूल में छिपकर दर्पण नष्ट हुआ है? दर्पण अब भी दर्पण है, उसमे कुछ भी परिवर्तन नही हुआ है। **धूल ऊपर है और दर्पण में नहीं है। धूल एक परदा बन गयी है। पर परदा केवल आवेष्टित करता है, नष्ट नहीं।** और इस परदे को हटाते ही—जो है, वह पुन. प्रकट हो जाता है।

एक व्यक्ति से यह कहा है कि मनुष्य की चेतना भी इस दर्पण की भाँति ही है। वासना की धूल है उस पर। विकारो का परदा है उस पर। विचारो की परते हैं उस पर। पर चेतना के स्वरूप मे इससे कुछ भी नही हुआ है।

वह वही है। वह सदा वही है। परदा हो या न हो, उसमे कोई परिवर्तन नही है। सब परदे ऊपर हैं, इसलिए उन्हें खीच देना और अलग कर देना कठिन नही है। **दर्पण पर से धूल झाड़ने से ज्यादा कठिन चेतना पर से धूल को झाड़ देना नहीं है।** आत्मा को पाना आसान है, क्योकि बीच मे धूल के एक झीने परदे के अतिरिक्त और कोई बाधा नही है।

और, परदे के हटते ही ज्ञात होता है कि आत्मा ही परमात्मा है।

७९/अचेतन मन के फिल्मों की समाप्ति

एक चित्र देखकर लौटा हूँ। परदे पर प्रक्षेपित विद्युत्-चित्र कितना मोह लेते हैं, यह देखकर आश्चर्य होता है। जहाँ कुछ भी नहीं है, वहाँ सब-कुछ हो जाता है।

दर्शकों को देखता था, लगता था कि वे अपने को भूल गये हैं। वे अब नहीं हैं और केवल विद्युत्चित्रों का प्रवाह ही सब-कुछ है।

एक कोरा परदा सामने है और पार्श्व से चित्रों का प्रक्षेपण हो रहा है। जो देख रहे हैं, उनकी दृष्टि सामने है और पीछे का किसी को कोई ध्यान नहीं है।

इस तरह लीला को जन्म मिलता है।

मनुष्य के भीतर और मनुष्य के बाहर भी यही होता है।

एक प्रक्षेप-यंत्र मनुष्य के मन की पार्श्व-भूमि में है।

मनोविज्ञान इस पार्श्व को अचेतन कहता है।

इस अचेतन में संगृहीत वृत्तियाँ, वासनाएँ, संस्कार चित्त के परदे पर प्रक्षेपित होते रहते हैं।

यह चित्त-वृत्तियों का प्रवाह प्रतिक्षण बिना विराम चलता रहता है।

चेतना दर्शक है, साक्षी है—वह इस वृत्ति-चित्रों के प्रवाह में अपने को भूल जाती है।

यह विस्मरण अज्ञान है।

यह अज्ञान——मूल है——संसार का, भ्रमण का, जन्म-जन्म के चक्र का।

इस अज्ञान से जागना चित्त-वृत्तियों के निरोध में होता है।

चित्त जब वृत्ति-शून्य होता है, **परदे पर जब चित्रों का प्रवाह रुकता है, तब ही दर्शक को अपनी याद आती है और वह अपने गृह को लौटता है।**

चित्त-वृत्तियों के इस निरोध को ही पतंजलि ने योग कहा है।

यह सधते ही सब सध जाता है।

८९ / जागना और साक्षी बनना ही धर्म है

कल एक मंदिर के द्वार पर खड़ा था। धूप जल रही थी और वातावरण सुगंधित था। फिर पूजा की घंटी बजने लगी और आरती का दीप मूर्ति के सामने घूमने लगा। कुछ भक्तजन इकट्ठे थे। वह सब आयोजन सुंदर था और एक सुखद तंद्रा पैदा करता था। लेकिन उन आयोजनों से धर्म का कोई संबंध नहीं है।

किसी मंदिर, किसी मस्जिद, किसी गिरजे का धर्म से कोई संबंध नहीं है। किसी पूजा, किसी अर्चना का धर्म से कोई नाता नहीं है। और सब मूर्तियाँ पत्थर है और सब प्रार्थनाएँ दीवारो से की गयी बातचीत के अतिरिक्त कुछ नहीं हैं।

लेकिन, इन सबसे सुख मिलता मालूम होता है !

और, वही खतरा है।

क्योंकि ,उसी के कारण प्रवचना प्रारम्भ होती और प्रगाढ़ होती है।

उस सुख के भ्रम मे ही सत्य होने का आभास पैदा होता है।

सुख मिलता है : मूर्च्छा से—अपने को भूल जाने और स्व की वास्तविकता से पलायन करने से।

मादक द्रव्यो का सुख भी ऐसे ही पलायन से मिलता है।

धर्म के नाम पर मूर्च्छा के सब प्रयोग भी मादक द्रव्यो जैसा ही मिथ्या सुख लाते हैं।

सुख धर्म न ीं, क्योंकि वह दुःख का अंत न ीं, केवल विस्मृति है।

फिर, धर्म क्या है ?

धर्म स्व से पलायन नहीं, स्व के प्रति जागरण है।

इस जागरण का किसी बाह्य आयोजन से कोई वास्ता नहीं है।

यह तो भीतर चलने और चैतन्य को उपलब्ध करने से संबंधित है।

मै जागूँ और साक्षी बनूँ—जो है, उसके प्रति चेतन बनूँ—बस, धर्म इतने से ही संबंधित है।

धर्म अमूर्च्छा है।

और अमूर्च्छा आनन्द है।

८१ / भीतर शून्यता और बाहर सरलता

एक कहानी है।

एक अविवाहित युवती को पुत्र उत्पन्न हो गया था। उसके प्रियजन घबरा गये थे। उन्होंने उससे गर्भ का कारण पूछा। वह बोली कि गाँव के बाहर ठहरे हुए साधु ने उसका शील भंग किया है। उसके क्रोधित प्रियजनों ने साधु को घेरकर बहुत बुरा-भला कहा। उस साधु ने सब शांति से सुना और कहा, 'ऐसा है क्या?' वह केवल इतना ही बोला था और बच्चे के पालन का भार उसने अपने ऊपर ले लिया था। पर घर लौटकर उस लड़की को पश्चात्ताप हुआ और उसने यथार्थ बात कह दी। उसने बता दिया कि उसने साधु को तो इसके पूर्व कभी देखा ही नहीं था; लड़के के असली पिता को बचाने के लिए ही उसने झूठी बात कह दी थी। उसके परिवार के लोग बहुत दुःखी हुए। उन्होंने जाकर साधु से क्षमा माँगी। साधु ने सारी बातें शांति से सुनीं और कहा, 'ऐसा है क्या?' ('Is that so?')

जीवन में शांति आ जाये, तो यह सारा जगत् और जीवन एक अभिनय से ज्यादा कुछ भी नहीं रह जाता है।

मैं केवल एक अभिनेता हो जाता हूँ।

बाहर कहानी चलती जाती है और भीतर शून्य घिरा रहता है।

इस स्थिति को पाकर ही संसार की दासता से मुक्ति होती है।

मैं दास हूँ, क्योंकि जो भी बाहर से आता है, उससे उद्विग्न होता हूँ। कोई भी बाहर से मेरे भीतर को बदल सकता है। मैं इस भाँति परतंत्र हूँ।

बाहर से मुक्ति हो जाये--**बाहर कुछ भी हो, पर मैं भीतर वही रह सकूँ, जो कि हूँ, तो स्व का और स्वतंत्रता का प्रारम्भ होता है।**

यह मुक्ति, शून्य उपलब्धि से शुरू होती है।

शून्य होना है। शून्य अनुभव करना है।

उठने-बैठते, चलने-सोते जानना है कि मैं शून्य हूँ और इसका स्मरण रखना है।

शून्य को स्मरण रखते-रखते शून्य होना हो जाता है।

श्वास-श्वास में शून्य भर जाता है।

भीतर शून्य आता है, तो बाहर सरलता आ जाती है।

शून्यता ही साधुता है।

८२ / दृश्यों से मुक्ति में चैतन्य की उपलब्धि

आँख बद किये बैठा था।

आँखों से देखते-देखते मनुष्य आँखें बद करके देखना ही भूलता जा रहा है।

जो आँख से दीखता है, वह उसके समक्ष कुछ भी नही है, जो आँख बद करके दीख आता है।

आँख का छोटा-सा परदा दो दुनियाओं को अलग करता और जोड़ता है।

मै आँख बंद किये बैठा था कि एक व्यक्ति आये और पूछने लगे कि मै क्या कर रहा था! और जब मैने कहा कि कुछ देख रहा था, तो वे हैरान-से हो गये। शायद उन्होने सोचा होगा कि आँख बद करके देखना भी क्या देखना कहा जा सकता है!

आँख खोलता हूँ, तो सीमा में आ जाता हूँ।

आँख बद करता हूँ, तो असीम के द्वार खुल जाते हं।

इस ओर दृश्य दीखते हं, उस ओर द्रष्टा दिखायी देता है।

एक फकीर स्त्री थी—राबिया। एक सुदर प्रभात मे किसी ने उससे कहा था. 'राबिया, भीतर झोपडे मे क्या कर रही हो? यहाँ आओ, बाहर देखो, प्रभु ने कैसे मनोरम प्रभात को जन्म दिया है।' राबिया ने भीतर से ही कहा था. 'तुम बाहर जिस प्रभात को देख रहे हो, मै भीतर उसके ही बनाने वाले को देख रही हूँ। मित्र, तुम ही भीतर आ जाओ और जो यहाँ है, उस सौदर्य के आगे बाहर के किसी सौदर्य का कोई अर्थ नही है।'

पर कितने है, जो आँख बद करके भी बाहर ही नही बने रहेगे?

अकेले आँख बद करने से ही आँख बद नही होती है।

आँख बंद है, पर चित्र बाहर के ही बन जाते हैं। पलक बद हैं, पर दृश्य बाहर के ही उतरे जा रहे है।

यह आँख का बंद होना नही है।

आँख के बद होने का अर्थ है : शून्यता—स्वप्नो से, विचारो से मुक्ति।

विचार और दृश्य के विलीन होने से आँख बंद होती है।

और, फिर जो प्रकट होता है, वह शाश्वत चैतन्य है।

वही है सत्, वही है चित्, वही है आनन्द।

इन आँखों का सब खेल है।

आँख बदली और सब बदल जाता है।

८३ / आत्म-ज्ञान का बीज, वृक्ष, फूल और फल

एक साल हुआ, तब कुछ बीज बोये थे। अब उनमे फूल आ गये हैं। कितना चाहा कि फूल सीधे आ जायें, पर फूल सीधे नही आते हैं। फूल लाना हो तो बीज बोने पडते है, पौधा सम्हालना पड़ता है और तब अंत में प्रतीक्षित का दर्शन होता है।

यह प्रक्रिया फूलों के सम्बन्ध में ही नही, जीवन के सबध मे भी सत्य है।

अहिसा, अपरिग्रह, अचौर्य, सत्य, ब्रह्मचर्य—ये सब जीवन-साधना के फूल हैं। कोई इन्हे सीधे नही ला सकता। इन्हे लाने के लिए आत्म-ज्ञान के बीज बोने पड़ते हैं। उसके आते ही ये सब अपने आप चले आते हैं।

आत्म-ज्ञान मूल है, शेष सब उसके परिणाम हैं।

जीवन के बाह्य आचार का कुरूप होना, आंतरिक सड़न का प्रतीक होता है और उसका सौंदर्य आंतरिक जीवन और संगीत की प्रतिध्वनि होता है।

इससे लक्षणो को बदलने और परिवर्तन करने से कुछ भी नही हो सकता है। मूलत जहाँ विकार की जड़े है, वही बदलाहट करनी है।

आत्म-अज्ञान विकार की जड़ है।

'मैं कौन हूँ'—यह जानना है।

यह जानते ही अभय और अद्वैत की उपलब्धि होती है।

अद्वैत बोध—यह बोध कि जो मैं हूँ, वही दूसरा भी है—समस्त हिंसा को जड़ से नष्ट कर देता है और परिणाम मे आती है अहिंसा।

'पर' को 'पर' जानना हिंसा है।

'पर' में 'स्व' के दर्शन अहिंसा है।

और, अहिंसा है—धर्म की आत्मा।

८४ / मन के बंद झरोखे, खिड़कियाँ और द्वार--तथा घुटन

रात्रि पानी बरसा और मैं भीतर आ गया था। खिडकियाँ बंद थी और बड़ी घुटन मालूम होने लगी थी। फिर खिड़कियाँ खोली और हवा के नये-नहाये झोको मे ताजगी बही---और फिर मैं कब सो गया, पता नहीं।

सुबह एक सज्जन आये थे। उन्हे देखकर रात की घुटन याद आ गयी थी। लगा जैसे उनके मन की सारी खिडकियाँ, सारे द्वार बद हैं। एक भी झरोखा उन्होंने अपने भीतर खुला नही छोडा है, जिससे बाहर की ताजी हवाएँ, ताजी रोशनी भीतर पहुँच सके। और मुझे सब वद दीखने लगा। मैं उनसे बातें कर रहा था और मुझे ऐसा लग रहा था, जैसे कि मैं दीवारों से बाते कर रहा हूँ। फिर मैंने सोचा, अधिक लोग ऐसे ही बद हैं और जीवन की ताजगी और सौदर्य तथा नयेपन से वंचित हैं।

मनुष्य अपने ही हाथों अपने को एक कारागार बना लेता है।

इस कैद मे घुटन और कुण्ठा मालूम होती है, पर उस मूल कारण का---ऊब और घबराहट के मूल स्रोत का---पता नही चलता है।

समस्त जीवन ऐसे ही बीत जाता है।

जो मुक्त गगन मे उडने का आह्लाद ले सकता था, वह एक तोते के पिंजरे मे बद साँसें तोड़ देता है।

चित्त की दीवारें तोड़ देने पर खुला आकाश उपलब्ध हो जाता है।

और, खुला आकाश ही जीवन है।

यह मुक्ति प्रत्येक पा सकता है।

और, यह मुक्ति प्रत्येक को पा लेनी है।

यह मैं रोज कह रहा हूँ, पर शायद मेरी बात सब तक पहुँचती नही है।

उनकी दीवारें मजबूत है।

पर, दीवारे कितनी भी मजबूत क्यों न हो, वे मूलत. कमजोर और दु खद हैं।

उनके विरोध मे यही आशा की किरण है कि वे दु.खद हैं।

और, जो दु:खद है, वह ज्यादा देर तक टिक नही सकता।

केवल आनन्द ही नित्य हो सकता है।

धूप में मंदिरो के कलश चमक रहे है। आकाश खुला है और राह पर लोगों की मीड़ बढती जा रही है।

मैं राह चलते लोगो को देखता हूँ, पर न मालूम क्यो ऐसा नही लगता कि वे जीवित है।

जीवन का, अस्तित्व का बोध न हो, तो किसी को जीवित कैसे कहा जा सकता है!

जीवन आता है और कब व्यय हो जाता है, यह जैसे ज्ञात ही नही हो पाता है। साधारणतः जब मृत्यु की घड़ियाँ आती है, तब जीवन का बोध होता है।

एक कहानी पढ़ी थी।

एक व्यक्ति था—बिलकुल भुलक्कड। वह भूल ही गया था कि वह जीवित है। फिर एक दिन वह सुबह उठा और उसने पाया कि वह मर गया है, तब उसे ज्ञात हुआ कि वह जीवित भी था!

इस कहानी मे बहुत सत्य है।

मैं इस कहानी का स्मरण कर रहा हूँ। बहुत हँसी आती है कि मरकर भी किसी ने पाया है कि वह जीवित था, पर हँसी धीरे-धीरे उदासी मे बदल जाती है। यह कैसी दयनीय स्थिति है!

मैं यह सोच ही रहा हूँ कि कुछ लोग आ गये है। उन्हे देखता हूँ, उनकी बाते सुनता हूँ, उनकी आँखो मे झाँकता हूँ। जीवन उनमे कही भी नही है। वे तो जैसे छायाओ की तरह हैं।

सारा जगत् छायाओं से भर गया है। अपने ही हाथो अधिक लोग प्रेत-लोक मे रह रहे हैं।

और, इन छायाओ के भीतर जीवित आग है—जीवन है, लेकिन उन्हे इसका पता ही नही है।

इस छाया-जीवन के भीतर वास्तविक जीवन है और इस प्रेत-जीवन के पार सत्य-जीवन भी है, जिसे अभी और यही पाया जा सकता है।

और, इसे पाने की शर्त कितनी छोटी है!

और, इसे पाने का उपाय कितना सरल है!

कल मैंने कहा है, "दृष्टि को भीतर ले चलना है।"

८६ / नास्तिक की तीव्र प्यास और धर्म में प्रवेश

एक युवक ने आकर कहा है, "मैं नास्तिक हो गया हूँ।"

मैं उसे देखता हूँ। उसे पहले से जानता हूँ। जीवन-सत्य को जानने की उसकी प्यास तीव्र है। वह किसी भी मूल्य पर सत्य को अनुभव करना चाहता है।

उसमे तीव्र प्रतिभा है और सतही आस्थाएँ उसे तृप्त नही करती हैं। सस्कार, परम्परा और रूढियाँ उसे कुछ भी नही दे पा रही हैं।

वह सदेहों और शकाओ से घिर गया है। सारे मानसिक सहारे और धारणाएँ खडित हो गयी हैं और वह उसके एक घने नकार मे डूब गया है।

मैं चुप हूँ। वह दुबारा बोला है, "ईश्वर पर से मेरी श्रद्धा हट गयी है। कोई ईश्वर नही है। मैं अधार्मिक हो गया हूँ।'

मैं उससे कहता हूँ कि यह मत कहो।

नास्तिक होना, अधार्मिक होना नही है।

वास्तविक आस्तिकता पाने के लिए नकार मे से गुजरना ही होता है।

वह अधार्मिक होने का नही, वस्तुत धार्मिक होने का प्रारम्भ है।

संस्कारो से, शिक्षण से, विचारों से मिली आस्तिकता कोई आस्तिकता नहीं है।

जो उसमे तृप्त है, वह भ्राति मे है।

वह विपरीत विचारो मे पलता, तो उसका मन विपरीत निर्मित हो सकता था। और फिर वह उससे ही तृप्त हो जाता।

मन पर पडे सस्कार परिधि की, सतह की घटना है। वह मृत पर्त है। वह उधार और बासी स्थिति है।

कोई भी सचमुच आत्मिक जीवन के लिए प्यासा व्यक्ति उस काल्पनिक जल से अपनी प्यास नही बुझा सकता है।

और, इस अर्थ मे वह व्यक्ति धन्यभागी है।

क्योंकि, **वास्तविक जल को पाने की खोज इसी बेबूझी प्यास से प्रारंभ होती है।**

ईश्वर को धन्यवाद दो कि तुम ईश्वर की धारणा मे सहमत नही हो।

क्योंकि यह असहमति ईश्वर के सत्य तक तुम्हे ले जा सकती है।

मैं उस युवक के चेहरे पर एक प्रकाश फैलते देखता हूँ। एक शाति और एक आश्वासन उसकी आँखो मे आ गया है।

जाते समय मैं उससे कह रहा हूँ, "इतना स्मरण रखना कि **नास्तिकता धार्मिक जीवन की शुरुआत है। वह अत नहीं है।**

"वह पृष्ठभूमि है, पर उस पर ही रुक नही जाना है। वह रात्रि है, उसमे डूब नही जाना है। उसके बाद ही, उससे ही, सुबह का जन्म होता है।"

८७ / 'मैं' को खोना ही मुक्ति को पाना

कल रात्रि नगर से दूर एक अमराई में बैठे थे। थोड़ी-सी बदली थी और उनके बीच चाँद निकलता-छिपता जा रहा था। प्रकाश और छाया की इस लीला में कुछ लोग देर तक मौन मेरे पास थे।

बहुत रात गये घर लौटे। राह मे कोई कह रहा था कि जीवन मे मौन का अनुभव पहली बार हुआ है। यह सुना था कि मौन अद्भुत आनन्द है, पर जाना इसे आज है। पर आज तो यह अनायास हुआ है, फिर दुबारा यह कैसे होगा ?

मैंने कहा, "जो अनायास हुआ है, वह अनायास ही होता है। **प्रयास से वह नहीं आता है।"**

प्रयास स्वयं अशांति है।

प्रयास का अर्थ है कि जो है, उससे कुछ भिन्न चाहा जा रहा है।

यह स्थिति तनाव की है।

तनाव मे तनाव ही पैदा होता है।

अशाति मे किया गया कुछ भी, अशांति ही लाता है।

अशांति शाति मे नही बदलती है।

शाति चेतना की एक भिन्न स्थिति है।

जब अशाति नही होती है, तब उसका होना होता है।

कुछ न करें, कोई प्रयास न करें, सब करना छोड़ दे और केवल देखते रह जाये। और फिर पाया जाता है कि एक नयी चेतना, एक नया प्रकाश आहिस्ता-आहिस्ता उतरता चला आ रहा है।

इस नये लोक मे जो पाया जाता है, वही वस्तुत: है।

जो है, उसका उद्घाटन आनन्द है, उसका उद्घाटन मुक्ति है।

यह विराट् हमारे क्षुद्र प्रयासो मे नही, हमारे 'मैं' से नही, वरन् जब प्रयास नही होते, जब 'मैं' नही होता, तब आता है।

ससार मे जो भी पाया जाता है, वह क्रिया से, कर्म से पाया जाता है।

प्रयास वहाँ साधन है। 'मै' वहाँ केंद्र है।

प्रत्येक प्राप्ति, इसलिए, 'मै' को और मजबूत कर जाती है।

वस्तुत , पाने मे 'मै' को मजबूत करने और फैलाने का ही सुख है।

पर, यह 'मैं' कभी पूरा नही भरता है। यह स्वभाव से दुष्पूर है।
इसलिए, सुख प्रतीत ही होता है, कभी उसे पाया नही जाता है।
इससे जिन्होने जाना, उन्होने कहा कि ससार मे दुःख है।
ससार मे हम जो करते हैं, वही हम मुक्ति के लिए भी करते हैं।
उसे भी पाने मे लग जाते हैं और यही भूल हो जाती है।
उसे पाना नहीं है, वरन् अपने को खोना है।
अपने को खोते ही, उसे पा लिया जाता है।

८८ / धर्म ईश्वर की खोज नहीं, चेतना का विज्ञान है

कल रात्रि देर तक नदी-तट पर था। नदी की धार चाँदी के फीते की भाँति दूर तक चमकती चली गयी है। एक मछुआ डोंगी को खेता हुआ आया था और देर से बोलते हुए जल-पक्षी उसकी आवाज से चुप हो गये थे।

एक मित्र साथ थे। उन्होने एक भजन गाया था और फिर बात ईश्वर पर चली गयी थी। गीत मे भी ईश्वर की खोज की बात थी। जिन्होंने इसे गाया था, उनके जीवन के अनेक वर्ष ईश्वर की तलाश मे ही बीते है। मेरा परिचय उनसे कल ही हुआ था। विज्ञान के स्नातक हैं और फिर किसी दिन ईश्वर की धुन ने उन्हे पकड़ लिया था। तब से अनेक वर्ष इसी धुन म गये हैं, पर कुछ उपलब्ध नही हुआ है।

मैं भजन को सुनकर चुप था। उनकी आवाज मधुर थी और मन को छूती थी। फिर भजन के पीछे हृदय था और उस कारण गीत जीवित हो उठा था। मेरे मन मे उसकी प्रतिध्वनि गूँज रही थी, पर उन्होने इस मौन को तोडकर अनायास पूछा था कि "यह ईश्वर की तलाश कही भ्रम ही तो नही है? पहले मैं आशा स भरा था, पर फिर धीरे-धीरे निराश होता गया हूँ।"

मैं फिर भी थोडी देर चुप रहा और बाद मे कहा, "ईश्वर की तलाश भ्रम ही है, क्योकि ईश्वर को खोजने का प्रश्न ही नही उठता। **वह सदा ही उपस्थित है। पर हमारे पास, उसे देख सकें, ऐसी आँखें नहीं हैं, इसलिए असली खोज सम्यक्-दृष्टि को पाने की है।**"

एक अंधा आदमी था। वह सूरज को खोजना चाहता था। वह खोज गलत थी। सूरज तो है ही आँखे खोजनी है। आँखे पाते ही सूरज मिल जाता है।

साधारणत ईश्वर का तलाशी, सीधे ईश्वर को खोजने मे लग जाता है। वह अपनी आँखो का विचार ही नही करता है। यह आधारभूत भूल परिणाम मे निराशा लाती है। मेरा देखना विपरीत है।

मैं देखता हूँ कि असली प्रश्न मेरा है और मेरे परिवर्तन का है।

मैं जैसा हूँ, मेरी आँखे वैसी है, वही मेरे ज्ञान की और दर्शन की सीमा है। **मैं बदलूँ, मेरी आँखें बदले, मेरी चेतना बदले, तो जो अभी अदृश्य है, वह दृश्य हो जाता है।**

और फिर, जो अभी हम देख रहे हैं, उसकी ही गहराई मे ईश्वर उपलब्ध हो जाता है।

संसार में ही प्रभु उपलब्ध हो जाता है ।

इसीलिए, मै कहता हूँ: **धर्म ईश्वर को पाने का नहीं, वरन् नयी दृष्टि, नयी चेतना पाने का विज्ञान है ।**

प्रभु तो है ही, हम उसमे ही खडे हैं, उसमे ही जी रहे है ।

पर, आँखें नही हैं इसलिए सूरज दिखायी नही देता है ।

सूरज को नही, आँखो को खोजना है ।

८९/पाँचवाँ और मूल आर्य-सत्य दु ख के प्रति मूर्च्छा

गौतम बुद्ध ने चार आर्य-सत्य कहे है—दु ख दु ख का कारण दु ख-निरोध और दु ख निरोध का माग। जीवन मे दु ख है। दु ख का कारण है। इस दु ख का निरोध हो सकता ह और दु ख निराध का माग है।

म पाँचवाँ आय-सत्य भी देखता हूँ। और यह पाँचवाँ इन चारो के पूर्व है। वह है इसलिए ये चारो है। वह न हा तो ये चारो भी नही रह सकते हैं।

यह पाचवाँ या प्रथम आय सत्य क्या है ?

वह सत्य है—दु ख के प्रति मूर्च्छा।

दु ख है पर हम उसके प्रति मूर्च्छित है।

इस मूर्च्छा मे ही वह हमे दीखता नही है।

इस मूर्च्छा स ही हम उसम होते हैं पर वह हमे सतप्त नही करता है।

इस धुँधली बहोशी मे तद्रा मे जीवन बीतता है और जो दु ख था वह झेल लिया जाता है।

इस मूर्च्छा मे अचेतना मे—जो है वह आँख मे नहीं आता है और जो नहीं है, उसके स्वप्न चलते रहते ह।

वतमान के प्रति अचापन होना है और भविष्य मे दृष्टि बनी रहती है।

भविष्य के सुखद स्वप्नो के नश मे वतमान का दु ख डूबा रहता है।

इस विधि से दु ख दीखता नही ह और उसके पार उठन का प्रश्न भी नही उठता ह।

एक कैदी का यदि अपने कारागृह की दीवारा और जजीरा का बोध ही न हो तो उसमे मुक्ति की आकाक्षा को पैदा होन का प्रश्न ही कहाँ रहता है ?

इससे इस सत्य को कि हम दु ख के प्रति मूर्च्छित है—जीवन दु ख ह यह सत्य हमारी चेतना म नहा है—इस मैं प्रथम आय सत्य कहता हूँ। शष चारो बाद मे आते है। दु ख क प्रति मर जागते ही उनका दशन होता है।

मैं उँगलियो पर गिनी जा सके, इतनी बातें कहता हूँ

१ मन को जनाना है, जो इतना निकट है, फिर भी इतना अज्ञात है ।

२ मन को बदलना है, जो इतना हठी है, पर परिवर्तित होने को इतना आतुर है ।

३ मन को मुक्त करना है, जो पूरा बधन मे है, किन्तु 'अभी और यही' मुक्त हो सकता है ।

ये तीन बातें भी कहने की है, **करना तो केवल एक ही काम है । वह है मन को जानना ।** शेष दो उस एक के होने पर अपने आप हो जाती हैं ।

ज्ञान ही बदलाहट है, ज्ञान ही मुक्ति है ।

यह कल कहना था कि किसी ने पूछा, "यह जानना कैसे हो ?"

यह जानना—जागने से होता है ।

शरीर और मन दोनो की हमारी क्रियाएं मूर्च्छित हैं ।

प्रत्येक क्रिया के पीछे जागना आवश्यक है ।

मैं चल रहा हूँ मैं बैठा हूँ या मैं लेटा हूँ, इसके प्रति **सम्यक् स्मरण** चाहिए ।

मैं बैठना चाहता हूँ इस मनोभाव या इच्छा के प्रति भी जागना है ।

चित्त पर क्रोध है या क्रोध नही है इस स्थिति को भी देखना है ।

विचार चल रहे हैं या नही चल रहे है, उनके प्रति भी साक्षी होना है ।

यह जागरण दमन मे या सघर्ष मे नही हो सकता है ।

कोई निर्णय नही लेना है ।

सद्-असद् के बीच कोई चुनाव नही करना है ।

केवल जागना है—बस, जागना है ।

और, जागने ही मन का रहस्य खुल जाता है । मन जान लिया जाता है ।

और, केवल जानने से परिवर्तन हो जाना है ।

और, परिपूर्ण जानने मे मुक्ति हो जाती है ।

इससे मैं कहता हूँ कि मन की बीमारी से मुक्ति आसान है ।

क्योकि यहाँ निदान ही उपचार भी ह ।

९१ / मृत पाडित्य नही—चाहिए जीवत अनुभूति

दोपहर ढलने को है। आकाश अभी खुला था फिर जोर की हवाएँ आयी और अब काली बदलियो मे वह ढँका जा रहा है।

सूरज छिप गया है और हवाओ म ठडक है।

एक फकीर द्वार पर आया है। उसके हाथ मे एक तोता है। पिजरा नही है पर दीखता है कि तोता उडना भूल चुका है। आते ही फकीर नही तोता ही बोला है राम कहो राम कहो राम राम राम। मैने कहा तोता तो अच्छा बोलता है। फकीर बोला महाराज यह तोता बडा पडित है! यह सुन मुझे हसी आ गयी। मैंने कहा होना ही चाहिए क्योकि **सभी पडित तोते ही होते है!**

यह मुझे बहुत स्पष्ट दीखता है कि ज्ञान सीखने से नही आता है और जो सीखने से आता है वह ज्ञान नही है।

ज्ञान बुद्धि की उपलब्धि नही है।

बुद्धि स्मृति है। और, स्मृति से नहीं, स्मृति के हट जाने से ज्ञान आता है

जो सीखा जाता है वह तोता बनाता है। इस तोता रटन का नाम पाडित्य है।

ज्ञान के मार्ग म इसस बडी और कोई बाधा नही है।

पांडित्य मृत तथ्यो का सग्रह है। ये तथ्य सब उधार है। अनुभूति म इनकी कोई जड नही होती।

इन मृत तथ्यो स घिरा चित्त उसके दर्शन नही कर पाता है जो है। ये तथ्य परदा बन जाते है।

इस परदे को हटाने पर अज्ञात का उदघाटन होता है। यह दर्शन ही ज्ञान है। सीखना नही—दर्शन ही ज्ञान है।

ग्रथ नही तथ्य नही —सत्य-दृष्टि उस उपलब्धि का मार्ग है।

सत्य दर्शन जब होता है तब पाया जाता है कि ज्ञान तो था ही केवल उसे देखपान की दृष्टि हमारे पास नही थी।

और इस दृष्टि का पाडित्य के सग्रह स नही पाया जा सकता था।

इसमे आत्म प्रवचना भर हो सकती थी। और कुछ भी नही।

बिना जाने ही यह अह तृप्ति हो सकती थी कि मै जानता हूँ।

इसलिए कहा है कि यह जानना कि मै जानता हूँ अज्ञान है। क्यो?

क्योकि जानने पर पाया जाता है कि मै हूँ ही नही। केवल ज्ञान है—न ज्ञाता है, न ज्ञेय है।

यह अद्वैत दर्शन तब होता है जब सब छोडकर मैं शून्य हो जाता हूँ।

९२/ साधना का साथी—शरीर

सध्या उतर आयी है और साध्य-कुसुमो की गंध उडने लगी है ।

एक कोयल दोपहर भर कूकती रही है और अब चुप हो गयी है। वह गाती थी तो इतनी खयाल मे नही थी अब मौन क्या हुई है कि खयाल मे हो आयी है। मैं उसके फिर से स्वर उठाने की प्रतीक्षा कर रहा हूँ कि इसी बीच एक साधु का आगमन हुआ है । बाल-ब्रह्मचारी हैं—सूखी कृश अस्वस्थ-सी देह है । चेहरा बझा-बुझा और निस्तेज है । आँखो का पानी उड गया है। उन्हे देख बहुत दया आयी है। शरीर पर अनाचार किया है।

यह मैंने उनसे कहा है । वे तो कुछ चौंक से गये है ।

इसे ही वे त्याग मानते हैं। अस्वास्थ्य जैसे आध्यात्मिक है कुरूपता और विकृति जैसे योग है ! असौदय को साधना ही जैसा साधना है ।

काउट कैसरलिंग ने कही लिखा है स्वास्थ्य अध्यात्म विरोधी आदर्श है। उनकी इस पक्ति म इसी अज्ञान की गूंज है। यह विचार प्रतिक्रिया जन्य है ।

कुछ हैं जो शरीर के पीछे है शरीर ही उन्हे सब-कुछ है। यह एक अति है । फिर इसकी प्रतिक्रिया स दूसरी अति पैदा होती है ।

पर दोनो ही अतियाँ शरीरवादी हैं ।

शरीर को न तो उछालते फिरना है न उसे ताडते फिरना है ।

वह तो कुछ जमा आवास है ।

उसका स्वस्थ और अच्छा होना आवश्यक है ।

आध्यात्मिक जीवन स्वास्थ्य विरोध नहीं है ।

वह तो परिपूर्ण स्वास्थ्य है ।

वह तो एक लययुक्त सगीतपूर्ण सौदय की स्थिति का ही पर्यायवाची है ।

शरीर दमन अध्यात्म नही है । वह तो केवल भोगवादी वृत्तियो का शीर्षासन है। वह तो भोग की प्रतिक्रिया मात्र है ।

उसमे ज्ञान नही अज्ञान और आत्म हिंसा है। वह वृत्ति हिंसक है ।

उसम कोई कही नही पहुँचता है ।

शरीर का दमन नही करना है ।

वह तो बेचारा केवल उपकरण है और अनुगामी है ।

वह तो मैं जैसा हूँ, वैसा ही हो जाता है ।
मैं वासना में हूँ, तो वह वहाँ साथ देता है ।
मैं साधना में हो जाऊँ, तो वह वहाँ साथी हो जाता है ।
वह मेरे पीछे है ।
परिवर्तन उसमे नही—वह जिसके पीछे है उसमे करना है ।

९३ / 'मैं' का होना बंधन है

मैं शाति, आनन्द और मुक्ति की बातें कर रहा हूँ। जीवन की वही केंद्रीय खोज है। वह पूरी न हो, तो जीवन व्यर्थ हो जाता है।

कल यह कह रहा था कि एक युवक ने पूछा कि **क्या सभी को मोक्ष मिल सकता है ? और यदि मिल सकता है, तो फिर मिल क्यों नहीं जाता है ?**

एक कहानी मैंने उससे कही

गौतम बुद्ध के पास एक प्रभात किसी व्यक्ति ने भी यही पूछा था। उन्होने कहा था कि जाओ और नगर म पूछकर आओ कि जीवन मे कौन क्या चाहता है ? वह व्यक्ति घर-घर गया और सध्या को थका-माँदा एक फेहरिस्त लेकर लौटा। कोई यश चाहता था, कोई पद चाहता था, कोई धन—वैभव—समृद्धि, पर मुक्ति का आकाक्षी तो कोई भी नही था ! बुद्ध बोले थे कि अब बोलो, अब पूछो, मोक्ष तो प्रत्येक को मिल सकता है। वह तो है ही, पर तुम एक बार उस ओर देखो भी तो ! हम तो उस ओर पीठ किये खडे है।

वही उत्तर मेरा भी है।

मोक्ष प्रत्येक को मिल सकता है, जैसे कि प्रत्येक बीज पौधा हो सकता है।

वह हमारी सभावना है पर सभावना को वास्तविकता म बदलना है।

इतना मैं जानता हू कि बीज को वृक्ष बनाने का यह काम कठिन नही है। यह बहुत ही सरल है।

बीज मिटने को राजी हो जाय, तो अकुर उसी क्षण आ जाता है।

मैं मिटने को राजी हो जाऊँ, तो मुक्ति उसी क्षण आ जाती है।

मैं बधन है। वह गया कि मोक्ष है।

मैं के साथ ससार म हूँ 'मैं' नही कि मै ही मोक्ष हूँ।

९४ / सब मे छिपा है—मुक्ति का बीज

एक वर्ष हुआ । बीती बरसात मे गुलतेवरी के फूल बोये थे । वर्षा गयी तो साथ ही फूल भी चले गये थे । फिर सूखे पौधो को अलग कर दिया था । इस बार देखता हूँ कि वर्षा आयी है तो गुलतेवरी के अकुर फिर अपने आप ही फूट रहे है । जगह भूमि को तोडकर उनने झाँकना शुरू किया है ।

एक वर्ष तक विगत वर्ष छूटे बीजो ने प्रतीक्षा की है और अब उनको पुन जन्म पाते देखना आनन्दपूण है । भूमि के अधेरे म सर्दी और गरमी मे वे प्रतीक्षा करते रहे हैं और अब कही जाकर उन्हे पुन प्रकाश पाने का अवसर मिला है । इस उपलब्धि पर उन नवजात पौधो मे मगल-सगीत छाया हुआ है । उसे मैं अनुभव करता हूँ ।

सदियो पूव किसी अमृत-कठ ने गाया था 'तमसो मा ज्योतिर्गमय ।

अधेरे से प्रकाश पाने की आकाक्षा किसमे नही है !

क्या मनुष्य म, क्या प्रत्येक प्राणी मे ऐसे बीज नही छिपे है जो प्रकाश पाना चाहते है ?

क्या वहाँ भी जन्म-जन्मो म अवसर की प्रतीक्षा और प्रार्थना नही है ?

प्रत्येक के भीतर छिपे है य बीज और इन बीजो से ही पूर्ण होने की प्यास उठती है ।

प्रत्येक के भीतर छिपी हैं य लपटे और ये लपटे सूरज को पाना चाहती हैं ।

इन बीजो को पौधो मे बदले बिना कोई तृप्त नही होता है ।

पूर्ण हुए बिना कोई मार्ग नही है ।

पूर्ण होना ही होता है, क्योंकि मूलत प्रत्येक बीज पूर्ण ही है ।

९५ / योग से नित नूतन का जन्म

नया प्रभात। नया सूरज। नये फूल। सोकर उठा हूँ। सब नया-नया है। जगत मे कुछ भी पुराना नही है।

कई सौ वर्ष पहले यूनान म हेराक्लतु ने कहा था एक ही नदी मे दो बार उतरना असभव है।

सब नया है, पर मनुष्य पुराना पड जाता है। मनुष्य नये म जीता ही नही इसलिए पुराना पड जाता है।

मनुष्य जीता है—स्मृति म अतीत म मृत म। यह जीना ही ह जीवन नही है। यह अर्ध मृत्यु है और इस अर्द्ध-मृत्यु को ही हम जीवन मान कर समाप्त हो जाते है।

जीवन न अतीत म है न भविष्य म है। जीवन तो नित्य वर्तमान म है।

वह जीवन योग स मिलता है क्योकि **योग चिर-नवीन मे जगा देता है। योग चिर-वर्तमान मे जगा देता है।**

उसम जागना है—जो है।

जो था वह भी नही है। जो होगा वह भी नही है। और जो है वह प्रकट तब होता है, जब मानव चित्त स्मृति और कल्पना के भार स मुक्त हो।

स्मृति मत या सकल्न है उसम जीवन को नही पाया जा सकता है।

और कल्पना भी स्मृति की ही पुत्री है। वह उसकी ही प्रतिध्वनि और प्रक्षेप है।

वह सब ज्ञात म भटकना है।

उसम जो अज्ञात है उसके द्वार नही खुलते है।

ज्ञात को जाने दो ताकि अज्ञात प्रकट हो सके।

मृत को जाने दो ताकि जीवित प्रकट हो सके।

योग का सार-सूत्र यही है।

•

९६ / दुख मुक्ति के लिए चेतना का जागरण जरूरी

रात्रि घनी हो रही है। आकाश मे थोड-से तारे है और पश्चिम मे खडित चाँद लटका हुआ है। बला खिली है और उसकी गध हवा मे तैर रही है।

मै एक महिला को द्वार तक छोडकर लौटा हूँ। मै उन्हे जानता नही हूँ। कोई दु ख उनके चित्त को घरे है। उसकी कालिमा उनके चारो ओर एक मडल बनाकर खडी हो गयी है।

यह दु खमडल उनक आते ही मुझ अनुभव हुआ था। उन्होंने भी बिना समय खोये आते ही पूछा था कि क्या दु ख मिटाया जा सकता है? मै उन्ह दखता हूँ वे दु ख की एक प्रतिमा मालूम होती है।

और सार लोग ही धीर धीरे एसा ही प्रतिमाएँ होते जा रहे है।

वे सभी दु ख मिटाना चाहते है पर नही मिटा पात है क्योकि दु ख का उनका निदान सत्य नही है।

चेतना की एक स्थिति म दु ख होता ह। वह उस स्थिति का स्वरूप है। उस स्थिति क भीतर द ख म छुटकारा नही ह। कारण वह स्थिति ही दु ख है। उसम एक द ख हटाय ता दूसरा आ जाता हे। यह शृखला चलती ह। इस दु ख स छूट उस दु ख मे छट पर द ख मे छटना नहा हाता है। दु ख बना रहता है केवल निमित्त बदल जात है।

दु ख म मुक्ति पान म नही **चेतना की स्थिति बदलन से ही दुःख निरोध होता है—दु ख मुक्ति होती है।**

एक अधरी रात गौतम बद्ध क पास एक युवक पहुचा था—दुखी चिंतित सतापग्रस्त। उसन जाकर कहा था ससार कैसा दु ख है कैसी पीडा है। गौतम बद्ध बोले थ म जहा ह वहा आ जाओ वहा दु ख नही है वहाँ सताप नही है

एक चतना है जहाँ दु ख नही ह इस चेतना क लिए ही बद्ध बोले थे जहा म हू

मनष्य की चेतना की दो स्थितिया ह अज्ञान की और ज्ञान की पर-तादात्म्य की और स्व-बोध की।

म जब तक पर स तादात्म्य कर रहा ह तब तक द ख है।

यह पर बधन ही द ख है

पर' से मुक्त होकर स्व को जानना और स्व मे होना दु ख निरोध है।

मै अभी मै नही हूँ इसस दु ख है। म जब वस्तुत मै होता हूँ तब दु ख मिटता है।

९७ / 'मैं' की गाँठ और शून्य का भय

आकाश आज तारों से नहीं भरा है। काली बदलियाँ घिरी हैं और रह-रह कर बूँदें पड़ रही है।

रातरानी के फूल खिल गये हैं और हवाएँ सुवासित हो गयी हैं।

मैं हूँ, ऐसा कि जैसे नही ही हूँ, और न होकर, होना पूर्ण हो गया है।

एक जगत् है, जहाँ मृत्यु जीवन है और जहाँ खो जाना, पा जाना है।

एक दिन सोचता था, बूँद को सागर मे गिरा देना है।

अब पाता हूँ कि यह तो सागर ही बूँद मे गिर आया है।

मनुष्य का 'होना' ही उसका बधन है। उसका शून्य होना मुक्ति है।

यह होने की गाँठ व्यर्थ ही भटकाती है।

और, शून्य होने का भय पूर्ण होने से रोकता है।

जब तक 'न-कुछ' होने की तैयारी नही है, तब तक मनुष्य 'न-कुछ' ही बन रहता है।

मृत्यु मे उतरने का जब तक साहस नही है, तब तक मृत्यु मे ही भटकना होता है।

पर जो मृत्यु लेने को तैयार हो जाता है वह पाता है कि मृत्यु है ही नही।

और जो **मिटने को राजी हो जाता है, वह पाता है कि उसमें कुछ है जो कि मिट ही नहीं सकता है।**

ऐसा विरोध का नियम, जीवन का नियम है।

इस नियम को जानना योग है।

और, ठीक से जान लेना उसके बाहर हो जाना है।

विरोध के इस नियम का ज्ञात न होना ही भटकाता है।

उसके ज्ञात हो जाने से भटकन समाप्त हो जाती है।

और, वह उपलब्ध होता है, जो कि यात्रा का पडाव नही, यात्रा का अत है।

९८ / वासनाओं का बंधन

एक पूर्णिमा की रात्रि मधुशाला से कुछ लोग नदी-तट पर नौका-विहार को गये थे। उन्होंने एक नौका को खेया—अर्ध-रात्रि से प्रभात तक वे अथक पतवार चलाते रहे थे। सुबह सूरज निकला, ठंडी हवाएँ बही, तो उनकी मधु-मूर्च्छा टूटने लगी। उन्होंने सोचा कि अब वापस लौटना उचित है। यह देखने के लिए कि कहाँ तक चले आये हैं, वे नौका से तट पर उतरे। पर तट पर उतरते ही उनकी हैरानी की सीमा न रही, क्योंकि उन्होंने पाया कि नौका वही खडी है, जहाँ रात्रि उन्होंने उसे पाया था !

रात्रि वे यह भूल ही गये थे कि पतवार चलाना भर पर्याप्त नही है, नौका को तट से खोलना भी पड़ता है।

आज सध्या यह कहानी कही है।

एक वृद्ध आये थे। वे कह रहे थे, मै जीवन भर चलता रहा हूँ, लेकिन अब अत मे ऐसा लगता है कि कही पहुँचना नही हुआ। उनसे ही यह कहानी कहनी पडी है।

मनुष्य मूर्च्छित है। स्व-अज्ञान उसकी मूर्च्छा है। इस मूर्च्छा मे समस्त कर्म उसका यात्रिक है।

इस विवेक-शून्य स्थिति मे वह चलता है, जैसे कोई निद्रा मे चलता है, पर कही पहुँच नही पाता है।

नाव की जजीरे जैसे तट मे बँधी रह गयी थी, ऐसे ही इस स्थिति मे वह भी कही बँधा रह जाता है।

इस बधन को धर्म ने वासना कहा है।

वासना मे बंधा मनुष्य, आनन्द के निकट पहुँचने के भ्रम मे बना रहता है।

पर, उसकी दौड एक दिन मृग-मरीचिका सिद्ध होती है।

वह कितनी ही पतवार चलाये, उसकी नाव अतृप्ति के तट को छोडती ही नही है।

वह रिक्त और अपूर्ण ही जीवन को खो देता है।

वासना स्वरूपत दुष्पूर है।

जीवन चुक जाता है—वह जीवन जिसमे दूसरा किनारा पाया जा सकता था, वह जीवन जिसमे यात्रा पूरी हो सकती थी—व्यर्थ हो जाता है और पाया जाता है कि नाव वही की वही खडी है।

प्रत्येक नाविक जानता है कि नाव को सागर मे छोड़ने के पहले तट से खोलना होता है।

प्रत्येक मनुष्य को भी जानना चाहिए कि आनन्द के, पूर्णता के, प्रकाश के सागर में नाव छोड़ने के पूर्व तट से वासना की जंजीरें अलग कर लेनी होती है।

इसके बाद तो फिर शायद पतवार भी नही चलानी पड़ती है!

रामकृष्ण ने कहा है, "तू नाव तो छोड़, पाल तो खोल, प्रभु की हवाएं प्रतिक्षण तुझे ले जाने को उत्सुक हैं।"

९९ / ध्यान अर्थात् आनन्द का नया आयाम खोलना

एक साधु कल आये थे। ध्यान की साधना पर उनसे बातें हुई है।

यह जानकर बहुत आश्चर्य होता है कि मन के स्वरूप के सम्बन्ध मे कितनी भ्रांत और मिथ्या धारणाएँ प्रचलित है।

उसे शत्रु मानकर साधना प्रारम्भ करने से सब साधना ही गलत हो जाती है।

न मन शत्रु है, न शरीर शत्रु है। वे तो यंत्र हें और सहयोगी हें।

चेतना उनका जैसा उपयोग करना चाहे, कर सकती है।

प्रारम्भ से ही शत्रुता और सघर्ष की वृत्ति—दमन करती है। और परिणाम-स्वरूप सारा जीवन विषाक्त हो जाता हे।

मनुष्य का मन स्वभावतः आनन्दोन्मुख है। इसमे कुछ बुरा भी नही है।

यह तो उसका स्वरूप के प्रति आकर्षण है।

यह न हो, तो व्यक्ति कभी आत्मिक जीवन की ओर नही जा सकता।

यह मन आनन्द की खोज ससार मे करता हे और फिर जब उसे वहां नही पाता है, तो भीतर की ओर मुडता है।

आनन्द केंद्र है—संसार का भी, मोक्ष का भी। उसकी धुरी पर ही सारा लौकिक-पारलौकिक जीवन घुमता है।

इस आनन्द की झलक बाहर दीखती है, इससे बाहर दौड होती है।

ध्यान से इस आनन्द का वास्तविक स्रोत दीखने लगता है, इसमे दिशा वहाँ मुड जाती है।

मन को जबरदस्ती भीतर नही मोडना है।

इस दमन से ही वह शत्रु मालूम होने लगता है।

आनन्द का नया आयाम खोलना है।

इस आयाम के खुलते ही मन अपने आप भीतर जाता पाया जाता है।

वह तो आनन्दोन्मुख है।

जहाँ आनन्द है, वहाँ उसकी सहज गति है।

आनन्द जीवन का लक्ष्य है।

आनन्द—अखड आनन्द, जीवन का उद्देश्य है।

ससार मे उसकी झलक हे—प्रतिफलन है।

मोक्ष मे उसका मूलस्रोत है। बाहर उसका प्रक्षेप है, भीतर उसका मूल है।

परिधि पर छाया है, केंद्र पर उसके प्राण हैं।
इससे संसार---मोक्ष का विरोध नहीं है।
बाहर---भीतर का द्वन्द्व नहीं है।
समस्त सत्ता एक संगीत है।
इस सत्य के दर्शन होते ही व्यक्ति बंधन के बाहर हो जाता है।

सुबह ही सुबह एक युवक आ गये है। उदास दीखते है और लगता है कि जैसे भीतर किसी एकाकीपन ने घेर लिया है। कुछ जैसे खो गया है और आँखे उसे खोजती मालूम होती है। मेरे पास वे कोई वर्ष भर से आ रहे है और ऐसे भी एक दिन आयेंगे यह भी भलीभाँति जानता था। इसके पूव उनमे काल्पनिक आनन्द था वह धीरे-धीरे विलीन हो गया है।

कुछ देर सन्नाटा सरकता रहा है। उन्होने आँखे बद कर ली हैं और कुछ सोचते-से मालूम होते है। फिर प्रकटत बोले मैं अपनी आस्था खो चुका हूँ, मैं एक स्वप्न में था वह जैसे खडित हो गया है। ईश्वर साथ मालूम होता था अब अकेला रह गया हूँ और बहुत घबराहट होती है। इतना असहाय तो मैं कभी भी नही था। पीछे वापस लौटना चाहता हू पर वह भी अब सभव नही दीखता है। वह सेतु खडहर हो गया है।

मैं कहता हू जो नही था केवल वही छीना जा सकता है। जो है उसका छीनना सभव नही है।

स्वप्न और कल्पना के साथी से एकाकीपन मिटता नही है केवल मूर्च्छा म दब जाता है।

ईश्वर की कल्पना और मानसिक प्रक्षप से मिला आनन्द वास्तविक नही है।

वह सहारा नही भ्राति है।

और भ्रातिया म जितनी जल्दी छुटकारा हो उतना ही अच्छा।

ईश्वर को वस्तुत पाने के लिए समस्त मानसिक धारणाओ को त्यागना पडता है।

और उन धारणाओ म ईश्वर की धारणा भी अपवाद नही है।

वह भी छोडनी पडती है।

यही त्याग है और यही तप है।

क्योकि, स्वप्नो को छोडने से अधिक कष्ट और किसी बात मे नहीं है।

कल्पना, स्वप्न और धारणाओ के विसर्जन पर, जो है', वह अभिव्यक्त होता है।

निद्रा टूटती है और जागरण आता है।

फिर जो पाना है वही वास्तविक पाना है क्योकि उसे कोई छीन नही सकता है।

वह किसी और अनुभूति मे खडित नही होता है क्योकि वह पर-अनुभूति नही स्वानुभूति है।

वह किसी दृश्य का दर्शन नही, **स्वयं शुद्ध द्रष्टा का बोध है ।**

वह ईश्वर का विचार नही, स्वय ईश्वर मे होना है ।

ईश्वर की काल्पनिक धारणा और आस्था खो गयी है, तो घबराओ मत । यह शुभ ही है ।

सब धारणाएँ खो दो और फिर देखो । तब जो दिखायी पडता है, वही ईश्वर है ।

१०१ / मनुष्य की अज्ञात जडे—विचारातीत अस्तित्व मे

एक मित्र **कागज के कुछ फूल भेंट** कर गये है। उन फूलो को देखता हूँ—जो दीख रहा ह उसके पार उनमे कुछ भी नही है। **उनमे सब-कुछ दृश्य है, अदृश्य कुछ भी नहीं।** और बाहर क्यारियो म गुलाब के फूल खिले हैं उनमे जो दीख रहा है उसके पार कुछ अनदीखा भी है और वह अदृश्य ही उनका प्राण है।

आधुनिक सभ्यता कागज के फूलो की सभ्यता है।

दीखने पर दृश्य पर वह समाप्त है और इसीलिए निष्प्राण भी है।

अदृश्य से अज्ञात से नाता टूट गया है।

और इसलिए मनुष्य जितना आज जडो से अलग हो गया है उतना इसके पूव कभी भी नही हुआ था।

वृक्ष फूल फल पत्ते—सब दृश्य है पर जडे भूमि मे होती हैं—जडे अज्ञात और अदृश्य म होती है।

और जो जडे देखी जा सकती है सब जडे उन पर ही समाप्त नही हो जाती है—और भी जडे है जो देखी नही जा सकती।

प्राण जहाँ से महाप्राण से सयुक्त है, वह केंद्र अज्ञात ही नहीं, अज्ञेय भी है।

इस अज्ञेय से सयुक्त मनुष्य वास्तविक जडो को पा जाता है।

इस अज्ञेय को विचार से नही पाया जा सकता। विचार की सीमा ज्ञेय पर समाप्त है।

विचार स्वय ज्ञेय और दृश्य है।

और जो दृश्य है वह अदृश्य को जानने का माध्यम नही बन सकता।

सत्ता विचार के पार है। अस्तित्व विचार के अतीत है।

अस्तित्व को इसलिए जाना नही जाता है हुआ जाता है।

उसमे प्रथम दशक होकर परिचित होना नही होना वरन् उसम एक होकर होना होना है।

विचार छोडकर शात शून्य होकर वह अद्वैत आता है—जो सत्य मे सत्ता म खडा कर देता है।

कागज के फूल देखने हो तो दूर म देखे जा सकते है। उनका द्रष्टा हुआ जा सकता है।

पर, असली फूल देखने हो, तो फूल बन जाना जरूरी है।

एक लड़की रो रही है। उसकी गुडिया टूट गयी है और अब मैं सोचता हूँ कि **सब रोना क्या गुड़ियों के टूट जाने के लिए ही रोना नहीं है !**

कल संध्या एक वृद्ध आये थे। उन्होंने जीवन मे जो चाहा था, वह नही हो सका। वे उदास थे और संतापग्रस्त थे।

एक महिला आज मिली थी और बातें करते-करते आँसू पोंछ लेती थी। उन्होंने स्वप्न देखे थे और वे सत्य नही हुए हैं।

और, अब यह लड़की रो रही है। और क्या इस लड़की की आँखो मे सब आँसुओ की बुनियादी झलक नही है !

और, उसके सामने टूटी पडी गुड़िया मे क्या सब आँसुओं का मूल कारण साकार नही हुआ है ?

उसे कोई समझा रहा है कि आखिर गुडिया ही तो है, उसके लिए रोना क्या है !

यह सुन मुझे हँसी आ गयी है।

काश, मनुष्य इतना ही जान ले तो क्या समस्त दुःख समाप्त नही हो जाते ?

गुड़िया—बस, गुड़िया है, यह जानना कितना कठिन है !

मनुष्य मुश्किल से इतना प्रौढ़ हो पाता है कि यह जान सके।

शरीर का प्रौढ होना एक बात है, मनुष्य का प्रौढ़ होना बिलकुल दूसरी बात है।

प्रौढ़ता क्या है ?

मनुष्य की प्रौढ़ता—मन से मुक्त होना है।

मन जब तक है, तब तक गुड़ियों को बनाता रहता है।

मन से मुक्त होते ही गुड़ियों से मुक्ति होती है।

१०३ / ध्यान है—'न-करने' में होना

'मैं साधक हूँ। आध्यात्मिक साधना मे लगा हूँ। क्रमश गति होती जा रही है, एक दिन प्राप्ति भी हो जाने को है।'

एक साधु ने एक दिन मुझसे कहा था। उनके शब्दों मे मुझे साधना नही, वासना ही लगी थी। ऐसी साधना भी बाधा है।

जो है, उसे पाने का अभ्यास क्या करना है!

उसे पाना भी तो नही, **यही जानना है कि वह खोया ही नहीं गया है।**

और, तथाकथित साधना का उपक्रम इस सत्य को छिपा देता है।

उसके मूल मे भी वासना है और कुछ पाने और कुछ बदलने की आकाक्षा है।

मैं जो हूँ, उसे बदलना है। 'अ को 'ब' बनाना है।

समस्त वासना के मूल मे यही द्वन्द्व होता है, यही द्वैत होता है।

यह द्वैत ही जगत् है और दु ख है।

मैं कहता हूँ, **"आप जो हो, उससे जरा भी कुछ और होने की आकांक्षा यदि है, तो आप 'जो है' उसके विपरीत जा रहे हो।"**

और, 'जो है'—वही मार्ग है।

'जो है'–उसके प्रति जागते ही जीवन एक सहजता और सौन्दर्य से भर जाता है।

एक स्वतत्रता और मुक्ति श्वास-श्वास मे भर जाती है।

यह सौंदर्य तथाकथित अभ्यासी को कभी उपलब्ध नही होता है।

उसमें एक हिंसा, एक दमन और कुछ 'होने' की वासना के लक्षण सहजता नष्ट कर देते है।

इसलिए, एक कुरूपता समस्त तथाकथित साधुओ मे होती है।

फिर क्या करे?—कुछ भी नही।

न करना—कुछ भी न करना—ध्यान है।

कर्म मे स्व नही है विचार मे स्व नही है।

कर्म और विचार के बाहर होने ही वह आविष्कृत हो जाता है।

सब छोड दो सब मिट जाने दो, सब विलीन हो जाने दो।

और फिर इस 'न-कुछ' मे, इस शून्य मे जो दीखता है, वही सब-कुछ है।

१०४ / धर्म अर्थात् अपने में होना

एक प्रबोध कथा है।

एक युवक ने किसी साधु से पूछा था मोक्ष की विधि क्या है ? उस साधु ने कहा 'तुम्हे बाँधा किसने है ? वह युवक एक छड रुका फिर बोला बाधा किसी ने भी नही है !

तब उस साधु ने पछा फिर मुक्ति क्या खोजते हा ?

मुक्ति क्यो खोजते हो ? यही कल मैंने भी एक व्यक्ति से पूछा है।

यही प्रत्येक को अपने से पूछना है।

बधन है कहाँ ?

जो है, उसके प्रति जागो। जो है, उसके बदलने की फिक्र छोडो।

आदर्श के पीछे मत दौडो।

जा भविष्य मे है वह नही जो वतमान है वही तुम हो।

और वतमान मे काई बधन नही है।

बतमान के प्रति जागते ही बधन नहीं पाये जाते ह।

आकांक्षा—कुछ होने और कुछ पाने की आकाक्षा ही बधन है।

आकाक्षा सदा भविष्य मे है आकाक्षा सदा कल हे वही बधन है वही तनाव है वही दौड है वही ससार है।

यह आकाक्षा ही माक्ष का निर्माण करती है। मोक्ष पाने के मूल म वही है।

और बधन मल म हो तो परिणाम म मोक्ष कैसे हो सकता है ?

मोक्ष की शुरुआत मुक्त हाने स करनी हाती है।

मोक्ष पाना नही है वरन दशन करना है कि म

म मुक्त हूँ, यह बोध शात जाग्रत चेतना मे सहज ही उपलब्ध हो जाता है।

प्रत्येक मुक्त है—केवल इस सत्य के प्रति जागना मात्र है।

म जैसे ही दौड छाडता हू—कुछ हाने की दौड जसे ही जाती है कि म हो आता हू और हो आना —पूरे अर्थो म हा आना ही मुक्ति है।

तथाकथित धार्मिक इस हा आने को नही पाता है क्योकि वह दौड म है—मोक्ष पाने की आत्मा को पाने की ईश्वर का पाने की।

और जो दौड मे है चाहे उस दौड का रूप कुछ भी क्या न हो वह अपने मे नही है।

धार्मिक होना आस्था की बात नहीं, किसी प्रयास की बात नहीं, किसी क्रिया की बात नहीं।

धार्मिक होना तो अपने मे होने की बात है।

और, यह मुक्ति एक क्षणमात्र मे आ सकती है।

इस सत्य के प्रति सजग होते ही, जागते ही, कि बंधन दौड़ में है, आकाक्षा मे है! आदर्श में है, अधेरा गिर जाता है।

और, जो दीखता है, उसमे बंधन पाये ही नही जाते है।

सत्य एक क्षण मे क्राति कर देता है।

सूरज निकलता है। सर्दियों की सुबह। रात हवाएँ ठंडी थीं। और सुबह दूब पर ओसकण भी फैले थे। अब तो किरणें उन्हें पी गयी है और धूप भी गरमा गयी है।

एक सुखद सुबह, दिन का प्रारम्भ कर रही है। पक्षियों के अर्थहीन गीत भी कितने अर्थपूर्ण मालूम होते है—पर शायद जीवन मे कोई अर्थ नही है।

और, अर्थ की कल्पना मनुष्य की अपनी है।

अर्थ नहीं—शायद इससे ही जीवन मे अनन्त गहराई और विस्तार है।

अर्थ तो सीमा है।

जीवन-अस्तित्व है असीम, इससे अर्थ वहाँ कोई भी नही है।

और, जो अपने को इस असीम मे असीम कर लेता है, इस विराट् अर्थ-शून्यता में अर्थ शून्य हो जाता है, वह उसे पा लेता है 'जो है'—वह उस अस्तित्व को पा लेता है।

सब अर्थ क्षुद्र है और क्षुद्र का है।

सब अर्थ अहं के बिन्दु से देखा गया है।

अहं ही अर्थ का केंद्र है।

उससे जो जगत् देखा जाता है, वह वास्तविक जगत् नही है।

जो भी 'मैं' से सबंधित है, वह वास्तविक नही है।

सत्य अखंड इकाई है, वह 'मैं' और 'न मैं' मे विभाजित नही है।

सब अर्थ 'मैं' का है।

इससे जो अखंड है, **'मैं' और 'न मैं' के अतीत है, वह अर्थ-शून्य है।**

उसमे न अर्थ है, न 'अर्थ-नही' है।

उसे कोई भी नाम देना गलत है।

उसे ईश्वर कहना भी गलत है।

ईश्वर भी 'मैं' के ही प्रसग मे है। वह भी 'मैं' की ही धारणा है।

कहे कि जो भी सार्थक है, वह व्यर्थ है।

सार्थकता की सीमा के बाहर हो जाना—आध्यात्मिक हो जाना है।

बोधिधर्म से किसी ने पूछा था, "पवित्र निर्वाण के सबध मे कुछ कहे।"

वे बोले थे, **"पवित्रता कुछ भी नहीं, बस, शून्यता और केवल शून्यता।"**

एक मुरगा बोल रहा है—सुनता हूँ ।

एक गाडी मार्ग से जा रही है—देखता हूँ ।

सुनना है, देखना है और बीच मे कोई शब्द नहीं है ।

शब्द सत्ता से तोड देता है ।

शब्द सत्य के सबध मे है, सत्य नही है ।

सत्य तक शब्द से नही, शब्द खोकर पहुँचना होता है ।

और, शब्द खोना समाधि है ।

लेकिन, केवल शब्द खोना मात्र समाधि नही है ।

शब्द तो मूर्च्छा मे भी खो जाते है सुषुप्ति मे भी खो जाते है ।

शब्द खोकर भी जाग्रत्, चेतन और प्रबुद्ध बने रहना समाधि है ।

यह एक साधु से कह रहा हूँ । वे तल्लीनता और मूर्च्छा को समाधि मानते रहे है ।

यह भ्रम बहुतो को रहा है ।

यह भ्रम बहुत घातक है ।

इस भ्रम से ही पूजा और भक्ति और मूर्च्छित होने के बहुत-से उपाय प्रचलित हुए है ।

वे सब उपाय पलायन है और उनका उपयोग मादक द्रव्यो से भिन्न नही है ।

उनमे व्यक्ति अपने को भूल जाता है ।

इस भूलने मे इस आत्म-विस्मरण मे आनन्द का आभास पैदा होता है ।

पर योग आत्म-विस्मरण नही पूर्ण आत्म-स्मरण चाहता है ।

मै जब परिपूर्ण रूप से जागता हूँ तब मै परिपूर्ण रूप मे हो पाता हूँ ।

यह जागना—शब्द से, विचार से, मन से मुक्त होने से होता है ।

इस जागृति मे, इस शब्द-शून्य चेतना मे, 'मै' मिट जाता है ।

पर मै नही मिटता हूँ वरन् मै के मिट जाने पर अहं-बोध के मिट जाने पर, मै परिपूर्ण हो जाता हूँ ।

अमावस उत्तर रही है। पक्षी नीडो पर लौट आये हैं और घिरते अधेरे म वृक्षो पर रात्रि-विश्राम के पूर्व की चहल-पहल है। नगर मे दीप जलने लगे है। थोडी ही देर बाद आकाश मे तारे और नीचे दीप ही दीप हो जाने को है।

पूर्वीय आकाश मे दो छोटी काली बदलियाँ तैर रही हैं। कोई साथी नही है—एकदम अकेला हूँ। कोई विचार नही, बस बैठा हूँ और बैठना कितना आनन्दप्रद है। **आकाश और आकाश-गगा अपने में समा गयी मालूम होती है।**

विचार नहीं होते हं, तो व्यक्ति-सत्ता, विश्व-सत्ता से मिल जाती है।

एक छोटा-सा ही परदा है, अन्यथा प्रत्येक प्रभु है।

आँख पर तिनका है और तिनके ने प्रभु को छिपा लिया है।

यह छोटा-सा ही तिनका ससार बन गया है।

इस छोटे-से तिनके के हटते ही अनन्त आनन्द-राज्य के द्वार खुल जाते है।

जीसस क्राइस्ट ने कहा है जरा-सा खटखटाओ और द्वार खुल जाते है।

मैं तो कहता हूँ "**ज़रा-सा झाँको भर, द्वार खुले ही हैं।**"

एक व्यक्ति सूर्यास्त की दिशा मे भागा जा रहा था। उसने किसी से पूछा, "पूर्व कहाँ है?" उत्तर मिला पीठ भर फेर लो पूर्व तो आँख के सामने ही मिल जायेगा।'

सब उपस्थित है।

ठीक दिशा मे आँख भर फेरने की आवश्यकता है।

यह बात सारे जगत् मे कह देनी है।

इसे ठीक से सुन भी लेना बहुत-कुछ पा लेना है।

स्व-दिव्यता की आस्था आधी उपलब्धि है।

मैंने आज ही मिलने आये एक मित्र से कहा है सम्पत्ति पास है केवल स्मरण नही रहा है।

सम्यक् स्मृति जगाओ—अपनी दिव्यता को स्मरण करो—कौन हो तुम?

अपने को पूछो—पूछो—और इतना पूछो कि समस्त तन-प्राण पर वह अकेला स्वर ही गूँजता रह जाये।

फिर अचेतन मे उसका तीर उतर जाता है और वह अलौकिक उत्तर अपने आप सामने आ खडा होता है जिसे जान लेना सब-कुछ जान लेना है।

१०८ / स्वय से पलायन नहीं, स्वय का साक्षात्

रात्रि अभी गयी नही है और विदा होते तारो से आकाश भरा है। नदी एक पतली चाँदी की धार जैसी मालूम होती है। रेत रात गिरी ओस से ठडी हो गयी है और हवाओ मे भी बहुत ठडक है।

एक गहरा सन्नाटा है और बीच-बीच मे पक्षियो की आवाज उसे और गहरा बना देती है।

एक मित्र को साथ ले कुछ जल्दी ही इस एकात मे चला आया हूँ। वे मित्र कह रहे हैं कि एकात मे भय मालूम होता है और सन्नाटा काटता सा लगता है। किसी भाँति अपने को भरे रहे तो ठीक अन्यथा न मालूम कैसा सताप और उदासी घेर लेती है।

यह सताप प्रत्येक को घेरता है।

कोई भी अपना साक्षात नही करना चाहता।

स्वय मे झाँकने से घबराहट मालूम होती है।

और एकात स्वय के साथ छोड देता है इसलिए एकात भयभीत करता है।

'पर मे उलझे हो तो स्व' भूल जाता है।

वह एक तरह की मूर्च्छा है और पलायन है।

जीवन भर मनुष्य इस पलायन मे लगा रहता है।

पर यह पलायन अस्थायी है और मनुष्य किसी भी भाँति अपने आपसे बच नही सकता।

बचाव के लिए की गयी उसकी सब चेष्टाए व्यर्थ हो जाती हैं।

क्योंकि वह जिससे बचना चाह रहा है वह स्वय ही वही है।

अपने से कैसे बचा जा सकता है और अपने से कैसे भागा जा सकता है।

हम सबसे भाग सकते हैं पर स्वय से नहीं भाग सकते।

जीवन भर भागकर हम अत मे पायेगे कि कही भी नही पहुँचे है।

इसलिए, जो विवेकशील हैं, वे स्वय से भागते नहीं, स्वय का साक्षात् करते हैं।

मनुष्य भीतर झाँके तो शून्य का अनुभव होता है।

वहा अनत शून्य है।

इसलिए घबडाकर वह बाहर भागता है।

उस शून्य को भरने का वह अनत प्रयास करता है।

ससार मे और सबधो मे उस शून्य को भरना चाहता है।

पर वह शून्य किसी भी तरह भरा नही जा सकता है।

उसे भरना असमव है और यही उसका सताप है और असफलता है।

मृत्यु इसी संताप को उघाडकर उसके सामने कर देती है।

मृत्यु उसे इसी शून्य में डाल देती है, जिससे वह जीवन भर बचता था और इसीलिए मृत्यु का भय सर्वोपरि है।

मै कहता हूँ, स्वय के शून्य से भागना अज्ञान है।

उसके साक्षात्, उसमे प्रवेश से जीवन का समाधान उपलब्ध होता है।

धर्म शून्य मे प्रवेश है।

मनुष्य नितात एकात म अपने साथ जो करता है, वही धर्म है।

१०९ / बहने दो जीवन को

एक युवक न पूछा है जीवन का आदश क्या है ?

रात्रि घनी हो गयी हे और आकाश तारो से भग है। हवाओ मे आज सर्दी है और शायद कोई कहता था कि कही आले पड है। राह निजन है और वृक्षो के तले घना अधरा है।

आर इम शात शून्य घिरी रात्रि मे जीना कितना आनन्दमय है !

होना मात्र ही कैसा आनन्द हे !

पर हम होना ही भूल गये है।

जीवन कितना आनन्द ह पर हम मात्र जीना नही चाहते है।

हम तो किसी आदश के लिए जीना चाहते है।

जीवन को साघन बनाना चाहते है जो कि **स्वय साध्य है।**

यह आदश की दौड सब विषाक्त कर देती है।

यह आदश का तनाव सब सगीत तोड देता ह।

अकबर ने एक बार तानसेन से पूछा था तुम अपने गुरु जैसा क्यो नही गा पाते हो—उनम कुछ अलौकिक दिव्यता है। उत्तर मे तानसेन ने कहा था वे केवल गाते है—गाने के लिए गाते है। और मै—मेर गाने म उद्दश्य ह।

किसी क्षण केवल जी कर देखा।

केवल जिओ—जीवन म एडा मत छीना झपटी न करा।

चुप होकर देखो क्या हाता है !

जो होता है उसे होने दा।

जा है—उसे होने दो।

अपनी तरफ से सब तनाव छोड दो और जीवन को बहने दो।

जीवन को घटित होन दो।

और जा घटित होगा—मै विश्वाम दिलाता हूँ—वह मक्त कर दता है।

आदश का भ्रम मदियो पाल गय अधविस्वासा म से एक ह।

जीवन किसी और के लिए कुछ और क लिए नही **बस जीने के लिए है।**

जा किसी लिए जीता ह वह जीता ही नही है।

जो केवल जीता है वही जीता ह।

और वही उसे पा लेता है जो कि पाने जैसा है।

वही आदर्श को भी पा लेता है।

उस युवक की ओर देखता हूँ। उसके चेहरे पर एक अद्भुत शांति फैल गयी है। वह कुछ बोलता नही है, पर सब बोल देता है। कोई एक घंटा मौन और शांत बैठकर वह गया है। वह बदलकर गया है। जाते समय उसने कहा है "मैं दूसरा व्यक्ति होकर जा रहा हूँ।'

११० / समाज के दर्पण में स्वयं का प्रतिबिम्ब

सुबह हो गयी है। सूरज बदलियो मे है और धीमी फुहार पड रही है। वर्षा ने सब गीला-गीला कर दिया है।

एक साधु पानी मे भीगते हुए मिलने आये है। कोई पद्रह-बीस वर्ष हुए, उन्होने आत्म-उपलब्धि के लिए गृह-त्याग किया था। त्याग तो हुआ पर उपलब्धि नही हुई। इससे दुखी है।

समाज और सबध आत्म-लाभ मे बाधा समझे जाते है। ऐसी मान्यता ने व्यर्थ मे अनेको को जीवन से तोड दिया है।

एक कहानी उनसे मैने कही।

एक पागल स्त्री थी। उसे पूर्ण विश्वास था कि उसका शरीर स्थूल—भौतिक नही है। वह अपने शरीर को दिव्य-काया मानती थी। कहती थी कि उसकी काया से और सुन्दर काया पृथ्वी पर दूसरी नही है।

एक दिन उस स्त्री को एक बडे आदमकद आईने के सामने लाया गया। उसने अपने शरीर को उस दर्पण मे देखा और देखते ही उसके क्रोध की सीमा न रही। उसने पास रखी कुर्सी उठाकर दर्पण पर फेकी। दर्पण टुकडे-टुकडे हो गया, तो उसने सुख की साँस ली। दर्पण फोडने का कारण पूछा तो बोली थी कि 'वह मेरे शरीर को भौतिक किये दे रहा था। मेरे सौन्दर्य को वह विकृत कर रहा था।

समाज और सबध दर्पण से ज्यादा नही है।

जो हममे होता है, वे केवल उसे ही प्रतिबिम्बित कर देते है।

दर्पण तोडना जैसे व्यर्थ है, सबध छोडना भी वैसे ही व्यर्थ है।

दर्पण को नहीं, अपने को बदलना है। जो जहा है वही यह बदलाहट हो सकती है।

यह क्राति केद्र मे शुरू होती है।

परिधि पर काम करना व्यर्थ ही समय खोना है।

स्व पर सीधे ही काम शुरू कर देना है।

समाज और सबध कही भी बाधा नही है।

बाधाएँ कोई है तो वे स्वय में है।

१११ / समाधि अर्थात् स्व-आधार चैतन्य

"ईश्वर है ?"—हमे ज्ञात नही ।
"आत्मा है ?"—हमे ज्ञात नही ।
"मृत्यु के बाद जीवन है ?"—हमे ज्ञात नही ।
"जीवन मे कोई अर्थ है ?'—हमे ज्ञात नही ।
'हमे ज्ञात नही' यह आज का पूरा जीवन-दर्शन है ।
इन तीन शब्दो मे हमारा पूरा ज्ञान समा जाता है ।
'पर' के सम्बन्ध मे, पदार्थ के सबध मे जानने की हमारी दौड का अत नही है ।
पर, 'स्व के, चैतन्य के सबध मे हम प्रतिदिन अधेरे मे डूबते जाते हैं ।
बाहर प्रकाश मालूम होता है, भीतर घुप्प अधेरा है ।
परिधि पर ज्ञान है, केंद्र पर अज्ञान है ।
और आश्चर्य यह है कि केद्र को प्रकाशित करने का प्रयास भी नही करना है ।
वहाँ आँख भर पहुँच जाये और सब प्रकाशित हो जाता है ।
'पर पर आँख न हो तो वह 'स्व' पर खुल जाती है ।
बाहर उसे आधार न हो, तो वह स्व पर आधार खोज लेती है ।
स्वाधार चैतन्य ही समाधि है ।
समाधि सत्य का द्वार है ।
उसमे यह नही कि सब प्रश्नो के उत्तर मिल जाते है वरन् सब प्रश्न ही गिर जाते है ।
प्रश्नो का गिर जाना ही असली उत्तर है ।
जहाँ प्रश्न नहीं, और केवल चैतन्य है—शुद्ध चैतन्य है, वहीं उत्तर है, वहीं ज्ञान है ।
इस ज्ञान को पाये बिना जीवन निरर्थक है ।

११२/ रुको और जानो

'एक सराय मे एक रात एक यात्री ठहरा था । वह जब पहुँचा तो कुछ यात्री विदा हो रहे थे । सुबह जब वह विदा हो रहा था तो और यात्री आ रहे थे । **सराय मे अतिथि आते और चले जाते, लेकिन आतिथेय वही का वहीं था ।**' एक साधु यह कहकर पूछता था कि क्या यही घटना मनुष्य के साथ प्रतिक्षण नही घट रही है ?

मै भी यही पूछता हूँ और कहता हूँ कि जीवन मे अतिथि और आतिथेय को पहचान लेने से बडी और कोई बात नही है ।

शरीर-मन एक सराय है । उसमे विचार के, वासनाओं के, विकारो के अतिथि आते है ।

पर इन अतिथियो मे पृथक् भी वहाँ कुछ है । आतिथेय भी है । वह आतिथेय कौन है ?

यह 'कौन' कैसे जाना जाये ?

बुद्ध ने कहा है, "रुक जाओ ।'

और, यह रुक जाना ही उसका जानना है ।

बुद्ध का पूरा वचन है **'यह पागल मन** रुकता नही यदि यह **रुक जाये तो वही बोधि है, वही निर्वाण है ।**

मन के रुकते ही आतिथेय प्रकट हो जाता है ।

यह शुद्ध, नित्य, बुद्ध, चैतन्य है—जो न कभी जन्मा, न मरा—न जो बद्ध है, न मुक्त होता है ।

जो केवल 'है', और जिसका होना परम आनन्द है ।

११३ / सपनों के जीवन से जागो

'जीवन—जिसे हम जीवन समझते हैं, वह क्या है ?' रात्रि कोई पूछता था मैंने उसे एक कहानी कही :

एक विश्रामालय मे दो व्यक्ति आराम-कुर्सियो पर बैठे थे। एक युवा, एक वृद्ध। वृद्ध आँखे बंद किये था, पर बीच-बीच मे मुस्करा उठता था। और कभी-कभी हाथ से और चेहरे से ऐसे इशारे करता था, जैसे कुछ दूर हटा रहा हो। युवक से बिना पूछे न रहा गया। वृद्ध ने एक बार आँखे खोली तो उसने पूछ ही लिया,"इस अत्यत कुरूप विश्रामगृह में ऐसा क्या है, जो आप में मुस्कराहट ला देता है ?" वृद्ध बोला,"मैं अपने से कुछ कहानियाँ कह रहा हूँ, उनमे ही हँसी आ जाती है।" उस युवक ने पूछा, "और, बार-बार हाथ से हटाते क्या हैं ?" वृद्ध हँसने लगा और बोला, "उन कहानियो को जिन्हें बहुत बार सुन चुका हूँ।" उस युवक ने कहा,"आप भी क्या कहानियो से मन समझा रहे है।" उत्तर मे वृद्ध ने कहा था, "बेटे, एक दिन समझोगे कि **पूरा ही जीवन कहानियों से अपने को समझा लेने का नाम है।"**

निश्चित ही जीवन जैसा मिलता है, वह कहानी ही है। और कहानियों से अपने को समझा लेने का ही नाम जीवन है।

जिसे हम जीवन समझते है, वह जीवन नही, केवल एक सपना है।

नीद टटने पर ज्ञात होता है कि हाथ मे कुछ भी नही है—जो था, वह था नही, बस, केवल दीखता था।

पर, इस स्वप्न-जीवन से सत्य-जीवन मे जागा जा सकता है।

निद्रा छोडी जा सकती है।

जो सो रहा है, वह जाग भी सकता है।

उसके सो सकने की संभावना ही, उसके जागने की भी सभावना है।

११४/मूर्च्छा का अंधेरा

रात्रि आधी होने को है। आकाश आज बहुत दिनों बाद खुला है। सब नहाया-नहाया मालूम होता है और आधा चाँद पश्चिम क्षितिज मे डूबता जा रहा है।

आज सध्या कारागार मे बोला हूँ। बहुत कैदी थे। उनसे बाते करते-करते वे कैसे सरल हो जाते हैं! उनकी आँखों में कैसी पवित्रता झलकने लगती है—उसका स्मरण आ रहा है।

मैंने वहाँ कहा है: प्रभु की दृष्टि मे कोई पापी नही है—प्रकाश की दृष्टि में जैसे अधेरा नही है।

इसलिए, मैं तुमसे कुछ छोडने को नही कहता हूँ।

मैं मिट्टी छोडने को नही कहता हूँ, मैं तो हीरे पाने को कहता हूँ। हीरे पा लो, **मिट्टी तो अपने आप छूट जाती है।**

जो तुमसे छोडने को कहते है, वे नासमझ हैं।

जगत् के केवल पाया जाता है। एक नयी सीढ़ी पाते है, तो पिछली सीढी अपने आप छूट जाती है।

छोडना नकारात्मक है। उसमे पीडा है, दुख है दमन है।

पाना सत्तात्मक है। उसमे आनद है।

क्रिया मे छोड़ना पहले दीखता है, पर वस्तुत पाना पहले है।

पहले पहली सीढी ही छूटती है, पर उसके पूर्व दूसरी सीढी पा ली गयी होती है। उसे पाकर ही—उसे पाया जानकर ही—पहली सीढी छूटती है।

इससे प्रभु को पाओ, तो जो पाप जैसा दीखता है, वह अनायास चला जाता है।

सच ही, उस एक के पाने मे सब पा लिया जाता है।

उस सत्य के आते ही सब स्वप्न अपने से विलीन हो जाते है।

स्वप्नो को छोडना नही है, जानना है।

जो स्वप्नो को छोडने मे लगता है, वह उन्हे मान लेता है।

हम स्वप्नो को मानते ही नही है।

इससे ही हम कह सके है 'अहं ब्रह्मास्मि'—मैं ही ब्रह्म हूँ।'

यह जिनका उद्घोष है, उनके लिए अधेरे की कोई सत्ता नही है।

मित्र, इसे जानो।

प्रकाश को अपने भीतर जगाओ और पुकारो।

प्रभु को अपने भीतर अनुभव करो।

अपने सत्य के प्रति जागो और फिर पाया जाता है कि **अंधेरा तो कहीं है ही नहीं।** **अंधेरा हमारी मूर्च्छा है** और जागरण प्रकाश बन जाता है।

यह उन कैदियों से कहा था और फिर लगा कि यह तो सबसे ही कहना है, क्योंकि ऐसा कौन है, जो 'कैदी' नहीं है!

११५ / 'मैं' = विवाद, प्रेम = संवाद

एक चर्चा में आज उपस्थित था। उपस्थित था जरूर, पर मेरी उपस्थिति न के ही बराबर थी। भागीदार मैं नही था। केवल श्रोता था। जो सुना, वह तो साधारण था, पर जो देखा, वह निश्चय ही असाधारण रहा।

प्रत्येक विचार पर वहाँ वाद-विवाद हो रहा था। सब सुना, पर दिखायी कुछ और ही दिया।

दिखा कि **विवाद विचारों पर नहीं, 'मैं' पर है।**

कोई कुछ भी सिद्ध नही करना चाहता है। **सब 'मैं' को—अपने-अपने 'मैं' को सिद्ध करना चाहते हैं।**

विवाद की मूल जड इस 'मैं' मे है। फिर प्रत्यक्ष मे केंद्र कही दिखे—अप्रत्यक्ष मे केंद्र वही है।

जडे सदा ही अप्रत्यक्ष होती है। दिखायी वे नही देती।

दीखता है जो, वह मूल नही है।

फूल-पत्तो की भाँति जो दीखता है, वह गौण है। उस दीखनेवाले पर रुक जायें तो समाधान नही है, क्योंकि समस्या ही वहाँ नही है।

समस्या जहाँ है, समाधान भी वही है।

विवाद कही नही पहुँचते, क्योकि जो जड है उसका ध्यान ही नही आता है।

यह भी दिखायी देता है कि जहाँ विवाद है, वहाँ कोई दूसरे से नही बोलता है। **प्रत्येक अपने से ही बाते करता है।**

प्रतीत भर होता है कि बाते हो रही है। पर जहाँ 'मैं' है,वही दीवार है और दूसरे तक पहुँचना कठिन है।

'मैं' को साथ लिये संवाद असंभव है।

संसार मे अधिक लोग अपने मे ही बाते करने मे जीवन बिता देते है।

एक पागलखाने की घटना पढी थी। दो पागल विचार-विमर्श मे तल्लीन थे, पर उनका डॉक्टर एक बात देखकर हैरान हुआ। वे बाते कर रहे थे जरूर और जब एक बोलता था, तो दूसरा चुप रहता था, पर दोनो की बातो मे कोई संबंध, कोई संगति नही थी। उसने उनसे पूछा कि 'जब तुम्हे अपनी-अपनी ही कहना है, तो एक-दूसरे के बोलने समय चुप क्यो रहते हो?' पागलो ने कहा, 'संवाद का नियम हमे मालूम है—जब एक बोलता है, तब दूसरे को चुप रहना नियमानुसार आवश्यक है।'

यह कहानी बहुत सत्य है और पागलों के ही नहीं, सबके संबंध में सत्य है। बातचीत के नियम का ध्यान रखते हैं, तो ठीक, अन्यथा प्रत्येक अपने से ही बोल रहा है।

'मैं' को छोड़े बिना कोई दूसरे से नहीं बोल सकता।

और, **'मैं' केवल प्रेम में छूटता है।**

इसलिए, प्रेम में ही केवल संवाद होता है।

उसके अतिरिक्त सब विवाद है और विवाद विक्षिप्तता है।

क्योंकि, उसमे सब अपने द्वारा और अपने से ही कहा जा रहा है।

मैं जब उस चर्चा से आने लगा, तो किसी ने कहा, "आप कुछ बोले नही ?"

मैंने कहा, "कोई भी नहीं बोला है।"

११६ / मैं कर्ता—एक प्रक्षेप

एक स्वप्न से जागा हूँ। जागते ही एक सत्य दीखा है। स्वप्न मे मै भागीदार भी था और द्रष्टा भी। **स्वप्न मे जब तक था, द्रष्टा भूल गया था, भागीदार ही रह गया था। अब जागकर देखता हूँ कि द्रष्टा ही था, भागीदार प्रक्षेप था।**

स्वप्न जैसा है ससार भी वैसा है।

द्रष्टा चैतन्य ही सत्य है, शेष सब कल्पित है।

जिसे हमने 'मै' जाना है वह वास्तविक नही है।

उसे भी जो जान रहा है वास्तविक वही है।

यह सबका द्रष्टा तत्त्व सबसे मुक्त और सबसे अतीत है।

उसने न कभी कुछ किया है न कभी कुछ हुआ है।

वह बस 'है'। (It is)

असत्य 'मै', स्वप्न 'मै' शात हो जाये, तो 'जो है', वह प्रकट हो जाता है।

इस 'है' को हो जाने देना मोक्ष है, कैवल्य है।

११७/'मैं' का अभाव=सन्यास=प्रभु

एक सन्यासी ने मुझसे कहा है, "मैं प्रभु के लिए सब छोड आया हूँ और अब मेरे पास कुछ भी नही है।'

मैं देखता हूँ कि सच ही उनके पास कुछ नही है पर उनसे कहता हूँ कि वह जो छोडना था—और वही अकेला था, जो कि छोडा जा सकता था—वह अब भी उनके पास है !

वे अपने चारो ओर देखते है। सच ही उनके पास कुछ नही है—जो है, उनके भीतर है। वह उनकी आँखो मे है। वह उनके त्याग मे है। वह उनके सन्यास मे है। वह 'मैं' है। उसे **छोडना ही अकेला छोड़ना है**। क्योकि शेष सब छीना जा सकता है और अतत मृत्यु सब छीन ही लेती है।

'मैं' को कोई नही छीन सकता है, मृत्यु भी उसे नही छीन पाती है। उसे छीना नही जा सकता, उसे तो केवल छोडा ही जा सकता है।

उसका तो केवल त्याग ही हो सकता है।

और जो छीना नही जा सकता है, उसका त्याग ही केवल त्याग है।

इसलिए, प्रभु को समर्पित करने योग्य मनुष्य के पास 'मैं' के अतिरिक्त और कुछ भी नही है।

शेष जो भी वह छोडे वह केवल छोडने के भ्रम मे है, क्योकि वह उसका था ही नही।

और, इस सब छोडने से उल्टे उसका 'मैं' और प्रगाढ और घनीभूत हो जाता है।

'मैं' केंद्र मे यदि कोई अपना समस्त जीवन भी प्रभु को दे दे, तो भी वह देना नही है।

'मैं' को दिये बिना और कुछ भी देना, देना नहीं है।

'मैं' एकमात्र परिग्रह है। 'मैं' एकमात्र ससार है। उसे जो छोडता है, वही अपरिग्रही है, वही सन्यासी है।

'मैं' ससार है। 'मैं' का अभाव सन्यास है।

'मैं' को दे देना वास्तविक धार्मिक क्राति और परिवर्तन है।

क्योकि, उसके रिक्त स्थान मे ही वह आता है, जो कि मेरा 'मैं' नही, वरन् सर्व का 'मैं' है।

सिमोन वेल का एक कथन मुझे बहुत प्रिय है जिसमे उसने कहा है कि प्रभु के अतिरिक्त किसी को भी 'मैं' कहने का कोई अधिकार नही है।

सच ही 'मैं' कहने का अधिकार केवल उसे ही है, जो कि समस्त सत्ता का केंद्र है।

पर, उसे 'मैं' कहने का कोई कारण नही हो सकता, क्योकि उसके लिए सब 'मैं' ही है।

जिसे अधिकार है, उसे कहने का कारण नही है, और जिसे कहने का कारण है, उसे कोई अधिकार नही है।

पर, मनुष्य अपने अनधिकार को खोकर, अधिकार को पा सकता है।

वह मैं होना छोडकर 'मैं' हो सकता है।

वह अपने केंद्र के आभास को छोड़कर, सत्य-केंद्र को पा सकता है।

वह जिस क्षण अपने केंद्र को विकेंद्रित कर देता है, उसी क्षण केंद्र को उपलब्ध हो जाता है।

मनुष्य का 'मैं' सत्य नहीं है। वह संघात है। उसकी कोई सत्ता नही है, **वह संग्रह है।**

इस सग्रह से सत्य का जो भ्रम पैदा होता है, वही अज्ञान है।

पर, जो इस सग्रह मे झाँकता है, देखता है और सत्य को खोजता है, उसके समक्ष आभास टूट जाता है और 'मैं' की माला के फूल बिखर जाते है।

और तब, वह सूत्र उपलब्ध होता है, जो कि सत्य है और जिस पर कि 'मैं' के फूल टँगे थे और जिसे कि उन फूलो ने ढाँक रखा था।

फूलों के हटने पर—उनके आच्छादन के टूटने पर पाया जाता है कि जो उनका आधार था, वह मेरा ही नही है, वह मुझमे और सब मे भी है। वह समस्त सत्ता मे पिरोया हुआ है।

जो 'मैं' की इस मृत्यु से नही गुजरता है, वह परमात्मा के जीवन से वचित रह जाता है।

'मैं' की मृत्यु—परमात्मा से, सत्य से, सत्ता से, हमारे भेद और अतर की मृत्यु है।

उसके गिरते ही वह फासला गिर जाता है, जो कि हमे स्वय हमसे ही तोडे हुए था।

और, वह व्यक्ति धन्यभागी है, जो शरीर की मृत्यु के पूर्व इस मृत्यु को उपलब्ध होता है।

११८ / चित्त के सारे प्रलोभनों से मुक्ति

सत्य के लिए जिसकी अभीप्सा है, वह जाने कि उसे सत्य की कोई कल्पना, कोई धारणा स्वीकार नही करनी है । उस स्वीकार पर ही साधना का आत्मघात हो जाता है ।

सत्य को पाने के लिए चित्त के द्वारा दिये गये सारे प्रलोभनो को छोड़ने का साहस चाहिए ।

चित्त द्वारा प्रदत्त कोई भी विकल्प स्वीकार नही करना है ।

तभी वह निर्विकल्प अवस्था आती है, जो स्वय के समक्ष स्वय के प्रत्यक्ष को देती है ।

वह अतत प्रत्यक्ष—शुद्ध ज्ञान की सद्घडी आ सके, उसके पूर्व बहुत-कुछ आता है, जो कि सत्य नही है ।

और, उसमे जो उलझता है, वह और कुछ भी जान ले, स्वय को नही जानता है।

स्वय को कभी भी ज्ञेय की भाँति नही जाना जाता है ।

इसलिए, **जब तक कुछ भी ज्ञेय शेष है, तब तक जानना कि साक्षात् 'पर' का है, 'स्व', का नहीं ।**

ज्ञेय जब अशेष है, तब जो शेष रह जाता है, वही ज्ञान है, वही स्व है, वही सत्य है ।

रिन्झाई ने कहा है, "समाधि के मार्ग मे यदि स्वय भगवान् भी मिले, तो उन्हें राह से दूर कर देना ।"

मैं भी यही कहता हूँ ।

समाधि की राह जब पूर्ण निर्जन है, और ज्ञान की धारा मे जब कोई ज्ञेय नही है और दर्शन को, देखने को, जब कुछ शेष नही है, तभी वह मिलता और जाना जाता है, जो कि सत्य है ।

एक सद्गुरु ने भी एक दिन यही कहा था । उसके एक शिष्य ने सुना । उसने अपनी कुटिया पर लौट सारी मूर्तियाँ तोड़ डालीं और सारे ग्रन्थ जला डाले । और जाकर अपने गुरु से कहा कि मैं वह सब नष्ट कर आया हूँ, जो कि सत्य के आगमन मे बाधक है । उसका गुरु उसकी बात सुन बहुत हँसने लगा था और उसने कहा था, **"पागल, उन ग्रंथो को जला, जो तेरे भीतर हैं; और उन मूर्तियों को तोड़, जो तेरे चित्त की अतिथि बन गयी हैं ।"**

ऐसा ही आज यहाँ हुआ है । एक युवक मेरी बातें सुन अपने पूजागृह को उजाड़ मूर्तियो को कुएँ मे फेक आये है । उनसे मैंने कहा है **'मूर्तियों को नहीं, उस मन को फेंको, जो कि मूर्तियों का निर्माता है ।** और पूजागृहो को उजाड़ने से क्या होगा, **जब तक कि यह सर्जक मन जीवित है, जो कि प्रतिक्षण नये पूजागृह बना लेता है ?'**

११९ / आंतरिक सीमाओं और बंधनों से मुक्ति

सत्य के मार्ग पर वह व्यक्ति है, जिसने सारे मतो को तिलांजलि दे दी है ।

जिसका कोई पक्ष है और कोई मत है, सत्य उसका नही हो सकता ।

सब पक्ष मनुष्य-मन से निर्मित हैं ।

सत्य का कोई पक्ष नहीं है और इसलिए जो निष्पक्ष होता है, पक्ष-शून्य होता है, वह सत्य का हो जाता है और सत्य उसका हो जाता है ।

इसलिए, किसी पक्ष को न चाहो, किसी संप्रदाय को न चाहो, किसी 'दर्शन' को न चाहो ।

चित्त को उस स्थिति मे ले चलो, जहाँ सब पक्ष अनुपस्थित हैं ।

उसी बिंदु पर विचार मिटता और दर्शन प्रारम होता है ।

आँखे जब पक्ष मुक्त होती है, तो वे 'जो है' उसे देखने में समर्थ हो पाती है ।

वास्तविक धार्मिक व्यक्ति वही है, जिसने सब धर्म छोड़ दिये है, जिसका अपना कोई धर्म नही है ।

और, इस भाँति धर्मों को छोड़कर वह 'धर्म' का हो जाता है ।

मुझसे लोग पूछते है कि मैं किस धर्म का हूँ ? मैं कहता हूँ कि मैं धर्म का तो हूँ, पर 'किसी' धर्म का नही हूँ ।

धर्म भी अनेक हो सकते है, यह मेरी अनुभूति मे नही आता है !

विचार भेद पैदा करते है, पर विचार से तो कोई धर्म मे नही पहुँचता है ।

धर्म मे पहुँचना तो निर्विचार से होता है और निर्विचार मे तो कोई भेद नही है ।

समाधि एक है और समाधि मे जो सत्य ज्ञात होता है, वह भी एक ही है ।

सत्य एक है, पर मत अनेक हैं ।

मतों की अनेकता में से जो एक को चुनता है, वह सत्य के आने के लिए अपने ही हाथो द्वार बंद कर देता है ।

मतो को मुक्त करो और **मतों से मुक्त हो जाओ और सत्य के लिए द्वार दो : यही मेरी शिक्षा है ।**

समुद्र के नमक का स्वाद पूरब और पश्चिम मे एक है—और जल के वाष्पीभूत होने के नियम भिन्न-भिन्न देशो मे भिन्न-भिन्न नही है—और जन्म और मृत्यु की श्रृंखला मेरे लिए अलग और आप के लिए अलग नही है ।

फिर, अतस्सत्ता कैसे अनेक नियमो और सत्यो से परिचालित हो सकती है ?

आत्मा में कोई भूगोल नही है और न दिशाओ के कोई भेद है और न कोई सीमाएँ हैं।

भेद मात्र मन के हैं।

और जो मन के भेदो में विभाजित है, वह आत्मा के अभेद को उपलब्ध नही हो सकता है।

मैं सुबह घूम कर लौट रहा था तो एक पक्षी को पिजड़े मे बद देखा। उसे देख मुझे पक्षो मे बद लोगो की याद आयी।

पक्ष भी पिंजडे हैं—बहुत सूक्ष्म, अपने ही हाथों से निर्मित।

उन्हे कोई और नही, हम स्वयं ही बना लेते हैं। वे अपने ही हाथ से बनाये गये कारागृह है।

हम स्वय उन्हें बनाते है और फिर उनमे बद होकर सत्य के मुक्त आकाश में उड़ने की सारी क्षमता खो देते है।

और, अभी मैं देख रहा हूँ, आकाश मे उड़ती एक चील को। उसकी उड़ान में कितनी स्वतत्रता है, कितनी मुक्ति है! एक पिंजड़े मे बद पक्षी है और एक मुक्त आकाश मे उडान लेता—और दोनो क्या हमारे चित्त की दो स्थितियो के प्रतीक नही है?

आकाश मे उडता हुआ पक्षी पीछे न कोई पदचिह्न छोडता है, और न उडान का कोई मार्ग ही उसके पीछे बनता है।

सत्य का भी ऐसा ही आकाश है। जो मुक्त होते है, वे उसमे उड़ान लेते है, पर उनके पीछे कोई पदचिह्न नही बनते हैं और न कोई मार्ग ही निर्मित होते हैं।

इसलिए, स्मरण रहे कि सत्य के लिए बँधे-बँधाये मार्गों की तलाश व्यर्थ है। ऐसा कोई मार्ग नही है।

और, यह शुभ ही है, क्योकि बँधे मार्ग किसी बधन तक ही पहुँचा सकते थे, वे मुक्त कैसे कर सकते है!

सत्य के लिए प्रत्येक को अपना मार्ग स्वय ही बनाना होता है।

और, यह कितना सुदर है।

जीवन पटरियो पर चलती हुई गाडियो की तरह नहीं है, सुदर पर्वतों से सागर की ओर दौड़ती हुई सरिताओ की भाँति है।

कोई धर्म के सबध मे पूछ रहा था। उससे मैंने कहा है

"धर्म का सबध इससे नही है कि आप उसमे विश्वास करते हैं या नही करते। वह आपका विश्वास नही, आपका श्वास-प्रश्वास हो, तो ही सार्थक है। वह तो कुछ है—जो आप करते हैं या नही करते है—जो आप होते है, या नही होते हैं। धर्म कर्म है, वक्तव्य नही।"

और, धर्म कर्म तभी होता हे, जब वह आत्मा बन गया हो। जो आप करते हैं, वह आप पहले हो गये होते हैं।

सुवास देने के पहले फूल बन जाना आवश्यक है। फूलो की खेती की भांति आत्मा की खेती भी करनी होती हे।

और, आत्मा मे फूलो को जगाने के लिए पर्वतो पर जाना आवश्यक नही है। वे तो जहाँ आप हैं, वही उगाये जा सकते है।

क्योकि, जहाँ आप है, वहाँ रहते हुए भी आप पर्वतो पर हो सकते है।

स्वयं के आंतरिक एकात मे ही पर्वत हं और अरण्य हं।

यह सत्य हे कि पूर्ण एकात मे ही सत्य और सौदर्य के दर्शन होते है।

और जीवन मे जो भी श्रेष्ठ है वह उन्हे मिलता है, जो अकेले होने का साहस रखते है।

जीवन के निगूढ रहस्य एकात मे ही अपने द्वार खोलते है। और आत्मा प्रकाश को और प्रेम को उपलब्ध होती है।

और, **जब सब शांत और एकांत होता है, तभी वे बीज अंकुर बनते हं,** जो हमारे समस्त आनन्द को अपने मे छिपाये हमारे व्यक्तित्व की भूमि मे दबे पडे है।

वह वृद्धि, जो भीतर से बाहर की ओर होती है, एकात मे ही होती है।

और, स्मरण रहे कि सत्य-वृद्धि भीतर से बाहर की ओर होती है।

झूठे फूल ऊपर से थोपे जा सकते है, पर असली फूल तो भीतर से ही आते है।

इस आतरिक वृद्धि के लिए पर्वत और अरण्य मे जाना आवश्यक नही ह, पर पर्वत और अरण्य मे होना अवश्य आवश्यक हे।

वहाँ होने का मार्ग प्रत्येक के ही भीतर है।

दिन और रात्रि की **व्यस्त दौड़ मे थोड़े क्षण निकाले** और अपने स्थान और समय को, और उससे उत्पन्न अपने तथाकथित व्यक्तित्व और 'मैं' को भूल जायँ।

चित्त को उस सबसे खाली कर लें जो उसे सतत भरे रहता है।

जो भी चित्त मे आवे उसे जानें कि यह मै नहीं हूँ और उसे बाहर फेंक द।

सब छोड दे—प्रत्येक चीज—अपना नाम अपना देश अपना परिवार—सब स्मृति से मिट जाने दें **और कोरे कागज की तरह हो रहें।**

यही मार्ग आतरिक एकात और निजन का माग है।

इससे ही अतत आतरिक सन्यास भी फलित होता है।

चित्त जब सब पकड छोड देता है—सब नाम रूप के बधन को तोड देता है तब वही आपम शष रह जाता है जो आपका वास्तविक होना है। उस क्षण आप अकेले हो और एकात मे हो।

उस समय जो जाना जाता है वह इस लोक और जगत का नही है।

उस ज्ञान म ही धम के फूल लगते है और जीवन परमात्मा की सुवास से भरता है।

इन थोड से क्षणो मे जो जाना जाता है—जो शाति जा सौदय और जो सत्य—वह आपका एक ही साथ दो तलो पर जीने की शक्ति दे दता है। **फिर, आप जगत में होते हो लेकिन जगत के नहीं होते हो। फिर कुछ बाँधता नही है और जीवन मुक्त हो जाता है।** जल म होकर भी फिर जल छूता नही है।

इस अनभूति म ही जीवन की सिद्धि है और धम की उपलब्धि है।

पथ के प्रदीप

पथ के प्रदीप

भगवान् श्री रजनीश द्वारा सुश्री सोहन बाफना,
पूना, महाराष्ट्र को सन् १९६४-६५ के बीच
लिखे गये एक सौ अमृत-पत्र

प्राक्कथन

मैं स्वयं को अधकार में देखता हूँ। क्या आप भी उस घने अधकार का अनुभव नही करते हैं जो कि मनुष्य की चेतना को घेरे हुए है ?

लेकिन, अंधकार वास्तविक नही मालूम होता है, क्योकि प्रकाश की जरा-सी चोट भी तो वह नही सह पाता ! इससे बहुत आशा बँधती है।

और, जब किसी चेतना से प्रकाश की किरणे निकलती हुई अनुभव होती हैं, तो स्वय के भीतर भी प्रकाश के होने की श्रद्धा उत्पन्न हो जाती है।

मनुष्य मनुष्य अतत. तो समान ही है। स्वरूपत. तो वे भिन्न नही हो सकते हैं ? इस श्रद्धा से कोई प्रसुप्त सकल्प जैसे जागने लगता है और अधकार के बीच भी प्रकाश का एक दिया स्वय मे प्रज्वलित हो जाता है।

भगवान् श्री रजनीश के सान्निध्य मे मैने ऐसा ही अनुभव किया है।

उनकी जीवन ज्योति ने मेरे भीतर भी प्रकाश को जैसे सोते से जगा दिया है। मैं तिलमिलाकर उठ आया हूँ और पहली बार स्वय के बोध को उपलब्ध हुआ हूँ।

इस बोध ने सब कुछ बदल डाला है। जीवन मे एक नई ही यात्रा शुरू हो गई है। और अब प्रतीत हो रहा है कि अब तक की जो यात्रा थी, वह तो बस, स्वप्न-यात्रा ही थी, क्योकि स्वय के प्रति जागते ही वह सारी यात्रा, यात्रा-पथ और यात्री सभी तो विलीन हो गये है ! उन्हे खोजता हूँ, तो उनमे से किसी को भी तो नही पाता हूँ !

निश्चय ही जिसे जीवन जाना था, वह जीवन नहीं था।

वह तो जीवन का **स्वप्न ही था,** क्योकि सोया हुआ मनुष्य स्वप्न के अतिरिक्त और क्या देख और जान सकता है ?

भगवान् श्री ने मुझसे कहा था : "जीवन को जानने और जीने के लिए जागना आवश्यक है। **जो जागा नहीं है, वह जीने के भ्रम में ही होता है।** जागरण ही जीवन और मूर्च्छा ही मृत्यु है।"

मैने तब सुन लिया था। शब्दों का अर्थ तो स्पष्ट था, लेकिन क्या था उनका अर्थ—वह तो अब स्पष्ट हो रहा है। वे कहते भी है : "कुछ है, जो कि केवल जीकर ही जाना जा सकता है। वस्तुत जो भी महत्त्वपूर्ण है, वह जीकर ही जाना जा सकता है।

फिर भी कुछ बातें ज्ञात हैं। उनकी देह के संबंध में तो बहुत कुछ ज्ञात है, लेकिन उसे जानने से उनके संबंध में तो कुछ भी नहीं जाना जा सकता है।

उनका जन्म दिन था। कोई शुभकामना करने आया। वे कहने लगे "रे, वही मृत्यु दिन भी है। जिसे हम जन्म दिन कहते हैं, क्या उसी दिन मृत्यु का भी प्रारभ नही हो जाता है! जीवन—**तथाकथित जीवन क्या है? क्या मृत्यु की ही एक धीमी और लम्बी क्रिया नहीं?** मृत्यु मे वही क्रिया तो पूर्ण होती है जिसका कि प्रारभ जन्म मे हुआ था। निश्चय ही वह जो मेरे भीतर है उसका कोई जन्म नही है, क्योकि उसकी तो कोई मृत्यु ही नही हो सकती है।"

एक सध्या मैं उनके पास था। कुछ लोग उनसे मिलने आये थे। वे मृत्यु के सबध मे पूछने लगे, तो उन्होने कहा "मैं मृत्यु के सबध म कैसे कुछ जानूं! मैं तो जीवन हूँ। मृत्यु के सबध मे पूछना है तो जाओ और मुरदो से पूछो। निश्चय ही मुरदे ही मृत्यु के सबध मे कुछ बता सकते है?

यह सब तो ज्ञात है कि वे कब पैदा हुए, कहाँ पैदा हुए, किस घर म और किनसे पैदा हुए। लेकिन वे तो उन सबको हँसकर टाल देते है और कहते है **"स्वप्न की खोज करनेवाले सत्य से वचित रह जाते हैं।"**

मेरी जिज्ञासा को जान उन्होने एक कहानी भी कही थी।

किसी साधु ने रात्रि मे कोई स्वप्न देखा। सुबह उठते ही जो पहला शिष्य उसे दिखाई पडा, उससे उसने उस स्वप्न का अर्थ पूछा। उस शिष्य ने कहा 'ठहरिये! मैं अर्थ अभी लाता हू!' और वह पानी से भरा हुआ एक बर्तन लाया और कहा 'लीजिये मे अपना मुँह धो डालिये।" उसका गुरु हँसने लगा और बोला "ठीक है। स्वप्नो की यही सत्य व्याख्या है।"

अब ऐसे व्यक्ति को कैसे जाने!

मैंने सुना है कि **वे घोर नास्तिक थे। कुछ भी उन्हें स्वीकार नहीं था। कोई न उनका विश्वास था, न श्रद्धा थी।** सब विचारो और विश्वासो का वे खण्डन करते थे। उनसे मिलने म भी लोग भय खाते थे। **ऐसा तीव्र उनका तर्क था।** और वे निर्ममता से उसका प्रयोग भी करते थे। इस सम्बन्ध मे मैने उनसे पूछा था। वे कुछ देर तो चुप ही रहे। मैने सोचा कि शायद वे कुछ भी नही कहेंगे। लेकिन फिर उन्होने कहा था

"नास्तिकता आस्तिकता का द्वार है। अस्वीकार मे ही स्वीकार उपलब्ध होता है। जो पूरे प्राणो से 'नही' (No) कहना नही जानता, वह कभी पूरे प्राणो से 'हाँ' (Yes) कहने मे भी समर्थ नही होता है। जो आस्तिकता दूसरो से सीख ली जाती

"शब्द सत्य नही देते हैं। न दे सकते है। **सत्य सदा ही अनुभूति है—स्वयं की और स्वय मे और स्वयं के द्वारा।"**

जो मुझे मिला, मन होता है कि वह आप तक भी पहुँचाऊँ। जिस प्रकाश के दर्शन मुझे हुए, मन होता है कि वह दर्शन आपको भी हो। जो विचार-बीज मेरे जीवन मे क्राति बन गये और जिनके अकुरण से मै आनदित हूँ, उनसे मै आपको भी परिचित कराना चाहता हूँ।

हो सकता है कि आप भी खोज मे हो ! और कौन खोज मे नही है ? हो सकता है कि आपकी चेतना भी किसी ऊर्ध्वगमन के लिये समुत्सुक हो ! और किसकी चेतना नही है ? और **हो सकता है कि आपकी जीवन ज्योति बस, किसी प्रतीक्षा में ही हो—और एक छोटा-सा आघात ही उसे प्रज्वलित कर दे।** इस आशा मे ही 'पथ के प्रदीप' प्रकाशित किये जा रहे है।

क्या यह उचित नही होगा कि इसके पूर्व कि हम फूलो के सम्बन्ध मे कुछ जाने, उस पौधे के सम्बन्ध मे भी कुछ जान ले, जिससे कि उन फूलो का जन्म हुआ है ? शायद पौधे को समझे बिना फूलो को समझा भी नही जा सकता है !

भगवान् श्री के सम्बन्ध मे कुछ जान लेना अत्यत आवश्यक है। यह आवश्यक तो है, लेकिन कठिन भी बहुत है। क्योकि, वे तो अपने सम्बन्ध मे कुछ कहते ही नही। पूछने पर खूब हँसने लगने है। कहते है **"मै हूँ हो कहाँ ! बहुत खोजा, पर कहीं 'मै' को पाया ही नहीं।** और जो पाया वहाँ 'मै' बिलकुल भी नही है।"

एक दिन कहने लगे "बुद्ध ठीक कहते है। अनात्मा ही है। **जब अनात्म हो जाओ, तभी तो उसका अनुभव होता है, जो कि आत्मा है।**

ऐसे ही एक दिन और कहा था रमण कहते है कि पूछो 'मै कौन हूँ ?' (Who am I ?) लेकिन, मै तो कहूगा कि **पूछो. "मै कहाँ हूँ ?"** (Where am I ?) और तुम **पूछते-पूछते थक जाओगे और पा नही सकोगे** कि कहाँ हो ! और **उस** असफलता मे जानोगे कि जो कही भी नही है, वह है ही नही। और जिसने यह जाना, वह जान लेता है कि वह कौन है।

मै तो सोचता था कि अतीत के **प्रज्ञापुरुषो** के सबध मे जानना कठिन है। अब जानता हूँ कि वह कठिनाई तो जीवित **प्रबुद्ध चेतनाओ** के सबध मे भी उतनी ही है। और शायद ज्यादा ही है। क्योकि, जो नही है उनके सबध मे तो हम अनुमान भी लगा सकते है, कल्पना भी कर सकते है। लेकिन जो सामने है, उनके सबध मे तो यह भी नही किया जा सकता है !

है, वह झूठी ही होती है। **वास्तविक आस्तिकता को तो तप से पाना होता है। नास्तिकता ही वह तप है। निषेध—पूर्ण निषेध (Total Negation) से बड़ी न कोई पीड़ा है और न तप है।** और जो उससे बच जाते है, वे विधेय को भी नहीं **जान पाते हैं।**

"नास्तिकता, आस्तिकता की विरोधी नही है। वह तो भूमिका है। वह तो सीढी है। उससे ही होकर मार्ग है। **नास्तिकता साधना है, आस्तिकता सिद्धि है।** और नास्तिकता से होकर जो आस्तिकता को पाता है, वह दोनो के पार हो जाता है **फिर वह न नास्तिक है, न आस्तिक है। वह तो बस है।** उसका फिर **न कोई विश्वास है, न अविश्वास है—न कोई श्रद्धा है, न अश्रद्धा है। वह तो दोनो के अतीत है।** ऐसी चेतना ही अद्वैत है। ऐसा होना ही सत्य मे होना है।"

मैंने पूछा "फिर वे जो बिना नास्तिक हुए आस्तिक हैं, उनके सम्बन्ध मे आपका क्या विचार है?"

वे कहने लगे "वे आस्तिक ही नही है। उन्होने कुछ भी नही जाना है। वस्तुत उन्होने खोजा ही नही है। **खोज की पीड़ा, श्रम और सकल्प से बचने के लिये ही उन्होने दूसरो की मान्यताओ को स्वीकार कर लिया है।** आस्तिकता उनकी अनुभूति नही, केवल आवरण है। उसे वे आेढे हुए हैं। ऐसे आस्तिको से ही धर्म पीडित है। उनके ही कारण वास्तविक धर्म का जन्म नही हो पाता है। और ऐसे थोथे आस्तिक ही धर्म धर्म मे विरोध के कारण भी बने हुए है। अन्यथा, धर्म तो एक है। लेकिन थोथी आस्थाएँ—न-अनुभूत श्रद्धाएँ उसे खण्ड-खण्ड कर देती है। **स्वानुभूति से, स्वसाक्षात् से जो सत्य की श्रद्धा को उपलब्ध** होता है उसके लिये सप्रदाय मिट जाते हैं और केवल निर्विशेष धर्म ही शेष रह जाता है।'

एक मित्र मौजूद थे। उन्होने कहा 'और नास्तिको के सम्बन्ध मे आपका क्या ख्याल है?'

वे हँसने लगे और बोले "नास्तिकता का मैने आस्तिकता का द्वार कहा है इसलिए कोई यह न समझ ले कि सभी नास्तिक उस द्वार पर खडे है। बहुत से नास्तिक तो नास्तिकता को भी प्रचार से ही स्वीकार करते है। वे वस्तुत नास्तिक नही, तथाकथित आस्तिको के ही एक प्रकार है।

"कोई दूसरो की आस्था को अगीकार कर लेता है कि 'ईश्वर है' और कोई दूसरो की अनास्था को स्वीकार कर लेता है कि 'ईश्वर नही है'। मेरे देखे, दोनो ही आस्तिक **ही है।** क्योकि, उनम निषेध नही है, अस्वीकार नही है, स्वय की खोज और अनुसधान का साहस और सकल्प नही है।

"फिर, कुछ ऐसे नास्तिक भी हैं, जो कि आस्तिकों के विरोध और प्रतिक्रिया (Reaction) में नास्तिक हैं। ऐसे प्रतिक्रियावादी भी वस्तुत नास्तिक नहीं हैं। किसी के विरोध में जो कुछ है, वह स्वय मे तो कुछ भी नही है। उसे आस्तिकों मे रख दिया जावे, तो वह आस्तिक भी हो सकता है।

"**नास्तिकता किसी का विरोध नहीं, वरन् स्वय की अंतर्दशा हो, तो ही वास्तविक होती है।** उससे ही क्रांति होती है और उससे ही ज्ञान का आविर्भाव होता है। वह **'नेति नेति'** का ही रूप है। 'यह भी नही, यह भी नही,'—**ऐसे जो खोजता चलता है, वह एक दिन उस पर अवश्य ही पहुँच जाता है 'जो कि है—** (That which is)'

भगवान् श्री ने अपने एक प्रवचन मे कहा था "**मैं शून्य हो गया था—सब भाँति की श्रद्धाओं से शून्य।** कोई भी मेरी मान्यता न थी—कोई भी विश्वास—कोई भी विचार न था। **न स्वीकार था, न अस्वीकार। कुछ भी न था। बस, मैं ही था—निपट और अकेला और शून्य। और तब कुछ हुआ—सब कुछ जागा और भरा।** वह शून्यता पूर्ण के आगमन के लिये अवकाश बन गई। मैंने देखा कि मैं मर गया हूँ। मैंने पाया कि मैं हो गया हूँ।

एक और चर्चा म उन्होने कहा था "शास्त्र को छोड दो, यदि सत्य को पाना है। क्योकि, सत्य उसी रिक्त-स्थान मे प्रवेश करता है, जहाँ कि अभी शास्त्र भरे हुए हैं। शास्त्र से जो भरे है वे सत्य से रिक्त ही होंगे। और, जो शास्त्र से रिक्त होने का साहस करते हैं, वे सत्य से भर दिये जाते हैं।"

उनमे जब कोई पूछता है "शास्त्र क्या है?" तो वे कहते हैं श्रद्धा—**किसी भी विचार पर श्रद्धा।** श्रद्धा भी **शास्त्र है और अश्रद्धा भी।** श्रद्धा और अश्रद्धा से जो शून्य है वही स्वय मे है और वही सत्य मे है।"

नास्तिकता से उनका अपना अर्थ और अभिप्राय है और उनके उस अर्थ से वह निश्चय ही आस्तिकता का द्वार है।

नास्तिक वे उसे कहते हैं जिसकी किसी पर कोई श्रद्धा या अश्रद्धा नही है। स्वभावत ऐसे व्यक्ति मे ही आत्मश्रद्धा का जन्म हो सकता है।

भगवान् श्री की जीवन-चर्या क्या है?

उनसे पूछो, तो वे कहेंगे "कोई भी नही। मैंने स्वय को छोड दिया है। अब जो होता है वह होता है मैं उसका कर्ता नही हूँ। जब नींद आती है, सो जाता हूँ और जब नींद टूटती है तब उठ आता हूँ। **न मैं सोता हूँ, न उठता हूँ। मैं तो मात्र देखता हूँ। कैसा जीवन, कैसी चर्या? किसका जीवन, किसकी चर्या?**

निश्चय ही उसके जीवन मे कोई भी नियम ऊपर से आरोपित नही मालूम होते

हैं। **उनका जीवन अत्यन्त सहज है** और जो भी अनुशासन है, वह सहज-स्फूर्त है। उस अनुशासन का शायद उन्हें भी पता नहीं है। क्योंकि, न उन्होंने उसे कभी सोचा है और न साधा है। वह सब तो उनके बोध की सहज छाया है। **ज्ञान ही आचरण है और अनुशासन है, इस सत्य की उनसे बड़ी गवाही और कौन दे सकता है!**

एक सभा में किसी ने उनसे पूछा था, "हम क्या करें?" तो उन्होंने कहा था, "मुझसे करने (Doing) के सम्बन्ध में न पूछें। **करने की, न-करने की बात ही सब व्यर्थ और थोथी है। सवाल करने का नहीं, सवा होने (Being) का है।** प्रश्न यह नहीं, कि तुम क्या करते हो? प्रश्न यह है कि तुम क्या हो! **क्योंकि, तुम्हारा सब करना तुम्हारे होने से ही तो निकलता है।** तुम वही तो करोगे न, जो कि तुम हो?

"और जब हम करने का विचार करने लगते है, तभी अंतर्द्वन्द्व पैदा हो जाता है। वह जो है, उस पर हम उसे थोपने लगते है, जो कि नहीं है। ऐसे ही पाखण्ड पैदा होता है। और ऐसे ही पागलपन भी पैदा होता है। इसलिए मैं तुम्हारे कर्मों के परिवर्तन के लिए नहीं, वरन् तुम्हारे ही परिवर्तन के लिए प्रार्थना करता हूँ।"

व्यक्ति के अंतस् परिवर्तन को ही वे योग कहते हैं। उनकी दृष्टि नीति पर नहीं, योग पर है। क्योंकि, उनकी दृष्टि आचरण पर नहीं, अतस् पर है।

नीति की शिक्षा हो सकती है, पर योग की तो साधना ही होती है।

किन्तु साधना के संबंध में उनकी बड़ी मौलिक दृष्टि है। **साधना को वे क्रिया नहीं, अक्रिया कहते हैं।** वे कहते हैं जो भी किया जा सकता है, वह सब संसार में ही ले जाता है। **वस्तुतः, क्रिया मात्र बाहर ही होती है। वह जो आत्यंतिक रूप से आंतरिक है, वहाँ कोई क्रिया नहीं है।** वहाँ तो सत्ता है, वहाँ तो होना है, वहाँ तो आत्मा है। इसलिए उस ओर, स्वयं की ओर जाने का पथ अक्रिया का पथ है। और जो उस सत्ता को जान लेता है, फिर उसकी सब क्रियाओं के केंद्र में अक्रिया होती है और **उसके सब कर्म अकर्म हो जाते हैं। फिर वह करता हुआ भी, कुछ भी नहीं करता है और संसार में होते हुए संसार में नहीं होता है।**

भगवान् श्री से मैंने पूछा था, "अक्रिया में कैसे जावें?"

वे बोले थे "देखो, फिर भी क्रिया ही पूछते हो? पूछते हो 'कैसे'?—नहीं। 'अक्रिया में जाने की चिंता मत करो, नहीं तो किसी क्रिया में ही उलझ जाओगे। अच्छा हो कि क्रिया को समझो—क्रिया को देखो और जानो। क्रिया के प्रति जागो। स्मरण रहे कि **क्रिया मूर्च्छित न हो—किसी भी तल पर मूर्च्छित न हो।**

"शरीर की क्रियाएँ हैं और मन की क्रियाएँ हैं। दोनों के प्रति **स्मृति चाहिए—होश चाहिए—भान चाहिए।** उन्हें देखो, और उनके साक्षी बनो। **जिस-जिस क्रिया के प्रति जागोगे, उसके होते हुए भी तुम पाओगे कि तुम अक्रिया में हो। क्रिया किया है**

और तुम अक्रिया हो। तुम तो मात्र भान (Awareness) हो—मात्र बोध हो। यह बोध ही अपनी परिपूर्णता मे अक्रिया मे ले जाता है। इस भाँति **चैतन्य की शुद्ध दशा को अनुभव कर कर लेना ही समाधि है।**

समाधि में जो जाना जाता है, वही सत्य है। इस सत्य की किरणे ही भगवान् श्री के जीवन से फूट रही है। उनके उठने-बैठने बोलने, न-बोलने—सभी मे वह आलोक विकीर्ण हो रहा है। उनका होना ही हमारे लिये सौभाग्य है।

उनके कुछ अमृत वचन सकलित हुए है और सैकडो लोगो कि प्रभु-प्यास को उनमे आन्दोलन मिला है। अनेको के जीवन में उनसे आशा का सचार हुआ है और अनेको के हृदय आलोक से भर गये है।

उनके विचारों का एक सकलन है 'साधना पथ'। **'साधना पथ'** मे उन्होने अक्रिया योग पर विचार किया है और शून्य समाधि के सूक्ष्म विश्लेषण मे हमे ले गये है। उनके शब्दो का दूसरा संकलन है **'क्रांतिबीज'**। 'क्रांतिबीज' मे जीवन क्राति के सूत्र है, जिन्हे मनन् करते-करते ही अतस् मे परिवर्तन होता हुआ प्रतीत होता है। और उनकी दृष्टि को प्रतिपादित करनेवाला तीसरा सकलन है . **'सिंहनाद'**। सिंहनाद' मे धर्म पर चर्चा है और विधायक धर्म की अत्यक वैज्ञानिक रूपरेखा प्रस्तुत की गई है।

भगवान् श्री स्वयं तो कुछ लिखते नही है। जो बोलते है, वही सकलित कर लिया गया है। **'पथ के प्रदीप'** उनके विचारो का **चौथा संकलन है। इसमें उनके सौ अमृत पत्र है**। ये पत्र उन्होने पूना की सुश्री सोहन माणिकलाल बाफना को लिखे है। इन पत्रों का आपना मधुर इतिहास है।

भगवान् श्री के सान्निध्य और सत्सग के लिये माथेरान मे एक शिविर आयोजित हुआ था। दूर-दूर से उन्हे प्रेम करनेवाले मित्र उनकी वाणी सुनने को एकत्रित हुए थे। बिदा के समय अनेक की आँखे गीली थी। सौ० सोहन के झरझर आंसू गिर रहे थे।

उसने भगवान् श्री के पैर पडे और जोर से रोने लगी। भगवान् श्री ने कहा 'प्रेम और आनन्द मे गिरे आँसुओ से पवित्र इस धरा पर और कुछ भी नही है। लेकिन मै इन आँसुओ के बदले मे तुम्हे क्या दूँ ? मेरे पास तो कुछ भी नही है ?"

फिर, उन पवित्र आँसुओ के स्मरण मे उन्होने धीरे-धीरे ये पत्र सुश्री सोहन को लिखे

भगवान् के प्रेम और करुणा से निकले हुए ये पत्र अपने आप में अद्वितीय है। इससे अनेक लोगों के जीवन पथ पर प्रकाश फैलेगा, इस आशा में ही हम उन्हें प्रकाशित कर रहे है।

विन्ध्याचल प्रकाशन, —महेन्द्र कुमार 'मानव'
छतरपुर (म० प्र०)
१९६६

पत्र शीर्षक

१ / जन्मजात परतत्रता और स्वतत्रता का अर्जन

मनुष्य का जन्म दासता मे है। हम अपने ही दास पैदा होते हैं। वासना की जजीरो के साथ ही जगत मे हमारा आना होता है। **बहुत सूक्ष्म बधन हमे बाँधे हैं।**

परतत्रता जन्मजात है। वह प्रकृति प्रदत्त है। हमे उसे कमाना नही होता। मनुष्य पाता है कि वह परतत्र है।

पर **स्वतत्रता अर्जित करनी होती है।** उसे वही उपलब्ध होता है जो उसके लिये श्रम और सघष करता है।

स्वतत्रता के लिये मूल्य देना होता है।

जीवन म जो भी श्रेष्ठ है वह निमूल्य नही मिलता।

प्रकृति से मिली परतत्रता दुर्भाग्य नही है। दुर्भाग्य है स्वतत्रता को अर्जित न कर पाना।

दास पैदा होना बुरा नही पर दास ही मर जाना अवश्य बुरा है।

अतस की स्वतत्रता को पाये बिना जीवन मे कुछ भी सार्थकता और कृतार्थता तक नही पहुचता है।

वासनाओ की कैद म जो बद है और जिन्होन विवेक का मुक्ताकाश नही जाना है उन्होने जीवन तो पाया पर वे जीवन को जानने से वचित रह गये हैं।

पिजडा म कैद पक्षियो और वासनाओ की कैद म पडी आत्माओ के जीवन मे कोई भद नहा है।

विवेक जब वासना स मुक्त होता है तभी वास्तविक जीवन के जगत म प्रवेश होता है।

प्रभु को जानना है, तो स्वय को जीतो। स्वय से ही जो पराजित हैं, प्रभु के राज्य की विजय उनके लिये नहीं है।

२ / सत्य के लिये प्रज्वलित प्यास ही पथ है

सत्य की साधना सतत है ।

श्वास-श्वास जिसकी---साधन बन जाती है, वही उसे पाने का अधिकारी होता है ।

सत्य की आकाक्षा अन्य आकाक्षाओ के साथ एक आकाक्षा नही है ।

अश मन से जो उसे चाहता है, वह चाहता ही नही । उसे तो पूरे और समग्र मन से ही चाहना होता है ।

मन जब अपनी अखडता मे उसके लिये प्यासा होता है, तब वह प्यास ही सत्य तक पहुँचने का पथ बन जाती है ।

स्मरण रहे कि **सत्य के लिये प्रज्वलित प्यास ही पथ है ।**

प्राण जब उस अनत प्यास से भरे होते है, और हृदय जब अज्ञात को खोजने के लिये ही धडकता है, तभी प्रार्थना प्रारम्भ होती है ।

श्वासे जब उसके लिये ही आती-जाती है, तभी, उस मौन अभीप्सा मे ही परमात्मा की ओर पहले चरण रखे जाते है ।

प्रेम---प्यासा प्रेम ही उसे पाने की पात्रता और अधिकार है ।

३ / नाम, रूप, शब्द—सीढियाँ भी, अवरोध भी

सत्य एक है। उस तक पहुँचने के द्वार अनेक हो सकते है।

पर, जो द्वार के मोह मे पड़ जाता है वह द्वार पर ही ठहर जाता है।

और सत्य के द्वार उसके लिये कभी नही खुलते है।

सत्य सब जगह है। जो भी है, सभी सत्य है। उसकी अभिव्यक्तियाँ अनन्त है।

वह सौंदर्य की भाँति ही है।

सौदर्य कितने रूपो मे प्रकट होता है। लेकिन, इससे क्या वह भिन्न-भिन्न हो जाता है!

जो रात्रि तारो मे झलकता है, और जो फूलो मे सुगध बनकर झरता है, और जो आँखो मे प्रेम बनकर प्रकट होता है—वह क्या अलग-अलग है?

रूप अलग हो, पर जो उनमे स्थापित होता है, वह तो एक ही है।

किन्तु, जो रूप पर रुक जाता है, वह आत्मा को नही जान पाता।

और जो सुदर पर ठहर जाता है, वह सौंदर्य तक नही पहुँच पाता है।

ऐसे ही, जो शब्द से बँध जाते है, से सत्य से वचित रह जाते हैं।

जो जानते है, वे राह के अवरोधो को सीढियाँ बना लेते हैं।

और जो नही जानते, उनके लिये सीढियाँ भी अवरोध बन जाती है।

८ / पहले जानो—स्वय को ही

आत्मज्ञान एकमात्र ज्ञान है।

क्योकि जो स्वय को ही नही जानते उनके और सब कुछ जानने का मूल्य ही क्या है ?

मनुष्य की सबसे बडी कठिनाई मनुष्य का अपने ही प्रति अज्ञान है।

दीये के ही नीचे जैसे अँधरा होता है वैसे ही मनुष्य उस सत्ता के ही प्रति अधकार मे होता है जो कि उसकी आत्मा है।

हम स्वय को ही नही जानते है और तब यदि हमारा मारा जीवन ही गलत दिशाओ मे चला जाता हो तो आश्चय करना व्यथ है।

आत्मज्ञान के अभाव मे जीवन उस नौका की भाँति है जिसका चलानेवाला होश मे नही है लेकिन नौका को चलाये जा रहा है।

जीवन को सम्यक गति और गतव्य देने के लिये स्वय का ज्ञान अत्यत आधार-भूत है।

इसके पूर्व कि जानूं कि मुझे क्या होना है, यह जानना बहुत अनिवार्य है कि म क्या हूँ।

मै जो हूँ उससे परिचित होकर ही मै उस भविष्य के आधार रख सकता हूँ जा कि अभी मुझमे सोया हुआ है।

मै जो हूँ उसे जानकर ही मुझमे अभी जो अजन्मा है उसका जन्म हो सकता है।

यदि जीवन को साथकता देनी है और पूणता के तट तक अपनी नौका ले जानी है तो और कुछ जानने के पहले स्वय का जानने म लग जाओ।

उसके बाद ही शष ज्ञान भी उपयोग होता है।

अन्यथा अज्ञान के हाथा मे आया ज्ञान आत्मघाती ही सिद्ध होता है।

ज्ञान की पहली आकाक्षा स्वय को जानने की है।

उस बिंदु पर अधकार है तो सब जगह अधकार है।

और वहाँ प्रकाश है तो सब जगह प्रकाश है।

५ / मैं अतृप्ति सिखाता हूँ

मनुष्य को स्वय से ही अतृप्त होना होता है तभी उसके चरण प्रभु की दिशा मे उठते है।

जो स्वय से तृप्त हो जाता है, वह नष्ट हो जाता है।

म अतृप्ति सिखाता हूँ मैं मनुष्य होने से असतोष सिखाता हूँ।

मनुष्यता जीवन यात्रा का पडाव है अत नही।

और जो उस अत समझ लते हैं वे मनुष्य से ऊपर उठने के एक अमल्य अवसर को व्यथ ही खो देत हैं।

हम एक लम्ब विकास की मध्य कडी हैं।

हमारा अतीत एक यात्रा पथ था हमारा भविष्य भी यात्रा है।

विकास हम पर समाप्त नही है वह हम भी अतिक्रमण करेगा।

हम अपनी ओर देख तो यह समझना कठिन नही होगा।

मनष्य का हर भाँति अधूरा और अपूण होना इसका प्रमाण है।

हम कोई एसी कृति नही है कि प्रकृति हम पर रुक जावे।

प्रभ के पूव विकास—यदि वस्तुत विकास है तो वह कहा भी नही रुक सकता है।

प्रभ की पूणता पाने के पूव विराम का न कोई साथक अत हो सकता है और न कोई अभिप्राय या अथ।

मनुष्य प्रभु को पाने का माग है। और जो मजिल को छोड माग से ही सतुष्ट हो जाव उनके दुर्भाग्य को क्या कह?

पशु को हमने पीछ छोडा है प्रभु को हमे आग पाना है। हम पशु और प्रभु के बीच एक सेतु से ज्यादा नही है।

इसलिए मैं मनष्य के अतिक्रमण के लिये कहता हू।

मनुष्य को हम वैसे ही पीछ छोड देना है जैसे साप अपनी केंचुली छोडकर आग बढ जाता है।

मनुष्य का अतिक्रमण ही मनुष्य जीवन का सदुपयोग है। उसके अतिरिक्त सब दुरुपयाग है।

माग रुकने के लिए नही होता। उसकी साथकता हो उसके पार हो जाने म है।

जैसा अपने को पाते हो उस पर ही मत रुक जाना। वह पथ का अत नही प्रारम्भ ही है।

पूण जब तक न हो जाओ तब तक जानना कि अभी माग का अत नही आया है।

६ / अंधकार से लड़ो मत—प्रकाश को जलाओ

अधकार की चिता छोडो, और प्रकाश को प्रदीप्त करो।

जो अधकार का ही विचार करते रहते है, वे प्रकाश तक कभी नही पहुँच पाते हैं।

जीवन मे बहुत अधकार है। और, अधकार की ही भाँति अशुभ और अनीति है।

कुछ लोग इस अधकार को स्वीकार कर लेते है। और तब, उनके भीतर जो प्रकाश तक पहुँचने और उसे पाने की आकांक्षा थी, वह क्रमश क्षीण होती जाती है।

मै अधकार की इस स्वीकृति को मनुष्य का सबसे बड़ा पाप कहता हूँ।

यह मनुष्य का स्वय अपने ही प्रति किया गया अपराध है।

उसके दूसरो के प्रति किये गये अपराधो का जन्म इस मूल-पाप से ही होता है।

यह स्मरण रहे कि जो व्यक्ति अपने ही प्रति इस पाप को नही करता है, वह किसी के भी प्रति कोई पाप नही कर सकता है।

किन्तु, कुछ लोग अधकार के स्वीकार से बचने के लिये उसके अस्वीकार मे लग जाते हैं। उनका जीवन अधकार के निषेध का ही सतत उपक्रम बन जाता है।

यह भी भूल है। **अधकार को मान लेने वाला भी भूल मे है, उससे लड़ने वाला भी भूल में है।**

न अधकार को मानना है, न उससे लडना है। वे दोनो ही अज्ञान हैं।

जो जानता है, वह प्रकाश को जलाने की आयोजना करता है।

अधकार की अपनी सत्ता नही है। वह प्रकाश का अभाव मात्र है। प्रकाश के आते ही वह नही पाया जाता है।

और, ऐसा ही अशुभ है, ऐसी ही अनीति है, ऐसा ही अधर्म है।

अशुभ को, अनीति को, अधर्म को मिटाना नही, शुभ का, नीति का, धर्म का दीया जलाना ही पर्याप्त है।

धर्म की ज्योति ही अधर्म की मृत्यु है।

अधकार से लड़ना अभाव से लडना है। वह विक्षिप्तता है।

लडना है तो प्रकाश पाने के लिये लडो।

जो प्रकाश पा लेता है, वह अधकार को मिटा ही देता है।

७ / सयम का सगीत

जीवन-सत्य सयम और सगीत से मिलता है। जो किसी भी दिशा मे अति करते हैं वे माग से भटक जाते है।

मनुष्य का मन अतियों मे डोलता और चलता है।

एक अति से दूसरे अति पर चला जाना उसे बहुत आसान है। ऐसा उसका स्वभाव ही है।

शरीर के प्रति जो बहुत आसक्त है वही व्यक्ति प्रतिक्रिया मे शरीर के प्रति बहुत कठोर और क्रूर हो सकता है।

इस कठोरता और क्रूरता मे भी वही आसक्ति प्रच्छन्न होती है। और इसलिए जैसे वह पहले शरीर से बँधा था वैसा ही अब भी—बिलकुल विपरीत दिशा से—शरीर से ही बँधा होता है।

शरीर का ही चिंतन पहले था शरीर का ही चितन अब भी होता है।

इस भाँति विपरीत अति पर जाकर मन धोखा दे देता है और उसकी जो मूल वृत्ति थी उसे बचा लेता है। मन का सदा अतियो म चलने का कारण यही है।

मन की इस बिपरीत अतियो मे चलने की प्रवृत्ति को ही म असयम कहता हूँ।

फिर सयम मै किसे कहता हू ? दा अतिया के बीच मध्य खोजने और उस **मध्य मे स्थिर होने का नाम सयम है।**

और जहाँ सयम होता है जीवन वही सगीत स भर जाता है।

सगीत सयम का फल है।

शरीर के प्रति राग और विराग का मध्य खोजने और उसमे स्थिर होने से वीत गता का सयम उपलब्ध होता हे।

ससार के प्रति आसक्ति और विरक्ति का मध्य खोजने और उसमे स्थिर होने से सयास का सयम उपलब्ध होता हे।

और इस भाति जो समस्त अतिया मे सयम को साधता है वह अतियो क अतीत हो जाता हे और उसके जीवन मे निर्वाण क सगात का अवतरण होता हे।

मनष्य मन अतियो म जीता है और यदि अतियाँ न हो नो वह विलीन हो जाता है।

उसके कोलाहल के विलीन हो जान पर सहज ही वह सगीत सुनाई पडने लगता है जो कि सदा सर्दैव स ही स्वय के भीतर निनादित हो रहा है।

स्वय का वह सगीत ही निर्वाण है मोक्ष है पर-ब्रह्म है।

पानी म डूबने से बचना है तो आग की लपटो मे स्वय को डाल देना—बचाव का यह कोई मार्ग नही है।

८/एक किरण पर्याप्त है—प्रकाश-स्रोत तक पहुँचने के लिए

अधकार से भरी रात्रि मे प्रकाश की एक किरण का होना भी सौभाग्य है।

क्योकि जो उसका अनुसरण करते है वे प्रकाश के स्रोत तक पहुँच जाते है।

एक राजा ने किसी कारण नाराज हो अपने वजीर को एक बहुत बडी मीनार के ऊपर कैद कर दिया था। एक प्रकार से यह अत्यत कष्टप्रद मृत्युदड ही था। न तो उसे कोई भोजन पहुँचाया जाता था और न उस गगनचुम्बी मीनार से कूद कर ही उसके भागने की कोई सभावना थी।

वह वजीर जब कैद करके मीनार की तरफ ले जाया जा रहा था तो लोगो ने देखा कि वह जरा भी चितित और दुखी नही है। विपरीत वह सदा की भाँति ही आनदित और प्रसन्न है। उसकी पत्नी ने रोते हुए उसे विदा दी और उससे पूछा कि वह प्रसन्न क्यो है ! उसने कहा कि यदि रेशम का एक अत्यत पतला सूत भी मेरे पास पहुँचाया जा सका तो मै स्वतत्र हो जाऊगा और क्या इतना सा काम तुम नही कर सकोगी !

उसकी पत्नी ने बहुत सोचा लेकिन उस ऊची मीनार पर रेशम का पतला सूत भी पहुचाने का कोई उपाय उसकी समझ मे नही आया। उसने एक फकीर को पूछा। फकीर ने कहा भृग नाम के कीड को पकडो। उसके पैर मे रेशम के धागे को बाँध दो और उसकी मूछो पर शहद की एक बूद रखकर उसे मीनार पर उसका मुँह चोटी की ओर करके छोड दो।

उसी रात्रि यह किया गया। वह कीडा सामने मधु की गध पाकर उसे पाने के लोभ मे धीरे धीरे ऊपर चढने लगा। उसने अतत अपनी लम्बी यात्रा पूरी कर ली और उसके साथ रेशम का एक छोर मीनार पर बद कैदी के हाथ मे पहुच गया।

यह रेशम का पतला धागा उसकी मुक्ति और जीवन बन गया। क्योकि उससे फिर सूत का धागा बाध कर ऊपर पहुचाया गया फिर सूत के धागे से डोरी पहुचाई गइ और फिर डोरी से मोटा रस्सा पहुचाया गया और उस रस्से के सहारे वह कैद के बाहर हो गया।

इसलिए मै कहता हू कि **सूर्य तक पहुचने के लिये प्रकाश की एक किरण भी बहुत है।**

और वह किरण किसी को पहुचानी भी नही है। वह प्रत्येक के पास है।

जो उस किरण को खोज लेते है वे सूर्य को भी पा लेते है।

मनुष्य के भीतर जो जीवन है वह अमृतत्व की किरण है—जो बोध है वह बुद्धत्व की बूँद है—और जो आनद है वह सच्चिदानद की झलक है।

९ / प्रेमपूर्ण हृदय से प्रार्थना का आविर्भाव

प्रार्थना क्या है ?—प्रेम और समर्पण।

और, जहाँ प्रेम नही है, वहाँ प्रार्थना नही है।

प्रेम के स्मरण मे एक अद्‌भुत घटना का उल्लेख है।

नूरी, रक्काम एव अन्य कुछ सूफी फकीरो पर काफिर होने का आरोप लगाया गया था, और उन्हे मृत्यु दड दिया जा रहा था। जल्लाद जब नगी तलवार लेकर रक्काम के निकट आया, तो नूरी ने उठकर स्वय को अपने मित्र के स्थान पर अत्यत प्रसन्नता और नम्रता के साथ पेश कर दिया।

दर्शक स्तब्ध रह गये। हजारो लोगो की भीड थी। उनमे एक सन्नाटा दौड गया। जल्लाद ने कहा 'हे युवक, तलवार ऐसी वस्तु नही है, जिससे मिलने के लिए लोग इतने उत्सुक और व्याकुल हो। और फिर तुम्हारी अभी बारी भी नही आई है!'

और, पता है कि फकीर नूरी ने उत्तर म क्या कहा ? उसने कहा 'प्रेम ही मेरा धर्म है। मै जानता हूँ कि जीवन, ससार मे सबसे मूल्यवान वस्तु है, लेकिन प्रेम के मुकाबले वह कुछ भी नही है। **जिसे प्रेम उपलब्ध हो जाता है, उसे जीवन खेल से ज्यादा नहीं है।**

'ससार मे जीवन श्रेष्ठ है। प्रेम जीवन से भी श्रेष्ठ है, क्योकि वह ससार का नही, सत्य का अग है। और प्रेम कहता है कि जब मृत्यु आये, तो अपने मित्रो के आगे हो जाओ और जब जीवन मिलता हो तो पीछे। इसे हम प्रार्थना कहते है।

प्रार्थना का कोई ढाँचा नही होता है। वह तो हृदय का सहज अकुरण है।

जैसे पर्वत से झरने बहते है ऐसे ही प्रेम-पूर्ण हृदय से प्रार्थना का आविर्भाव होता है।

१० / प्रतिदिन सफाई—चित्त पर जम गये धूल की

प्रत्येक व्यक्ति एक दर्पण है।

सुबह से साँझ तक इस दर्पण पर धूल जमती है।

और, जो इस धूल को जमते ही जाने देते है, वे दर्पण नही रह जाते।

और, जैसा स्वय का दर्पण होता है वैसा ही ज्ञान होता है।

जो जिस मात्रा में दर्पण है, उस मात्रा मे ही सत्य उसमे प्रतिफलित होता है।

एक साधु से किसी व्यक्ति ने कहा कि विचारो का प्रवाह उसे बहुत परेशान कर रहा है। उस साधु ने उसे निदान और चिकित्सा के लिये अपने एक मित्र साधु के पास भेजा और उससे कहा जाओ और उसकी समग्र जीवन-चर्या ध्यान से देखो। उससे ही तुम्हे मार्ग मिलने को है।

वह व्यक्ति गया। जिस साधु के पास उसे भेजा गया था, वह एक सराय मे रखवाला था। उसने वहाँ जाकर कुछ दिनो तक उसकी चर्या देखी। लेकिन, उमे उसमे कोई खास बात सीखने जैसी दिखाई नही पडी।

वह साधु अत्यत सामान्य और साधारण व्यक्ति था। उसमे कोई ज्ञान के लक्षण भी दिखाई नही पडते थे। हाँ, **बहुत सरल था और शिशुओ जैसा निर्दोष** मालूम होता था लेकिन उसकी चर्या मे तो कुछ भी नही था।

उस व्यक्ति ने साधु की पूरी दैनिक चर्या देखी थी, केवल **रात्रि मे सोने के पहले और सुबह जागने के बाद वह क्या करता था,** वही भर उसे ज्ञात नही हुआ था। उसने उससे ही पूछा। साधु ने कहा 'कुछ भी नही। रात्रि को मैं सारे बरतन माँजता हूँ। और चूँकि रात्रि भर मे उनमे थोडी-बहुत धूल पुन जम जाती है इसलिए सुबह उन्हे फिर धोता हूँ। बरतन गदे और धूल भरे न हो, यह ध्यान रखना आवश्यक है। मै इस सराय का रखवाला जो हूँ।

वह व्यक्ति इस साधु के पास से अत्यत निराश हो अपने गुरु के पास लौटा। उसने साधु की दैनिक चर्या और उससे हुई बातचीत गुरु को बताई।

उसके गुरु ने कहा 'जो जानने योग्य था वह तुम सुन और देख आये हो। लेकिन समझ नही सके। **रात्रि तुम भी अपने मन को माँजो, और सुबह उसे पुन धो डालो। धीरे-धीरे चित्त निर्मल हो जायेगा।** सराय के रखवाले को इन सबका ध्यान रखना बहुत आवश्यक है।'

चित्त की नित्य सफाई अत्यत आवश्यक है। उसके स्वच्छ होने पर ही समग्र जीवन की स्वच्छता या अस्वच्छता निर्भर है।

जो उसे ही विस्मरण कर देते है वे अपने हाथो अपने पैरो पर कुल्हाडी मारते हैं।

११ / छिपा है—अणु में विराट् और बूंद में सागर

शाश्वत, क्षण में छिपा है और अणु में विराट् ।

अणु को जो अणु मान कर छोड दे, वह विराट् को ही खो देता है ।

क्षुद्र में ही खोदने से परम की उपलब्धि होती है ।

जीवन का प्रत्येक क्षण महत्त्वपूर्ण है । और किसी भी क्षण का मूल्य किसी दूसरे क्षण से न ज्यादा है, न कम है ।

आनन्द को पाने के लिये किसी अवसर की प्रतीक्षा करना व्यर्थ है ।

जो जानते हैं, वे प्रत्येक क्षण को ही आनन्द बना लेते हैं ।

और, जो अवसरों की प्रतीक्षा करते रहते हैं, वे जीवन के अवसर को ही खो देते हैं ।

जीवन की कृतार्थता इकट्ठी और राशिभूत नहीं मिलती है । उसे तो बिंदु-बिंदु और क्षण-क्षण में ही पाना होता है ।

एक साधु के निर्वाण पर उसके शिष्यो से पूछा गया था कि दिवगत सद्गुरु अपने जीवन मे सबसे बड़ी महत्त्वपूर्ण बात कौन-सा मानते थे ? उन्होंने उत्तर मे कहा था . 'वही जिसमे किसी भी क्षण वे सलग्न होते थे ।'

बूंद-बूंद से सागर बनता है । और क्षण-क्षण से जीवन ।

बूँद को जो पहचान ले, वह सागर को जान लेता है ।

और, क्षण को जो पा ले, वह जीवन पा लेता है ।

१२ / सबसे बडा अवरोध—'मै' का

'मै' से बडी और कोई भूल नही।

प्रभु के मार्ग में वही सबसे बडी बाधा है।

जो उस अवरोध को पार नही करते, सत्य के मार्ग पर उनकी कोई गति नही होती है।

एक साधु किसी गाँव से गुजरता था। उसका एक मित्र-साधु भी उस गाँव मे था। उसने सोचा कि उससे मिलता चलूँ।

रात आधी हो रही थी, फिर भी वह मिलने गया। एक बंद खिडकी से प्रकाश को आते देख उसने उसे खटखटाया। भीतर से आवाज आई 'कौन है?' उसने यही सोचा कि वह तो अपनी आवाज मे ही पहचान लिया जावेगा, कहा 'मै'।

फिर भीतर से कोई उत्तर न आया। उसने बार-बार खिडकी पर दस्तक दी पर उत्तर नही आया। ऐसा ही लगने लगा कि जैसे वह घर बिलकुल निर्जन है।

उसने जोर से कहा 'मित्र, तुम मेरे लिये द्वार क्यो नही खोल रहे हो और चुप क्यो हो गये?'

भीतर से कहा गया यह कौन ना-समझ है जो स्वयं को 'मै' कहता है, क्योकि, 'मै' कहने का अधिकार सिवाय परमात्मा के और किसी को नही है।'

प्रभु के द्वार पर हमारे 'मै' का ही ताला है।

जो **उसे तोड देते है, वे पाते है कि द्वार तो सदा से ही खुले थे।**

सत्य स्वय के भीतर है।

उसे पहचान लेना भी कठिन नही लेकिन **उसके लिए अपने ही भीतर यात्रा करनी होगी।**

जब कोई अपने भीतर जाता है तो अपने ही प्राणो के प्राण म वह सत्य को भी पा जाता है और स्वय को भी।

पहले महायुद्ध की बात है एक फ्रान्सीसी सैनिक को किसी रेलवे स्टेशन के पास अत्यत क्षत विक्षत स्थिति मे पाया गया था। उसका चेहरा इतने घावो मे भरा था कि उसे पहचानना कठिन था कि वह कौन है।

उसे पहचानना और भी कठिन इसलिए हो गया था कि उसके मस्तिष्क पर चोट आ जाने से वह स्वय भी स्वय को भूल गया था। उसकी स्मृति चली गई थी।

पूछे जाने पर वह कहता था 'मै नही जानता कि मै कौन हूँ और कहाँ से हूँ ? और यह बताते ही उसकी आँखो से आँसुओ की धार लग जाती थी।

अतत तीन परिवारो ने उसे अपने परिवार से सम्बन्धित होने का दावा किया। वह तीन परिवारो से हो यह तो सम्भव नही था। इसलिय उसे क्रमश तीनो गाँवो मे ले जाकर छोडा गया।

दो गाँवो म तो वह किकर्तव्यविमूढ की भाति जाकर खडा हो गया। किन्तु तीसरे गाँव म प्रविष्ट होते ही उसकी फीकी आख एक नई चमक से भर गइ। और उसके भाव शून्य चेहरे पर किन्ही भावो के दर्शन होने लगे। वह स्वय ही एक छोटी गली म गया और फिर एक घर को देख कर दौडने लगा।

उसके सोये स प्राणो म कोई शक्ति जैस जाग गई हो वह पहचान गया था। उसका घर उसकी स्मृति म आ गया था। उसने आनन्द म विभोर होकर कहा था यही मेरा घर है और मुझे स्मरण आ गया है कि मै कौन हूँ!

एसा ही हमम से प्रत्येक के साथ हुआ है।

हम भूल गये ह कि कौन हे, क्योकि हम भूल गये हे कि हमारा घर कहाँ है। अपना घर दीख जावे तो स्वय को पहचान लेना सहज ही हो जाता है।

जो व्यक्ति बाहर ही यात्रा करता रहता है वह कभी उस गाँव मे नही पहुँचता जहा कि उसका वास्तविक घर है।

और वहां न पहुचने से वह स्वय तक ही नही पहुँच पाता है।

बाहर ही नहीं भीतर भी एक यात्रा होती है, जो स्वय तक और सत्य तक ले जाती है।

१४ / 'मैं' की स्वप्न-सत्ता

सत्य और स्वय मे जो सत्य को चुनता है, वह सत्य को भी पा लेता है और स्वयं को भी।

और, जो स्वय को चुनता है, वह दोनो को खो देता है।

मनुष्य को सत्य होने के पूर्व स्वयं को खोना पड़ता है।

वही स्वय सत्य पर परदा है।

उसकी दृष्टि ही अवरोध है—वह दृष्टि जो कि 'मैं' के बिंदु से विश्व को देखती है।

'अह-दृष्टि' के अतिरिक्त उसे सत्य से और कोई भी पृथक् नही किये है।

मनुष्य का 'मैं' हो जाना ही, परमात्मा से उसका पतन है।

'मैं' की पार्थिवता मे ही वह नीचे आता है, और 'मैं' को खोते ही वह अपार्थिव और भागवत-सत्ता मे ऊपर उठ आता है।

'मैं' होना नीचे होना है। 'न मैं' हो जाना ऊपर उठ जाना है।

किन्तु, जो खोने जैसा दीखता है, वह वस्तुत खोना नही—पाना है।

स्वय की, जो सत्ता खोनी है, वह सत्ता नही, स्वप्न ही है और उसे खोकर जो सत्ता मिलती है, वही सत्य है।

बीज जब भूमि के भीतर स्वयं को बिलकुल खो देता है, तभी वह अंकुरित होता है और वृक्ष बनता है।

१५ / अनुभवों की माला

जीवन एक कला है। वह कैसे भी जी लेने का नाम नही है।

वस्तुत, जो सोद्देश्य जीता है, वही केवल जीता है।

जीवन का क्या अर्थ है? क्या है, हमारे होने का अभिप्राय? क्या है उद्देश्य?

हम क्या होना और क्या पाना चाहते हैं?

यदि, जीवन मे गतव्य का बोध न हो, तो गति सम्यक् कैसे हो सकती है?

और, यदि कही पहुँचना न हो, तो सतृप्ति को कैसे पाया जा सकता है?

जिसे समग्र जीवन के अर्थ का विचार नही है, उसके पास फूल तो है और वह उनकी माला भी बनाना चाहता है, किन्तु उसके पास ऐसा धागा नही है, जो इन्हे जोड सके और एक कर सके।

अतत, वह पायेगा कि फूल माला नही बन सके है और उसके जीवन मे न दिशा है और न कोई एकता है।

उसके समस्त अनुभव आणविक ही होगे और उनसे उस ऊर्जा का जन्म नही होगा जो कि ज्ञान बन जाती है।

वह जीवन के उस समग्र अनुभव से वचित ही रह जावेगा, जिसके अभाव मे जीना और न-जीना बराबर ही हो जाता है।

उसका जीवन एक ऐसे वृक्ष का जीवन होगा, जिसमे कि न फूल लगे, न फल लगे।

ऐसा व्यक्ति सुख-दुख तो जानेगा लेकिन आनन्द नही।

क्योकि, आनन्द की अनुभूति तो जीवन को उसकी समग्रता मे अनुभव करने से ही पैदा होती है।

आनन्द को पाना है तो जीवन को फूलो की एक माला बनाओ।

और समस्त अनुभवो को एक लक्ष्य के धागे से अनुस्यूत करो।

जो इसमे अन्यथा करता है वह सार्थकता और कृतार्थता नही पाता है।

१६ / संदेह—विश्वास, अविश्वास से मुक्त जिज्ञासा

सत्य को चाहते हो, तो चित्त को किसी मत से 'मत' बांधो।

जहां मत है, वहां सत्य नही आता।

मत और सत्य मे विरोध है।

सत्य की खोज के लिये मुक्त-जिज्ञासा पहली सीढ़ी है।

और, जो व्यक्ति स्वानुभूति के पूर्व ही किन्ही सिद्धातो और मतो से अपने चित्त को बोझिल कर लेता है, उसकी जिज्ञासा कुण्ठित और अवरुद्ध हो जाती है।

जिज्ञासा—खोज की गति और प्राण है।

जिज्ञासा के माध्यम से ही विवेक जाग्रत होता और चेतना ऊर्ध्व बनती है।

लेकिन, जिज्ञासा आस्था से नही, सदेह से पैदा होती है।

और, इसलिए मैं आस्था को नही, सदेह को सत्य-पथ के राही का पाथेय मानता हूँ।

सदेह स्वस्थ चिंतन का लक्षण है और उसके सम्यक् अनुगमन से ही सत्य के ऊपर पडे परदे क्रमश: गिरते जाते है, और एक क्षण सत्य का दर्शन होता है।

यह भी स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि आस्तिक और नास्तिक दोनो ही आस्थावान होते है।

आस्था विधायक और नकारात्मक दोनो ही प्रकार की होती है।

सदेह चित्त की एक तीसरी ही अवस्था है।

वह अविश्वास नहीं है और न ही विश्वास है।

वह तो दोनो से मुक्त खोज के लिए स्वतंत्रता है।

और, सत्य की खोज वे कैसे कर सकते है जो कि पूर्व मे ही किन्ही मतो से आबद्ध है!

मतो के खूंटो से विश्वास या अविश्वास की जजीरो को जो खोल देता है, उसकी नाव ही केवल सत्य के सागर मे यात्रा करने मे समर्थ हो पाती है।

सत्य के आगमन की शर्त है: चित्त की पूर्ण स्वतत्रता।

जिसका चित्त किन्ही सिद्धातो मे परतत्र है, वह सत्य के सूर्य के दर्शन से वचित रह जाता है।

१७ / प्रत्येक अनुभव प्रज्ञा बन सकता है

आँखें खुली हों, तो पूरा जीवन ही विद्यालय है।

और, जिसे सीखने की भूख है, वह प्रत्येक व्यक्ति और प्रत्येक घटना से सीख लेता है।

और, स्मरण रहे कि जो इस भाँति नही सीखता है, वह जीवन मे कुछ भी न सीख पाता।

इमर्सन ने कहा है : 'हर शख्स, जिससे मैं मिलता हूँ, किसी न किसी बात मे मुझसे बढ़कर है। वही, मैं उससे सीखता हूँ।'

एक दृश्य मुझे स्मरण आता है। मक्का की बात है।

एक नाई किसी के बाल बना रहा था। इसी समय फकीर जुन्नैद वहाँ आ गये और उन्होने कहा : 'खुदा की खातिर मेरी हजामत भी कर दे।'

उस नाई ने खुदा का नाम सुनते ही अपने गृहस्थ ग्राहक से कहा : 'मित्र, अब थोड़ी मैं आपकी हजामत नही बना सकूँगा। खुदा की खातिर उस फकीर की सेवा मुझे पहले करनी चाहिये। खुदा का काम सबसे पहले है।'

इसके बाद फकीर की हजामत उसने बड़े ही प्रेम और भक्ति से बनाई और उसे नमस्कार कर विदा किया।

कुछ दिनो बाद जब जुन्नैद को किसी ने कुछ पैसे भेंट किये, तो वे उन्हे नाई को देने गये। लेकिन उस नाई ने पैसे न लिये और कहा : 'आपको शर्म नही आती ! आपने तो खुदा की खातिर हजामत बनाने को कहा था, रुपयो की खातिर नही !'

फिर तो जीवन भर फकीर जुन्नैद अपनी मडली मे कहा करते थे : 'निष्काम ईश्वर-भक्ति मैंने एक हज्जाम से सीखी है।'

क्षुद्रतम मे भी विराट् सदेश छुपे है।

जो उन्हे उघाड़ना जानता है, वह ज्ञान को उपलब्ध होता है।

जीवन में सजग होकर चलने से प्रत्येक अनुभव प्रज्ञा बन जाता है।

और, जो मूच्छित बने रहते है, वे द्वार आये आलोक को भी वापस लौटा देते है।

१८ / मनुष्य—मृण्मय और चिन्मय का जोड

मनुष्य के पैर नरक को ओर उसका सिर स्वग को छूता है।
ये दोनो ही उसकी समावनाएँ है।

इन दोनो मे से कौन सा बीज वास्तविक बनेगा यह उस पर और केवल उस पर निर्भर करता है।

मनुष्य की श्रेष्ठता स्वय उसके अपने हाथो मे है।

प्रकृति ने तो उस मात्र समावनाएँ दी है। उसका रूप निर्णीत नही है।
वह स्वय का स्वय ही सृजन करता है।
यह स्वतत्रता महिमापूर्ण है।

किन्तु हम चाह तो इसे ही दुर्भाग्य भी बना सकते है।
और अधिक लोगो को यह स्वतत्रता दुर्माग्य ही सिद्ध होती है।

क्योकि सृजन की क्षमता मे विनाश की क्षमता और स्वतत्रता भी तो छिपी है!
अधिकतर लोग दूसरे विकल्प का ही उपयोग करते है।

क्योकि निर्माण से विनाश आसान होता है।
और स्वय को मिटाने से आसान और क्या है!

स्व-विनाश के लिये आत्मसृजन मे न लगना ही काफी है।
उसके लिये अलग से और कुछ भी करने की आवश्यकता नही होती।

जो जीवन मे ऊपर की ओर नही उठ रहा है वह अनजाने और अनचाहे ही पीछे और नीचे गिरता जाता है।

मैंने सुना है कि किसी सभा मे चर्चा चली थी कि मनुष्य सब प्राणियो म श्रेष्ठ है क्योकि वह सब प्राणियो को वश म कर लेता है। किन्तु कुछ का विचार था कि मनुष्य तो कुत्तो से भी नीचा है क्योकि कुत्तो का सयम मनुष्य से कई गुना श्रेष्ठ होता है!

इस विवाद म हुसैन भी उपस्थित थ। दोनो पक्ष वालो न उनसे निर्णायक मत देने को कहा। हुसैन ने कहा था मैं अपनी बात कहता हूँ। उसी से निणय कर लेना। जब तक मैं अपना चित्त और जीवन पवित्र कामो म लगाये रहता हू तब तक देवताओ के करीब होता ह। किन्तु जब मेरा चित्त और जीवन पापमय होता है तो कुत्त भी मुझ जस हजार हुसैनो स श्रेष्ठ होते है।

मनुष्य मृण्मय और चिन्मय का जोड है।
जो देह को और उसकी वासनाओ का अनुसरण करता है वह नीचे स नीचे उतरता जाता है।

और जो चिन्मय के अनुसधान मे रत होता है वह अतत सच्चिदानद को पाता और स्वय भी वही हो जाता है।

√ १९ / स्वयं में प्रतिष्ठा—एक-मात्र सुरक्षा

स्वय के भीतर जो है, उसे जानने से ही जीवन मिलता है।

जो उसे नही जानता, वह प्रतिक्षण मृत्यु से और मृत्यु के भय से ही घिरा रहता है।

एक साधु को उसके मित्रो ने पूछा 'यदि दुर्जन आप पर हमला कर दें, तो आप क्या करेंगे ?' वह बोला . 'मै अपने मजबूत किले मे जाकर बैठा रहूँगा।' यह बात उसके शत्रुओ के कान तक पहुँच गई।

फिर, एक दिन शत्रुओ ने उसे एकात मे घेर लिया और कहा 'महानुभाव ! बताइये वह मजबूत किला कहाँ है ?'

वह साधु खूब हँसने लगा और फिर अपने हृदय पर हाथ रखकर बोला 'यह है मेरा किला। इसके ऊपर कभी कोई हमला नही कर सकता है।

शरीर तो नष्ट किया जा सकता है—पर जो उसके भीतर है—वह नहीं। वही मेरा किला है। मेरा उसके मार्ग को जानना ही मेरी सुरक्षा है।'

जो व्यक्ति इस मजबूत किले को नही जानता है, उसका पूरा जीवन असुरक्षित है।

और, जो इस किले को नहीं जानता है उसका जीवन प्रतिक्षण शत्रुओ से घिरा है।

ऐसे व्यक्ति को अभी शाति और सुरक्षा के लिये कोई शरणस्थल नही मिला है।

और, जो उस स्थल को बाहर खोजते हैं, वे व्यर्थ ही खोजते हैं, क्योकि वह तो भीतर है।

जीवन का वास्तविक परिचय स्वय मे प्रतिष्ठित होकर ही मिलता है, क्योकि उस बिंदु के बाहर जो परिधि है, वह मृत्यु से निर्मित है।

२० / वही सम्राट् है—जिसकी कोई माँग न रही

वे ही सपदाशाली हैं जिनकी कोई आवश्यकता नही।
इच्छाएँ दरिद्र बनाती हैं। और उनसे घिरा चित्त भिखारी हो जाता है।
वह निरतर माँगता ही रहता है।

समृद्ध तो केवल वे ही हैं, जिनकी कोई माँग शेष नही रह जाती है।

महर्षि कणाद का नाम कण बीनकर गुजारा करने के कारण 'कणाद' पड गया था। किसान जब खेत काट लेते तो उसके बाद जो अन्न कण पडे रह जाते थे उन्हे ही बीनकर वे अपना जीवन चलाते थे। कौन होगा उन जैसा दरिद्र!

देश के राजा को उनके कष्ट का पता चला। उसने प्रचुर धन सामग्री लेकर अपने मत्री को उन्हे भेट करने भेजा। मत्री पहुँचा तो महर्षि ने कहा मैं सकुशल हूँ। इस धन को तुम उन्हे बाँट दो जिन्हे इसकी जरूरत है।

इस भाँति तीन बार हुआ।

अतत राजा स्वय इस फकीर को देखने गया। बहुत धन वह अपने साथ ले गया था। महर्षि से उसे स्वीकार करने की उसने प्रार्थना की। किन्तु वे बोले उन्हे दे दो जिनके पास कुछ भी नही। देखो मेरे पास तो सब कुछ है।

राजा ने देखा। जिसके शरीर पर एक लँगोटी मात्र है वह कह रहा है कि उसके पास तो सब-कुछ है!

लौटकर सारी कथा उसने अपनी रानी को कही। रानी बोली आपने भूल की है। **साधु के पास उसे कुछ देने नही, वरन् उससे कुछ लेने जाना चाहिए।** जिनके पास भीतर कुछ है वे ही बाहर का सब कुछ छोडने में समर्थ होते है।

राजा उसी रात महर्षि के पास गया। उसने क्षमा माँगी। कणाद ने उससे कहा 'देखो गरीब कौन है! मुझे देखो और स्वय को देखो—बाहर नही भीतर।

मैं कुछ भी नही मागता हूँ कुछ भी नही चाहता हूँ और इसलिये अनायास ही सम्राट हो गया हूँ।

एक सपदा बाहर है और एक भीतर भी।

जो बाहर है वह आज नही कल छिन ही जाती है।

इसलिए जो जानते है वे उसे सपदा नही विपदा मानते हैं।

उनकी खोज उसके लिये होती है, जो कि भीतर है।
वह मिलती है, तो खोती नही।
उसे पाना ही पाना है।
क्योंकि, शेष सब पा लेने पर भी और पाने की माँग बनी रहती है।
लेकिन, उसे पाने पर फिर कुछ और पाने को शेष नहीं रह जाता है।

२१ / गहन संवेदनशीलता ही पथ है

ईश्वर को जो किसी विषय या वस्तु की भाँति खोजते हैं, वे ना-समझ हैं।

वह वस्तु नहीं है।

वह तो आलोक और आनन्द और अमृत की चरम अनुभूति का नाम है।

वह व्यक्ति भी नहीं है कि उसे कहीं बाहर पाया जा सके।

वह तो स्वयं की चेतना का ही आत्यंतिक परिष्कार है।

एक फकीर से किसी ने पूछा ईश्वर है तो दिखाई क्यों नहीं देता ?

उस फकीर ने कहा **'ईश्वर कोई वस्तु नहीं है, वह तो अनुभूति है। उसे देखने का कोई उपाय नहीं, हाँ, अनुभव करने का अवश्य है।'**

किन्तु वह जिज्ञासु संतुष्ट नहीं दिखाई दिया। उसकी आँखों में प्रश्न वैसा का वैसा ही खड़ा था। तब उस फकीर ने पास में ही पड़ा एक बड़ा पत्थर उठाया और अपने पैर पर पटक लिया। उसके पैर को गहरी चोट पहुँची और उससे रक्त धार बहने लगी।

वह व्यक्ति बोला 'यह आपने क्या किया ? इससे तो बहुत पीड़ा होगी ? यह कैसा पागलपन है ?

वह फकीर हँसने लगा और बोला **'पीड़ा** दीखती नहीं फिर भी है। **प्रेम दीखता नहीं, फिर भी होता है। ऐसा ही ईश्वर भी है।'**

जीवन में जो दिखायी पड़ता है उसकी ही नहीं—उसकी भी सत्ता है जो कि दिखाई नहीं पड़ता है।

और दृश्य में उस अदृश्य की सत्ता बहुत गहरी है क्योंकि उस अनुभव करने को स्वयं के प्राणों की गहराई में उतरना आवश्यक होता है। तभी वह ग्रहणशीलता उपलब्ध होती है जो कि उसे स्पर्श और प्रत्यक्ष कर सके।

साधारण आँख नहीं उसे जानने को तो अनुभूति की गहरी संवेदनशीलता पानी होती है। तभी उसका अविष्कार होता है।

उसे पाने पर फिर कुछ और पाने को शेष नहीं रह जाता है।

और तभी ज्ञात होता है कि वह बाहर नहीं है कि उसे देखा जा सकता **वह तो भीतर है, वह तो देखने वाले में ही छुपा है।**

ईश्वर को खोजना नहीं खोदना होता है।

स्वयं में ही जो खोदते चले जाते हैं, वे अंततः उसे अपनी ही सत्ता के मूल-स्रोत और चरम विकास की भाँति अनुभव करते हैं।

२२ / मूर्च्छा है पाप और अमूर्च्छा है धर्म

स्मरण रहे कि मैं मूर्च्छा को ही पाप कहता हूँ।

अमूर्च्छित चित्त-दशा मे पाप वैसे ही असभव है, जैसे कि जानते और जागते हुए अग्नि में हाथ डालना।

जो अमूर्च्छा को साध लेता है, वह सहज ही धर्म को उपलब्ध हो जाता है।

संत भीखण के जीवन की घटना है।

वे एक रात्रि प्रवचन करते थे। आसोजी नाम का एक श्रावक सामने बैठा नीद ले रहा था।

भीखण ने उससे पूछा 'आसोजी ! नीद लेते हो ?' आसोजी ने आँखे खोली कहा 'नही, महाराज।'

थोडी देर, और फिर नीद वापस लौट आई।

भीखणजी ने फिर पूछा 'आसोजी ! सोते हो ?' फिर मिला वही उत्तर : 'नही, महाराज।'

नींद में डूबा आदमी सच कब बोलता है ! और, बोलना भी चाहे तो बोल कैसे सकता है !

नीद फिर से आ गई।

(इस बार भीखण ने जो पूछा वह अद्भुत था। बहुत उसमे अर्थ है। प्रत्येक को स्वय से पूछने योग्य वह प्रश्न है। वह अकेला प्रश्न ही बस, सारे तत्त्व-चितन का केंद्र और मूल है।)

उन्होंने जोर से पूछा 'आसोजी ! जीते हो ?' आसोजी तो सोते थे। निद्रा मे सोचा कि वही पुराना प्रश्न है। फिर, नीद मे 'जीते हो', 'सोते हो' जैसा ही सुनाई दिया होगा ! आँखे तिलमिलाई और बोले 'नही, महाराज।'

(मूल से सही उत्तर निकल गया।

निद्रा मे जो है, वह मृत ही के तुल्य है।

प्रमादपूर्ण जीवन और मृत्यु में अंतर ही क्या हो सकता है ?

जाग्रत ही जीवित है।

जब तक हम जागते नहीं हैं—विवेक और प्रज्ञा में, तब तक हम जीवित भी नहीं हैं।

जो जीवन को पाना चाहता है, उसे अपनी निद्रा और मूर्च्छा छोडनी होगी। साधारणतः हम सोये ही हुए हैं।)

और, हमारे भाव, विचार और कर्म सभी मूर्च्छित है।
हम उन्हे ऐसे कर रहे हैं, जैसे कि कोई और हमसे कराता हो और जैसे कि हम किसी गहरे सम्मोहन मे उन्हे कर रहे हो।
जागने का अर्थ है कि मन और काया से कुछ भी मूर्च्छित न हो—जो भी हो, वह पूरी जागरूकता और सजगता में हो।
ऐसा होने पर अशुभ असंभव हो जाता है और शुभ सहज ही फलित होता है।

२३ / सुख-दुःख के पार—स्वीकार से, तथाता से

सुबह आती है, तो मैं सुबह को स्वीकार कर लेता हूँ और साँझ आती है, तो साँझ को।

प्रकाश का भी आनन्द है और अधकार का भी।

जब से यह जाना, तब से दुख नही जाना है।

किसी आश्रम से एक साधु बाहर गया था। लौटा तो उसे ज्ञात हुआ कि उसका एकमात्र पुत्र मर गया है और उसकी शवयात्रा अभी राह मे ही होगी। वह दुःख में पागल हो गया। उसे खबर क्यों नही की गई ? वह आवेश मे अधा दौड़ा हुआ श्मशान की ओर चला।

शव मार्ग मे ही था। उसके गुरु शव के पास ही चल रहे थे। उसने दौड़कर उन्हे पकड लिया। दुख मे वह मूर्च्छित-सा हो गया था। फिर अपने गुरु से उसने प्रार्थना की: **"दो शब्द सांत्वना के कहें। मैं पागल हुआ जा रहा हूँ।"**

गुरु ने कहा: "शब्द क्यों, सत्य ही जानो। उससे बड़ी कोई सांत्वना नहीं।" और, उन्होने शव पेटिका के ढक्कन को खोला और उससे कहा: **'देखो—'जो है', उसे देखो।**

उसने देखा। उसके आँसू थम गए। सामने मृत देह थी। वह देखता रहा और एक अतर्दृष्टि का उसके भीतर जन्म हो गया।

जो है—है, उसमें रोना-हँसना क्या ?

जीवन एक सत्य है तो मृत्यु भी एक सत्य है।

जो है—है। उससे अन्यथा चाहने से ही दुख पैदा होता है।

एक समय मैं बहुत बीमार था।

चिकित्सक भयभीत थे और प्रियजनो की आँखो मे विषाद छा गया था।

और, मुझे बहुत हँसी आ रही थी, मैं मृत्यु को जानने को उत्सुक था।

मृत्यु तो नही आई, लेकिन एक सत्य अनुभव में आ गया।

जिसे भी हम स्वीकार कर लें, वही हमें पीड़ा पहुँचाने में असमर्थ हो जाता है।

मै एक शवयात्रा मे गया था ।

जो वहाँ थे, उनसे मैने कहा :

यदि यह शवयात्रा तुम्हें अपनी ही मालूम नहीं होती है, तो तुम अंधे हो । मै तो स्वयं को अर्थी पर बँधा देख रहा हूँ । काश ! तुम भी ऐसा ही देख सको, तो तुम्हारा पूरा जीवन दूसरा हो जावे ।

जो स्वयं की मृत्यु को जान लेता है, उसकी दृष्टि संसार से हटकर सत्य पर केंद्रित हो जाती है ।

शेखसादी ने लिखा है :

बहुत दिन बीते दजला के किनारे एक मुरदे की खोपड़ी ने कुछ बातें एक राहगीर से कही थी । वह बोली थी 'ओ प्यारे, जरा होश से चल । मै भी कभी शाही दबदबा रखती थी और मेरे ऊपर ताज था । फतह मेरे पीछे-पीछे चली और मेरे पैर जमीन पर न पडते थे । होश ही न था कि एक दिन सब समाप्त हो गया । कीडे मुझे खा गये हैं और हर पैर मुझे ठोकर मार जाता है । तू भी अपने **कानों से गफलत की रुई निकाल डाल,** ताकि तुझे मुरदो की आवाज से उठनेवाली नसीहत हासिल हो सके ।'

मुरदों की आवाज से उठनेवाली नसीहत क्या है ? और, क्या कभी हम उसे सुनते हैं ! जो उसे सुन लेता है, उसका जीवन ही बदल जाता है ।

जन्म के साथ मृत्यु जुडी है ।

उन दोनो के बीच जो है, वह जीवन नही, जीवन का आभास ही है ।

जीवन वह कैसे होगा, क्योकि जीवन की मृत्यु नही हो सकती है !

जन्म का अत है, जीवन का नही । **और, मृत्यु** का प्रारभ है, जीवन का नही ।

जीवन तो उन दोनों से पार है ।

जो उसे नहीं जानते है, वे जीवित होकर भी जोवित नही है ।

और, जो उसे जान लेते है, वे मर कर भी नहीं मरते ।

२५ / निर्विचार साधक बन जाता है मंदिर

मंदिरो और उपासनागृहों मे बैठने का कोई मूल्य नही है और तुम्हारे हाथो मे की गई मालाएँ झूठी है, जब तक कि विचार के यांत्रिक प्रवाह से तुम मुक्त नही हो।

जो विचार की तरंगों से मुक्त हो जाता है, वह जहाँ भी है, वहीं मंदिर में है और उसके हाथ में जो भी कार्य है, वही माला है।

एक व्यक्ति ने किसी साधु से कहा था : 'मेरी पत्नी मेरी धर्म-साधना मे श्रद्धा नही रखती है। आप उसे थोडा समझा दें तो अच्छा है।'

दूसरे दिन सुबह ही वह साधु उसके घर गया। घर के बाहर बगिया मे ही उसकी पत्नी मिल गई। साधु ने पति के सम्बन्ध मे पूछा। पत्नी ने कहा 'जहाँ तक मै समझती हूँ, इस समय वे किसी चमार की दुकान पर झगडा कर रहे है!'

सुबह का धुंधलका था। पति पास ही बनाये गये अपने उपासनागृह मे माला फेर रहा था। उससे इस झूठ को नही सहा गया। वह बाहर आकर बोला 'यह बिलकुल असत्य है। मै अपने मंदिर मे था।'

साधु भी हैरान, हुआ पर पत्नी बोली. 'क्या सच ही तुम उपासनागृह मे थे? क्या माला हाथ मे, शरीर मदिर मे और मन कही और नही था?'

पति को होश आया। सच ही वह माला फेरते-फेरते चमार की दुकान में चला गया था। उसे जूते खरीदने थे और रात्रि ही उसने अपनी पत्नी को कहा था कि सुबह होते ही उन्हे खरीदने चला जाऊँगा। फिर विचार मे ही चमार से मोल-तोल पर उसका कुछ झगड़ा हो रहा था!

विचार को छोड़ो और निर्विचार हो रहो, तो तुम जहाँ हो प्रभु का आगमन वहीं हो जाता है।

उसे खोजने तुम कहाँ जाओगे?

और जिसे जानते ही नही उसे खोजोगे कैसे?

उसकी खोज से नहीं, स्वय के भीतर शाति के निर्माण से ही उसे पाया जाता है।

कोई आज तक उसके पास नही गया है, वरन् जो अपनी पात्रता से उसे आमंत्रित करता है, उसके पास वह स्वय ही चला आता है।

मंदिर मे जाना व्यर्थ है।

जो जानते है, वे स्वय ही मंदिर बन जाते है।

२६ / असली प्रश्न—मैं कौन हूँ ?

"मैं कौन हूँ ?"

जो स्वय से इस प्रश्न को नही पूछता है,ज्ञान के द्वार उसके लिये बंद ही रह जाते हैं।

उस द्वार को खोलने की कुंजी यही है ।

स्वय से पूछो कि 'मैं कौन हूँ ?'

और,जो प्रबलता से और समग्रता से पूछता है,वह स्वय से ही उत्तर भी पा जाता है।

कारलाइल बूढ़ा हो गया था। उसका शरीर अस्सी वसत देख चुका था। और जो देह कभी अति सुदर और स्वस्थ थी, वह अब जर्जर और ढीली हो गई थी. जीवन संध्या के लक्षण प्रकट होने लगे थे। ऐसे बुढापे की एक सुबह की घटना है।

कारलाइल स्नानगृह मे था। स्नान के बाद वह जैसे ही शरीर को पोंछने लगा, उसने अचानक देखा कि वह देह तो कब की जा चुकी है, जिसे कि वह अपनी मान बैठा था। शरीर तो बिलकुल ही बदल गया है। वह काया अब कहाँ है, जिसे उसने प्रेम किया था? जिस पर उसने गौरव किया था, उसकी जगह यह खडहर ही तो शेष रह गया है!

पर, साथ ही एक अत्यत अभिनव-बोध भी उसके भीतर अकुरित होने लगा **'शरीर तो वही नहीं है, लेकिन वह तो वही है।** वह तो नही बदला है।' और तब उसने स्वय से ही पूछा था : **'आह ! तब फिर मैं कौन हूँ ?'** (What the devil am I ?)

यही प्रश्न प्रत्येक को अपने से पूछना होता है।

यही असली प्रश्न है। प्रश्नो का प्रश्न यही है।

जो इसे नही पूछते, वे कुछ भी नही पूछते हैं।

और जो पूछते ही नही, वे उत्तर कैसे पा सकेंगे ?

पूछो—**अपने अंतरतम की गहराइयो में इस प्रश्न को गूंजने दो : 'मैं कौन हूँ ?'**

जब प्राणों को पूरी शक्ति से कोई पूछता है, तो उसे अवश्य ही उत्तर उपलब्ध होता है।

और, वह उत्तर जीवन की सारी दिशा और अर्थ को परिवर्तित कर देता है।

उसके पूर्व मनुष्य अधा है।

उसके बाद ही वह आँखों को पाता है।

२५ / शास्त्रों का भार और स्वानुभूति की एक किरण

सत्य की एक किरण भी बहुत है।

ग्रंथों का भार जो नही करता है, सत्य की एक झलक भी वह कर दिखाती है।

अंधेरे में उजाला करने को प्रकाश के ऊपर बड़े-बड़े शास्त्र किसी काम के नही, एक मिट्टी का दीया जलाना ही पर्याप्त है।

राल्फ वाल्डे इमर्सन के व्याख्यानों में एक बूढ़ी धोबिन निरंतर देखी जाती थी। लोगों को हैरानी हुई : एक अपढ़ गरीब औरत इमर्सन की गम्भीर वार्ताओं को क्या समझती होगी ! किसी ने आखिर उससे पूछ ही लिया कि उसकी समझ में क्या आता है ?

उस बूढ़ी धोबिन ने जो उत्तर दिया, वह अद्‌भुत था। उसने कहा : 'मैं जो नही समझती, उसे तो क्या बताऊँ। लेकिन, एक बात मैं खूब समझ गई हूँ और पता नहीं कि दूसरे उसे समझे हैं या नही ! मैं तो अपढ़ हूँ और मेरे लिये वह एक ही बात काफी है। उस बात ने तो मेरा सारा जीवन ही बदल दिया है। और वह बात क्या है ? वह है कि मैं भी प्रभु से दूर नही हूँ, एक दरिद्र अज्ञानी स्त्री से भी प्रभु दूर नहीं है। प्रभु निकट है—निकट ही नही, स्वय मे है। यह छोटा-सा सत्य मेरी दृष्टि में आ गया है और अब मै नही समझती कि इससे भी बडा कोई और सत्य हो सकता है !'

जीवन बहुत तथ्य जानने से नहीं, किन्तु सत्य की एक छोटी-सी अनुभूति से ही परिवर्तित हो जाता है।

और, जो बहुत जानने में लगे रहते हैं, वे अक्सर सत्य की उस छोटी-सी चिनगारी से वंचित ही रह जाते हैं, जो कि परिवर्तन लाती है और जीवन मे बोध के नये आयाम जिससे उद्‌घाटित होते हैं।

२८/ जीवन का परिचय–अन्धी जीवनासक्ति से मुक्ति पर ही

मैंने सुना है कि क्राइस्ट ने लोगो को कब्रो से उठाया और उन्हें जीवन दिया।

जो स्वयं को शरीर ही जानता है, वह कब्र में ही है ।

शरीर के ऊपर आत्मा को जानकर ही कोई कब्र से उठता और जीवित होता है ।

मिश्र के किसी प्राचीन आश्रम में किसी साधु की मृत्यु हो गई थी । उसे भूमि-गर्भ में निर्मित विशाल मुर्दा-घर मे उतार दिया गया । लेकिन सौभाग्य से या दुर्भाग्य से वह मरा नही और कुछ समय बाद मृतकों की उस बस्ती में होश में आ गया । उसकी मानसिक पीड़ा और संताप की कल्पना करना भी कठिन है ।

उस दुर्गंध और मृत्यु से भरी अँधेरी वस्ती मे, जहां सैकड़ो मुरदे सड रहे थे, वह जीवित था । बाहर पहुँचने का कोई मार्ग नहीं, आवाज बाहर पहुँच सके, इस तक की कोई सम्भावना नहीं ।

उसने क्या किया होगा ? क्या वह भूखा और प्यासा मर गया ? क्या उसने उस मृत-जीवन का मोह छोड़कर स्वयं को बचाने की कोशिश नही की ? नही, मित्र, **जीवनासक्ति बहुत गहरी और घनी है ।**

वह साधु वही जीने लगा । कीडे-मकोड़े उसका भोजन बन गये । मृत्यु-गृह की दीवारों से गंदा पानी वह पी लेता और कीड़ो पर निर्वाह करता । मुरदो के कपडे निकालकर उसने अपने सोने और पहनने की व्यवस्था कर ली थी । और, वह निरन्तर अपने किसी साथी की मृत्यु के लिये प्रार्थना करता रहता । क्योंकि, किसी के मरने पर ही उस अंध-गृह के द्वार खुल सकते थे ।

वर्ष पर वर्ष बीते । उसे तो समय का भी पता नही पडता था ।

फिर, एक दिन कोई मरा, तो द्वार खुले और लोगो ने उसे जीवित पाया । उसकी दाढी सफेद हो गई थी और जमीन को छूती थी । और जब लोग उसे बाहर निकाल रहे थे, तब वह मुरदों से उतारे गये कपडे और उनके कपडो मे से इकट्ठे किये गये रुपये-पैसे साथ ले लेना नही भूला था !

यह अतीत मे घटी कोई घटना है या कि स्वय हमारे जीवन का प्रतिबिम्ब ?

क्या यह घटना हम सबके जीवन मे अभी और यही नही घट रही है ?

मैं देखता हूँ, तो पाता हूँ कि हममे से प्रत्येक एक दूसरे की मृत्यु के लिए प्रार्थना कर रहा है ।

और, हम सब मुरदों की बस्ती में हूं, जहां से बाहर निकलने के लिये कोई द्वार नही मालूम होता है।

और, हम भी दूसरे मुरदों के कपड़े और पैसे छीन रहे हैं।

और, हमारा निर्वाह भी कीड़े-मकोड़ो पर ही है।

और, यह सब हो रहा है, अंधी जीवनासक्ति—जीवेषणा के कारण।

अंध-जीवेषणा से परिचालित व्यक्ति वास्तविक जीवन को अनुभव नही कर पाता।

उसके धुंध से जो मुक्त होता है, वही जीवन को जानता है।

उससे प्रभावित चेतना कब्र मे ही है, ऐसा ही जानना।

२४१ स्वयं के मन का प्रतिफलन है संसार

फूलो को सारा जगत् फूल है और काँटों को काँटा ।

जो जैसा है, वैसा ही दूसरे उसे प्रतीत होते हैं ।

जो स्वयं में नहीं है, उसे दूसरों में देख पाना कैसे संभव है !

सुदर को खोजने, चाहे हम सारी भूमि पर भटक लें, पर यदि वह स्वय के ही भीतर नही है, तो उसे कही भी पाना असभव है ।

एक अजनबी किसी गाँव मे पहुँचा । उसने उस गाँव के प्रवेश द्वार पर बैठे एक वृद्ध से पूछा 'क्या इस गाँव के लोग अच्छे और मैत्रीपूर्ण है ?'

उस वृद्ध ने सीधे उत्तर देने की बजाय स्वय ही उस अजनबी से प्रश्न किया . 'मित्र, जहाँ से तुम आते हो वहाँ के लोग कैसे है ?'

अजनबी दु.खी और क्रुद्ध होकर बोला 'अत्यन्त क्रूर, दुष्ट और अन्यायी । मेरी सारी विपदाओ के लिये उनके अतिरिक्त और कोई जिम्मेवार नही । लेकिन आप यह क्यो पूछ रहे है ?'

वृद्ध थोड़ी देर चुप रहा और बोला . 'मित्र, मैं दु खी हूँ । यहाँ के लोग भी वैसे ही है । तुम उन्हे भी वैसा ही पाओगे ।'

वह व्यक्ति जा भी नही पाया था कि एक दूसरे राहगीर ने उस वृद्ध से आकर पुन वही बात पूछी कि 'यहाँ के लोग कैसे है ?' वह वृद्ध बोला 'मित्र, क्या पहले तुम बता सकोगे कि जहाँ से आते हो, वहाँ के लोग कैसे है ?'

इस प्रश्न को सुन यह व्यक्ति आनदपूर्ण स्मृतियो से भर गया। और, उसकी आँखे खुशी के आँसुओ से गीली हो गई । वह बोलने लगा 'ओह, बहुत प्रेमपूर्ण और बहुत दयालु, मेरी सारी खुशियों के कारण वे ही थे। काश, मुझे उन्हे कभी भी न छोडना पडता !'

वह वृद्ध बोला . 'मित्र, यहाँ के लोग भी बहुत प्रेमपूर्ण है, इन्हे तुम उनसे कम दयालु नही पाओगे, ये भी उन जैसे ही है । मनुष्य मे बहुत भेद नही है ।'

संसार दर्पण है ।

हम दूसरों में जो देखते हैं, वह अपनी ही प्रतिक्रिया होती है ।

जब तक सभी मे शिव और सुदर के दर्शन न होने लगे, तब तक जानना चाहिये कि स्वयं मे ही कोई खोट शेष रह गई है ।

३०/ विधायक आरोहरण—निषेधात्मक संघर्ष नहीं

जीवन से अंधकार हटाना व्यर्थ है, क्योकि अधकार हटाया ही नही जा सकता।

जो जानते हैं, वे अधकार को नही हटाते, वरन् प्रकाश को जलाते है।

एक प्रचीन लोक कथा है—उस समय की, जबकि मनुष्य के पास प्रकाश नही था, अग्नि नही थी। रात्रि तब बहुत पीडा थी।

लोगों ने अधकार को दूर करने के बहुत उपाय सोचे, पर कोई भी कारगर न हुआ। किसी ने कहा मत्र पढो, तो मत्र पढे गये। और किसी ने सुझाया कि प्रार्थना करो, तो कोरे आकाश की ओर हाथ उठाकर प्रार्थनाएँ की गई। पर अधेरा न गया, सो न गया।

किसी युवा चितक और आविष्कारक ने अतत कहा 'हम अधकार को टोकरियो मे भर-भर कर गड्ढो मे डाल दे। ऐसा करने से धीरे-धीरे अधकार क्षीण होगा और फिर उसका अत भी आ सकता है।'

यह बात बहुत युक्तिपूर्ण मालूम हुई और लोग रात-रात भर अधेरे को टोकरियो में भर-भरकर गड्ढो मे डालने, पर जब देखते तो पाते कि वहाँ तो कुछ भी नही है! ऐसे-ऐसे लोग बहुत ऊब गये। लेकिन, अधकार को फेकने ने एक प्रथा का रूप ले लिया और हर व्यक्ति प्रति रात्रि कम से कम एक टोकरी अधेरा तो जरूर ही फेक आता था।

फिर, एक युवक किसी अप्सरा के प्रेम मे पड गया और उसका विवाह उस अप्सरा से हुआ। पहली ही रात बहू से घर के बूढे सयानो ने अधेरे की एक टोकरी घाटी में फेक आने को कहा। वह अप्सरा यह सुन बहुत हँसने लगी। उसने किसी सफेद पदार्थ की बत्ती बनाई, एक मिट्टी के कटोरे मे घी रखा और फिर किन्ही दो पत्थरों को टकराया। लोग चकित देखते रहे—आग पैदा हो गई थी, दीया जल रहा था और अधेरा दूर हट गया था!

उस दिन से फिर लोगो ने अधेरा फेकना छोड दिया, क्योकि वे दिया जलाना सीख गये थे।

लेकिन जीवन के सम्बन्ध मे हममे से अधिक, अभी भी दिया जलाना नही जानते हैं। और, अधकार से लडने मे ही उस अवसर को गँवा देते हैं, जो कि अलौकिक प्रकाश मे परिणत हो सकता था।

प्रभु को पाने की आकांक्षा से भरो, तो पाप अपने से छूट जाते है।

और, जो पापो से ही लडते रहते हैं, वे उनमे ही और गहरे धँसते जाते है।

जीवन को विधायक आरोहण दो, निषेधात्मक पलायन नहीं।

सफलता का स्वर्ण सूत्र यही है।

२१/ जागकर जीना ही साधुता है, धर्म है

सूर्य की ओर जैसे कोई आँखे बद किये रहे, ऐसे ही हम जीवन की ओर किये हैं।

और तब, हमारे चरणों का गड्ढो मे चले जाना क्या आश्चर्यजनक है ?

आँखें बंद रखने के अतिरिक्त न कोई पाप है, न अपराध है।

आँखें खोलते ही सब अंधकार विलीन हो जाता है।

एक साधु का स्मरण आता है। उसे बहुत यातनाएँ दी गई, किंतु उसकी शांति को नही तोडा जा सका था। और उसे बहुत कष्ट दिये गये थे, लेकिन उसकी आनन्द-मुद्रा नष्ट नही की जा सकी थी। यातनाओ के बीच भी वह प्रसन्न था और गालियों के उत्तर मे उसकी वाणी मिठास से भरी थी।

किसी ने उससे पूछा. 'आप मे इतनी अलौकिक शक्ति कैसे आई ?' वह बोला: 'अलौकिक ? कहाँ ? इसमें तो अलौकिक कुछ भी नही है। बस, मैंने अपनी आंखो का उपयोग करना सीख लिया है। मै आँखे होते अधा नही हूँ।'

लेकिन, आँखो से शांति का और साधुता का और सहनशीलता का क्या सबध !

जिससे ये शब्द कहे गये थे, वह नही समझ सका था। उसे समझाने के लिये साधु ने पुन कहा था:

'मै ऊपर आकाश की ओर देखता हूँ, तो पाता हूँ कि यह पृथ्वी का जीवन अत्यंत क्षणिक और स्वप्नवत् है।

और, स्वप्न मे किया हुआ लोगो का व्यवहार मुझे कैसे छू सकता है ! अपने भीतर देखता हूँ, तो पाता हूँ जो कि अविनश्वर है—उसका तो कोई भी कुछ भी बिगाडने मे समर्थ नहीं है !

'और, जब मै अपने चारो ओर देखता हूँ, तो पाता हूँ कि कितने हृदय है, जो मुझ पर दया करने और प्रेम करते है, जबकि उनके प्रेम को पाने की पात्रता भी मुझमे नही। यह देख मन में अत्यत आनन्द और कृतज्ञता का बोध होता है।

'और, अपने पीछे देखता हूँ तो कितने ही प्राणियो को इतने दुख और पीड़ा मे पाता हूँ कि मेरा हृदय करुणा और प्रेम से भर आता है।

'इस भाँति मै शांत हूँ और कृतज्ञ हूँ, आनन्दित हूँ और प्रेम से भर गया हूँ।

'मैंने अपनी आँखो का उपयोग सीख लिया है। मित्र, मैं अधा नहीं हूँ।'

और, अधा न होना कितनी बडी शक्ति है ?

आँखों का उपयोग ही साधुता है। वही धर्म है।

आँखें सत्य को देखने के लिये हैं।

जागो—और देखो ।

जो आँखें होते हुए भी उन्हें बद किये है वह स्वय ही अपना दुर्भाग्य बोता है।

३२ / अज्ञान में है क्रम—बोध में है अक्रम, छलाँग

सत्य की ओर जीवन क्रांति अत्यंत द्रुत गति से होती है—सत्य की अंतर्दृष्टि भर हो, तो धीरे-धीरे नहीं, किन्तु युगपत परिवर्तन घटित होते हैं।

जहाँ स्वय-बोध नही होता है, वही क्रम है, अन्यथा अक्रम मे और छलाँग मे ही—विद्युत् की चमक की भाँति ही जीवन बदल जाता है।

कुछ लोग एक व्यक्ति को मेरे पास लाए थे। उन्हे कोई दुर्गुण पकड गया था। उनके प्रियजन चाहते थे कि वे उसे छोड दे। उस दुर्गुण के कारण उनका पूरा जीवन ही नष्ट हुआ जा रहा था। मैंने उनसे पूछा कि क्या विचार है? वे बोले 'मैं धीरे-धीरे उसका त्याग कर दूँगा।'

यह सुन मैं हँसने लगा था और उनसे कहा था

'धीरे-धीरे त्याग का कोई अर्थ नहीं होता है। कोई मनुष्य आग मे गिर पड़ा हो, तो क्या वह उसमें से धीरे-धीरे निकलेगा!

और यदि वह कहे कि मै धीरे-धीरे निकलने का प्रयास करूँगा, तो इसका क्या अर्थ होगा? क्या इसका स्पष्ट अर्थ नही होगा कि उसे स्वय आग नही दिखाई पड रही है?'

फिर मैंने उनसे एक कहानी कही।

परमहस रामकृष्ण की सत्सगति से एक धनाढ्य युवक बहुत प्रभावित था। वह एक दिन परमहस के पास एक हजार स्वर्ण मुद्राएँ भेंट करने लाया।

रामकृष्ण ने उनसे कहा 'इस कचरे को गगा को भेंट कर आओ।' अब वह क्या करे?

उसे जाकर वे मुद्राएँ गगा को भेंट करनी पडी। लेकिन वह बहुत देर से वापस लौटा, क्योंकि उसने एक-एक मुद्रा गिन कर गगा मे फेंकी!—एक—दो—तीन—हजार—स्वभावत बहुत देर उसे लगी।

उसकी यह दशा सुनकर रामकृष्ण ने उससे कहा था 'जिस जगह तू एक कदम उठाकर पहुँच सकता था, वहाँ पहुँचने के लिये तूने व्यर्थ ही हजार कदम उठाये।'

सत्य को जानो और अनुभव करो, तो किसी भी बात का त्याग धीरे-धीरे नही करना होता है।

सत्य की अनुभूति ही त्याग बन जाती है।

अज्ञान जहाँ हजार कदमो मे नहीं पहुँचता, ज्ञान वहाँ एक ही कदम मे पहुँच जाता है।

३३ / चाहे सब-कुछ खो जाय---बचाना स्वयं को

जो स्वय को खोकर सब-कुछ भी पा ले, उसने बहुत महँगा सौदा किया है।

वह हीरे देकर ककड़ बीन लाया है।

उससे तो **वही व्यक्ति समझदार है, जो कि सब-कुछ खोकर भी स्वयं को बचा लेता है।**

एक बार किसी धनवान के महल मे आग लग गई थी। उसने अपने सेवको से बड़ी सावधानी से घर का सारा सामान निकलवाया। कुर्सियाँ, मेजे, कपडे की सदूके, खाते बहियाँ, तिजोरियाँ और सब कुछ।

इस बीच आग चारो ओर फैलती गई। घर का मालिक बाहर आकर सब लोगो के साथ खड़ा हो गया था। उसकी आँखो मे आँसू थे और किंकर्तव्यविमूढ़ वह अपने प्यारे भवन को अग्निसात् होते देख रहा था।

अंतत., उसने लोगो से पूछा 'भीतर कुछ रह तो नही गया?' वे बोले: 'नही, फिर भी हम एक बार और जाकर देख आते हैं।'

उन्होने भीतर जाकर देखा, तो मालिक का एकमात्र पुत्र कोठरी मे पडा था। कोठरी करीब-करीब जल गई थी और पुत्र मृत था। वे घबडाकर बाहर आये और छाती पीट-पीटकर रोने चिल्लाने लगे। 'हाय! हम अभागे घर का सामान बचाने मे लग गये, किन्तु सामान के मालिक को बचाया ही नही। सामान तो बचा लिया है, लेकिन मालिक खो दिया है।'

क्या यह घटना हम सबके सबध मे भी सत्य नही है।

और क्या किसी दिन हमे भी यह नही करना पडेगा कि हम अभागे न मालूम क्या-क्या व्यर्थ का सामान बचाते रहे और उस सबके मालिक को---स्वय अपने आप को खो बैठे?

मनुष्य के जीवन मे इससे बडी कोई दुर्घटना नही होती है।

लेकिन, बहुत कम ऐसे भाग्यशाली है, जो इससे बच पाते है।

एक बात स्मरण रखना कि स्वय की सत्ता से ऊपर और कुछ नही है।

जो उसे पा लेता है, वह सब पा लेता है।

और, जो उसे खोता है, उसके कुछ-भी पा लेने का कोई मूल्य नही है।

३४/आनन्द पाने की कला—विधायक दृष्टि

जीवन का आनन्द, जीने वाले की दृष्टि मे होता है। वह आप में है।

वह अपने अनुरूप होता है। क्या आपको मिलता है—उसमें नहीं, कैसे आप उसे लेते है—उसमे ही वह छिपा है।

मैने सुना है : कही एक मदिर बन रहा था। तीन श्रमिक धूप मे बैठे पत्थर तोड़ रहे थे। एक राहगीर ने उनसे पूछा : 'क्या कर रहे है?'

एक से पूछा। वह बोला : **'पत्थर तोड़ रहा हूँ।'**

उसने गलत नही कहा था। लेकिन, उसके कहने मे दुख था और बोझ था।

निश्चय ही पत्थर तोडना आनन्द की बात कैसे हो सकती है?

वह उत्तर देकर फिर उदास मन से पत्थर तोडने लगा था।

दूसरे से पूछा। वह बोला : **'आजीविका कमा रहा हूँ।'**

उसने जो कहा, वह भी ठीक था। वह दुःखी नही दिख रहा था, लेकिन आनन्द का कोई भाव उसकी आँखो मे नही था।

निश्चय ही आजीविका कमाना भी एक काम ही है, आनन्द वह कैसे हो सकता है?

तीसरे से पूछा। वह गीत गा रहा था। उसने गीत को बीच मे रोककर कहा : **'मै मंदिर बना रहा हूँ।'** उसकी आँखो मे चमक थी और हृदय मे गीत था।

निश्चय ही मदिर बनाना कितना सौभाग्यपूर्ण है!

और, सृजन से बडा आनन्द और क्या है?

मै सोचता हूँ कि जीवन के प्रति भी **ये तीन उत्तर** हो सकते है। आप कौन-सा चुनते है, वह आप पर ही निर्भर है।

और, जो आप चुनेंगे, उस पर ही आपके जीवन का अर्थ और अभिप्राय निर्भर होगा।

जीवन तो वही है, पर दृष्टि भिन्न होने से सब-कुछ बदल जाता है।

दृष्टि भिन्न होने से फूल काँटे हो जाते है और काँटे फूल बन जाते हैं।

आनन्द तो हर जगह है, पर उसे अनुभव कर सके, ऐसा हृदय सबके पास नही है।

और, कभी किसी को आनन्द नही मिला है, जब तक कि उसने उसे अनुभव करने के लिये अपने हृदय को तैयार न कर लिया हो।

विशेष स्थिति और स्थान नही—वरन् जो आनन्द अनुभव करने की भावदशा को पा लेता है, उसे हर स्थिति में और स्थान मे ही आनन्द मिल जाता है।

३५ / महत्त्वाकांक्षा है मूल—अशांति का

इस जगत् में कौन है, जो शाति नहीं चाहता ?

लेकिन, न लोगों को इसका बोध है और न वे उन बातो को चाहते है, जिनसे कि शाति मिलती है ।

अंतरात्मा शाति चाहती है, लेकिन हम जो करते है, उससे अशाति ही बढती है।

स्मरण रहे कि महत्वाकाक्षा अशांति का मूल है ।

जिसे शाति चाहनी है, उसे महत्वाकांक्षा छोड़ देनी पड़ती है ।

शांति का प्रारंभ वहाँ से है, जहाँ कि महत्वाकांक्षा का अंत होता है ।

जोशुआ लीबमेन ने लिखा है मैं जब युवा था, तब जीवन मे क्या पाना है, इसके बहुत से स्वप्न देखता था । फिर एक दिन मैंने सूची बनाई थी—उन सब तत्त्वों को पाने की, जिन्हे पाकर व्यक्ति धन्यता को उपलब्ध होता है । स्वास्थ्य, सौदर्य, सुयश, शक्ति, संपत्ति—उस सूची मे सब-कुछ था ।

उस सूची को लेकर मैं एक बुजुर्ग के पास गया और उनसे कहा कि क्या इन बातों में जीवन की सब उपलब्धियाँ नही आ जाती है ?

मेरी बातो को सुन और मेरी सूची को देख उन वृद्ध की आँखो के पास हँसी इकट्ठी होने लगी थी और वे बोले थे 'मेरे बेटे, बडी सुदर सूची है । अत्यत विचार से तुमने इसे बनाया है । लेकिन, सबसे महत्त्वपूर्ण बात तुम छोड ही गये हो, जिसके अभाव मे कि शेष सब व्यर्थ हो जाता है । किन्तु, उस तत्त्व के दर्शन, मात्र विचार से नही, अनुभव मे ही होते है ।'

मैंने पूछा : 'वह क्या है ?' क्योकि मेरी दृष्टि में तो सब-कुछ ही आ गया था ।

उन वृद्ध ने उत्तर मे मेरी पूरी सूची को बडी निर्ममता से काट दिया और उन सारे शब्दो की जगह उन्होने छोटे-से तीन शब्द लिखे 'मन की शाति–(Peace of Mind) ।

शाति को चाहो ।

लेकिन, ध्यान रहे कि उसे तुम अपने ही भीतर नही पाते हो, तो कही भी नही पा सकोगे ।

शाति कोई बाह्य वस्तु नही है । वह तो स्वय का ही ऐसा निर्माण है कि हर परिस्थिति मे भीतर सगीत बना रहे ।

अंतस् के संगीतपूर्ण हो उठने का नाम ही शांति है ।

वह कोई रिक्त और खाली मन.स्थिति नही है, किन्तु अत्यत विधायक सगीत की भावदशा है ।

३६ जीवन आन्तरिक और निजी है--अहस्तान्तरणीय है

जगत् में जो भी मूल्यवान है--जीवन, प्रेम या सौंदर्य--उसका आविष्कार स्वय ही करना होता है।

उसे किसी और से पाने का कोई उपाय नही है।

एक अद्‌भुत वार्ता का मुझे स्मरण आता है।

दूसरे महायुद्ध के समय मरे हुए, मरणासन्न और चोट खाये हुए सैनिको से भरी हुई किमी खाई मे दो मित्रो के बीच एक बातचीत हुई थी।

उनमे से एक बिल्कुल मृत्यु के द्वार पर है। वह जानता है कि वह मरने को है। उसकी जीवनज्योति थोडी ही देर की और है।

वह पास ही पडे अपने मित्र से कहता है : 'मित्र, सुनो। मैं जानता हूँ कि तुम्हारा जीवन शुभ नही रहा। बहुत अपराध तुम्हारे नाम है और बहुत अक्षम्य भूले। उनकी काली छाया सदा ही तुम्हें घेरे रही है। उसके कारण बहुत दुख और अपमान तुमने सहा है। लेकिन मेरे विरोध मे अधिकारियो के पास कुछ भी नही है। मेरी किताबो मे कोई दाग नही। तुम मेरा नाम ले लो--मेरा सैनिक नम्बर और मेरा जीवन भी। और मैं तुम्हारा नाम और तुम्हारा जीवन ले लेता हूँ।

'मैं तो मर रहा हूँ। मैं तुम्हारे अपराधो और कालिमाओ को अपने साथ लेता जाऊँ! देर न करो। यह मेरी किताब रही--कृपा करो और अपनी किताब मुझे दे दो।'

प्रेम मे कहे हुए ये शब्द कितने मधुर है! काश, ऐसा हो सकता?

लेकिन, क्या जीवन बदला जा सकता है?

नाम और किताबे बदली जा सकती है, क्योकि वे जीवन नही है।

जीवन को किसी मे कैसे बदला जायेगा?

न तो कोई किसी के स्थान पर जी सकता है, और न किसी की जगह मर ही सकता है।

वस्तुत कोई भी, किसी भी भाँति उस बिंदु पर नहीं हो सकता है, जहाँ कि किसी और का होना है।

किसी के पाप या पुण्य लेने का कोई भी मार्ग नहीं है। यह असभव है।

जीवन ऐसी वस्तु नही है, जिसे कि किसी से अदल-बदल किया जा सके। उसे तो स्वय से और स्वय ही निर्मित करना होता है।

उस दूसरे सैनिक ने अपने विदा होते मित्र को हृदय से लगाकर कहा था : 'क्षमा करो। तुम्हारा नाम और किताब लेकर भी मैं तो मैं ही बना रहूँगा। मनुष्य के समक्ष मैं अन्य दीखूँगा, लेकिन असली सवाल तो परमात्मा के सामने है। उन आँखों के समक्ष तो बदली हुई किताबें धोखा नहीं दे सकेंगी ?'

अपना जीवन प्रत्येक को वैसे ही निर्मित करना होता है, जैसे कि कोई नृत्य सीखता है।

वह चित्रों या मूर्तियों के बनाने जैसा नहीं है।

उसमें तो बनानेवाला और बननेवाला एक ही है।

इसलिए, **अपना जीवन न तो किसी को भेंट किया जा सकता है और न किसी से उधार ही पाया जा सकता है।**

जीवन अहस्तांतरणीय है।

३७/पहचानो—भीतर के अनाम और उपाधिशून्य पुरुष को

काश ! हम शात हो सक और भीतर गूँजते शब्दो और ध्वनियो को शून्य कर सकें तो जीवन म जो सर्वाधिक आधारभूत ह उसक दशन हो सकत है।

सत्य के दर्शन के लिये शांति के चक्षु चाहिए।

उन चक्षुओ को पाये बिना जो सत्य को खोजता है वह व्यथ ही खोजता है।

साधु रिन्झाई एक दिन प्रवचन दे रहे थ। उन्होने कहा प्रत्येक के भीतर प्रत्यक शरीर मे वह मनुष्य छिपा हुआ हे जिसका कि कोइ विशषण नही हैं—न पद हे न नाम है। **वह उपाधिशून्य पुरुष ही शरीर की खिडकियो मे से बाहर आता है।** जिन्होन यह बात आज तक नही देखी है वे देख देखे। मित्रो ! देखो ! Look ! Look !)।

यह आह्वान सुनकर एक भिक्षु बाहर आया और बोला यह सत्य पुरुष कौन ह ? यह उपाधि शन्य सत्ता कौन है ?

रिन्झाई नीचे उतरा और भिक्षुओ की भीड का पारकर उस भिक्षु क पास पहुचा। सब चकित थ कि उत्तर न दकर वह यह क्या कर रहा है !

उसने जाकर जोर स उस भिक्षु का पकडकर कहा फिर से बोलो। भिक्षु घबरा गया और कुछ बोल नही सका।

रिन्झाई ने कहा भीतर देखो। वहाँ जा है—मौन और शात—वही वह सत्य पुरुष है। वही हो तुम। उसे ही पहचानो। जो उसे पहचान लेता है उसके लिये सत्य के समस्त द्वार खुल जाते है।

पूर्णिमा की रात्रि म किसी झील का दखो।

यदि झील निस्तरग हो तो चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब बनता है। ऐसा ही मन है। उसमे तरग न हो, तो सत्य प्रतिफलित होता है।

जिसका मन तरगो से ढँका है वह अपने ही हाथो सत्य से स्वय को दूर किये है। सत्य तो सदा निकट है लकिन अपनी अशाति क कारण हम सदा उसके निकट नही होते है।

३८/ तथाकथित जीवन—एक स्वप्न से ज्यादा नही

जीवन झाग का बुलबुला है। जो उसे ऐसा नही देखते वे उसी मे डूबते और नष्ट हो जाते है।

किन्तु जो **इस सत्य के प्रति सजग** होते हैं वे एक एसे जीवन को पा लेने का प्रारम करते है जिसका कि कोई अत नही होता है।

एक फकीर कैद कर लिया गया था। उसने कुछ एसी सत्य बाते कही थी जो कि बादशाह को अप्रिय थी।

उस फकीर के किसी मित्र ने कैदखाने म जाकर उससे कहा यह मुसीबत क्यो व्यथ मोल ले ली ? न कही होती वे बात तो क्या बिगडता था ?

फकीर ने कहा सत्य ही अब मुझसे बोला जाता है। असत्य का खयाल ही नही उठता। जब म जीवन म परमात्मा का अभास मिला तब से सत्य के अतिरिक्त कोई विकल्प ही नही रहा है। फिर यह कैद तो घडी भर की है।

किसी ने जाकर बादशाह से यह बात कह दी। बादशाह ने कहा उस पागल फकीर को कह देना कि कैद घडी भर की नही जीवन भर की है।

जब यह फकीर ने सुना तो खब हसने लगा और बोला प्यारे बादशाह का कहना कि उस पागल फकीर न पूछा है कि **क्या जिदगी घडी भर से ज्यादा की है ?"**

सत्य जीवन जिन्हे पाना हो उन्हे **इस तथा कथित जीवन** की सत्यता को जानना ही होगा।

और जो इसकी सत्यता को जानने का प्रयास करते है वे पाते है कि **एक स्वप्न से ज्यादा न इसकी सत्ता है और न अथ है।**

३९ / बाहर नहीं—भीतर खोजो—प्रभु के प्रकाश को

मैं क्या सिखाता हूँ ?

एक ही बात सिखाता हूँ।

अपनी अतरात्मा के अलावा और कुछ अनुकरणीय नही है।

वहाँ जो आलोक का आविष्कार कर लेता है, उसका समग्र जीवन आलोक हो जाता है।

फिर उसे बाहर के मिट्टी के दीयो का सहारा नही लेना होता और दूसरो की धुआँ छोड़ती मशालो के पीछे नही चलना पडता है।

इनसे मुक्त होकर ही कोई व्यक्ति **आत्मा के गौरव और गरिमा को उपलब्ध** होता है।

एक विद्वान था। उसने बहुत अध्ययन किया था। वेदज्ञ था और था सब शास्त्रो मे पारगत। अपनी बौद्धिक उपलब्धियो का उसे बहुत अहकार था। वह सदा ही एक जलती मशाल अपने हाथ मे लेकर चलता था। रात्रि हो या कि दिन यह मशाल उसके साथ ही होती थी। और जब कोई इसका कारण उससे पूछता, तो वह कहता था "ससार अधकारपूर्ण है। मै इस मशाल को लेकर चलता हूँ, ताकि कुछ प्रकाश तो मनुष्यो को मिल सके। उनके अधकारपूर्ण जीवन-पथ पर इस मशाल के अति-रिक्त और कौन-सा प्रकाश है ?"

एक दिन एक भिक्षु ने उसके ये शब्द सुने। सुनकर वह भिक्षु हँसने लगा और बोला . "मेरे मित्र, अगर तुम्हारी आँखे सर्वव्यापी प्रकाश-सूर्य के प्रति अधी है, तो ससार को अधकारपूर्ण तो मत कहो। फिर, **तुम्हारी यह मशाल सूर्य के गौरव में और क्या जोड़ सकेगी ? और, जो सूर्य को नही देख पारहे है, क्या तुम सोचते हो कि वे तुम्हारी इस क्षुद्र मशाल को देख सकेगे ?'**

यह कथा बुद्ध ने कभी कही थी। यह कथा मै पुन कहना चाहता हूँ।

इस समय तो एक नही, बहुत-सी मशाले आकाश मे जली हुई दिखाई पड रही है। राह-राह पर मशाले हैं—धर्मों की, सप्रदायो की, विचारो की, वादो की।

इन सब का दावा यही है कि उनके अतिरिक्त और कोई प्रकाश ही नही है और वे सभी मनुष्य के अधकारपूर्ण पथ को आलोकित करने को उत्सुक है।

लेकिन, सत्य यह है कि उसके धुएँ मे मनुष्य की आँखे सूर्य को भी नही देख पा रही है।

इन सब मशालो को बुझा देना है, ताकि सूर्य के दर्शन हो सके।

मनुष्य निर्मित कोई मशाल नहीं, प्रभु निर्मित सूर्य ही वास्तविक और एकमात्र प्रकाश है।

आँखें भीतर ले जाओ और उस सूर्य को देखो, जो कि स्वय मे है।

उस प्रकाश के अतिरिक्त और कोई प्रकाश नही है।

उसकी ही शरण जाओ।

उसमे भिन्न और अन्य शरण जो पकड़ता है, वह स्वय मे बैठे परमात्मा का अपमान करता है।

४९ / सुख-दु:ख की उत्तेजना से शाश्वत आनन्द की ओर

आनन्द क्या है ?

सुख तो एक उत्तेजना है, और दु ख भी ।

प्रीतिकर उत्तेजना को सुख और अप्रीतिकर को हम दु:ख कहते हैं ।

आनन्द दोनो मे भिन्न है ।

वह उत्तेजना की नही, शाति की अवस्था है ।

सुख को जो चाहता है, वह निरतर दु.ख मे पडता है ।

क्योकि, एक उत्तेजना के बाद दूसरी विरोधी उत्तेजना वैसे ही अपरिहार्य है, जैसे कि पहाडो के साथ घाटियाँ होती हैं, और दिनो के साथ रात्रियाँ ।

किन्तु, जो सुख और दु ख दोनो को छोडने के लिये तत्पर हो जाता है, वह उस आनन्द को उपलब्ध होता है, जो कि शाश्वत है ।

ह्वाग-पो एक कहानी कहता था ।

किसी व्यक्ति का एकमात्र पुत्र गुम गया था । उसे गुमे बहुत दिन—बहुत बरस बीत गये । सब खोजबीन करके वह व्यक्ति भी थक गया । फिर धीरे-धीरे वह इस घटना को ही भूल गया ।

तब अनेक वर्षो बाद उसके द्वार एक अजनबी आया और उसने कहा "मै आपका पुत्र हूँ । आप पहचाने नही ?"

पिता प्रसन्न हुआ । उसने घर लौटे पुत्र की खुशी मे मित्रो को प्रीति भोज दिया, उत्सव मनाया और उसका स्वागत किया । लेकिन, वह तो अपने पुत्र को भूल ही गया था और इसलिये इस दावेदार को पहचान नही सका । पर थोडे दिन बाद ही पहचानना भी हो ही गया ! वह व्यक्ति उसका पुत्र नही था और समय पाकर वह उसकी सारी सपत्ति लेकर भाग गया था ।

फिर, ह्वाग-पो कहता था कि ऐसे ही दावेदार प्रत्येक के घर आते है, लेकिन बहुत कम लोग है, जो कि उन्हे पहचानते हो । अधिक लोग तो उनके धोखे मे आ जाते है और अपनी जीवन सपत्ति खो बैठते है ।

आत्मा से उत्पन्न होने वाले वास्तविक आनन्द की बजाय, **जो वस्तुओ और विषयों से निकलने वाले सुख को ही आनन्द समझ लेते हैं, वे जीवन की अमूल्य संपदा को अपने ही हाथो नष्ट कर देते हैं ।**

स्मरण रखना कि जो कुछ भी बाहर से मिलता है, वह छीन भी लिया जावेगा। उसे अपना समझना भूल है।

स्वयं का तो वही है, जो कि स्वयं में ही उत्पन्न होता है।

वही वास्तविक संपदा है।

उसे न खोजकर जो कुछ और खोजते है, वे चाहे कुछ भी पा ले, तत, वे पायेगे कि उन्होने कुछ भी नही पाया है और उल्टे उसे पाने की दौड़ मे वे स्वयं के जीवन को ही गँवा बैठे है।

४१. / योग है—जीवन में ही मरना सीख लेना

प्रभु को पाना है, तो मरना सीखो।

क्या देखते नहीं कि बीज जब मरता है, तो वृक्ष बन जाता है !

एक बाउल फकीर से कोई मिलने गया था।

वह गीत गाने मे मग्न था। उसकी आँखे इस जगत् को देखती हुई मालूम नहीं होती थी और न प्रतीत होता था कि उसकी आत्मा भी यहाँ उपस्थित है।

वह कही और ही था—किसी और लोक मे, किसी और रूप मे।

फिर, जब उसका गीत थमा और उसकी चेतना वापस लौटती हुई मालूम हुई, तो आगन्तुक ने पूछा· "आपका क्या विश्वास है कि **मोक्ष कैसे पाया जा सकता है ?"**

वह सुमधुर वाणी का फकीर बोला "केवल मृत्यु के द्वारा।"

कल किसी से यह कहता था। वे पूछने लगे "मृत्यु के द्वारा !" मैंने कहा: "हाँ, **जीवन में ही मृत्यु के द्वारा। जो शेष सबके प्रति मर जाता है, केवल वही प्रभु के प्रति जागता और जीवित होता है।"**

जीवन में ही मरना सीख लेने से बड़ी और कोई कला नहीं है।

उस कला को ही मैं योग कहता हूँ।

जो ऐसे जीता है कि जैसे मृत है, वह जीवन मे जो भी सारभूत है, उसे अवश्य ही जान लेता है।

४२ / वास्तविक प्रौढ़ता है—पार्थिव जीवन से ऊपर उठना

मृण्मय घरों को ही बनाने मे जीवन को व्यय मत करो।

उस चिन्मय घर का भी स्मरण करो, जिसे कि पीछे छोड आये हो और जहाँ कि आगे भी जाना है।

उसका स्मरण आते ही ये घर फिर घर नही रह जाते हैं।

नदी की रेत मे कुछ बच्चे खेल रहे थे। उन्होने रेत के मकान बनाये थे। और प्रत्येक कह रहा था. 'यह मेरा है, और सबसे श्रेष्ठ है। इसे कोई दूसरा नही पा सकता है।'

ऐसे वे खेलते रहे। और जब किसी ने किसी के महल को तोड दिया, तो लड़े—झगड़े भी।

फिर, साँझ का अँधेरा घिर आया। उन्हे घर लौटने का स्मरण हुआ। महल जहाँ थे, वही पडे रह गये, और फिर उनमे उनका 'मेरा' और 'तेरा' भी न रहा।

यह प्रबोध प्रसग कही पढा था। मैने कहा 'यह छोटा-सा प्रसंग कितना सत्य है।

और, क्या हम सब भी रेत पर महल बनाते बच्चो की भाँति ही नही है?

और, कितने कम ऐसे लोग है, जिन्हे सूर्य को डूबते देखकर घर लौटने का स्मरण आता हो!

और, क्या अधिक लोग रेत के घरों मे 'मेरा' 'तेरा' का भाव लिये ही जगत् से विदा नही हो जाते है!'

स्मरण रखना कि प्रौढ़ता का उम्र से कोई सबध नहीं।

मिट्टी के घरो में जिसकी आस्था न रही, उसे ही मै प्रौढ़ कहता हूँ।

शेष सब तो रेत के घरो मे खेलते बच्चे ही है!

४३ / प्रार्थना साधन नहीं—स्वयं में ही वह आनन्द है

प्रेम और प्रार्थना का आनन्द उनमे ही है—उनके बाहर नही।

जो उनके द्वारा उनसे कुछ और चाहता है, उसे उनके रहस्य का पता नही है।

प्रेम में डूब जाना ही प्रेम का फल है।

और, प्रार्थना की तन्मयता का आनन्द ही उसका पुरस्कार।

ईश्वर का एक प्रेमी अनेक वर्षों से साधना मे था।

एक रात्रि उसने स्वप्न मे सुना कि कोई कह रहा है. "प्रभु तेरे भाग्य मे नही, व्यर्थ श्रम और प्रतीक्षा मत कर।" उसने इस स्वप्नकी बात अपने मित्रों से कही। किंतु, न तो उसके चेहरे पर उदासी आई और न उसकी साधना ही बद हुई।

उसके मित्रो ने उससे कहा · "जब तूने सुन लिया कि तेरे भाग्य का दरवाजा बद है, तो अब क्यो व्यर्थ प्रार्थनाओं मे लगा हुआ है ?"

उस प्रेमी ने कहा. "व्यर्थ प्रार्थनाएँ ? पागलो ? **प्रार्थना तो स्वयं में ही आनन्द है, कुछ या किसी के मिलने या न मिलने से उसका क्या सबंध ?** और, जब कोई अभिलाषा रखने वाला एक दरवाजे से निराश हो जाता है, तो दूसरा दरवाजा खटखटाता है, लेकिन मेरे लिये दूसरा दरवाजा कहाँ है ? प्रभु के अतिरिक्त कोई दरवाजा नही है।"

उस रात्रि उसने देखा था कि प्रभु उसे आलिंगन मे लिये हुए हैं।

प्रभु के अतिरिक्त जिनकी कोई चाह नही है, असभव है कि वे उसे न पा ले।

सब चाहों का एक चाह बन जाना ही मनुष्य के भीतर उस शक्ति को पैदा करता है, जो कि उसे स्वयं की अतिक्रमण कर भागवत् चैतन्य में प्रवेश के लिये समर्थ बनाती है।

४४ / आन्तरिक परमात्म-सम्पत्ति पाने में ही एकमात्र धन्यता

बहुत सपत्तियाँ खोजी, किन्तु अत मे उन्हें विपत्ति पाया।

फिर, स्वय मे सपत्ति के लिये खोज की।

जो पाया वही परमात्मा था।

तब जाना कि परमात्मा को खो देना ही विपत्ति और उसे पा लेना ही संपत्ति है।

किसी व्यक्ति ने एक बादशाह की बहुत तारीफ की। उसकी स्तुति मे सुदर सुदर गीत गाये। वह उससे कुछ पाने का आकाक्षी था। बादशाह उसकी प्रशंसाओं से हँसता रहा और फिर उसने उसे बहुत-सी अशर्फियाँ भेट की।

उस व्यक्ति ने जब अशर्फियो पर निगाह डाली, तो उसकी आँखे किसी अलौकिक चमक से भर गई और उसने आकाश की ओर देखा। उन अशर्फियो पर कुछ लिखा था। उसने अशर्फियाँ फेक दी और वह नाचने लगा। उसका हाल कुछ का कुछ हो गया। उन अशर्फियो को पढकर उसमे न मालूम कैसी क्राति हो गई थी।

बहुत वर्षों बाद किसी ने उससे पूछा कि उन अशर्फियो पर क्या लिखा था? वह बोला. उन पर लिखा था 'परमेश्वर काफी है'।

सच ही परमेश्वर काफी है।

जो जानते है, वे सब इस सत्य की गवाही देते है।

मैने क्या देखा ?

जिनके पास सब कुछ है, उन्हे दरिद्र देखा और ऐसे सपत्तिशाली भी देखे, जिनके पास कि कुछ भी नही है।

फिर, इस सूत्र के दर्शन हुए कि जिन्हे सब पाना है, उन्हे सब छोड देना होगा। जो सब छोडने का साहस करते है, वे स्वय प्रभु को पाने के अधिकारी हो जाते है।

४५ / जीवन को जान लेने पर— मृत्यु का भय तिरोहित

जीवन क्या है ?

जीवन के रहस्य मे प्रवेश करो।

मात्र जी लेने से जीवन चुक जाता है, लेकिन ज्ञात नही होता।

अपनी शक्तियो को उसे जी लेने मे ही नही, ज्ञात करने मे लगाओ।

और, जो उसे ज्ञात कर लेता है, वही वस्तुत. उसे ठीक से जी भी पाता है।

रात्रि कुछ अपरिचित व्यक्ति आये थे। उनकी कुछ समस्याएँ थी। मैंने उनकी उलझन पूछी।

उनमें से एक व्यक्ति बोला . 'मृत्यु क्या है ?"

मै थोडा हैरान हुआ। क्योकि. समस्या जीवन की होती है। मृत्यु की कैसी समस्या !

फिर, मैने उन्हे कन्फ्यूसियस से ची-लु की हुई बातचीत बताई।

ची-लु ने कन्फ्यूसियस से मृत्यु के पूर्व पूछा था कि मृतात्माओ का आदर और सेवा कैसे करनी चाहिए ? कन्फ्यूसियस ने कहा "जब तुम जीवित मनुष्यो की ही सेवा नही कर सकते, तो मृतात्माओ की क्या कर सकोगे !"

तब ची-लु ने पूछा "क्या मैं मृत्यु के स्वरूप के सबध मे कुछ पूछ सकता हूँ ?"

वृद्ध—और मृत्यु के द्वार पर खडा—कन्फ्यूसियस बोला :"जब जीवन को ही अभी तुम नही जानते, तब मृत्यु को कैसे जान सकते हो ?"

यह उत्तर बहुत अर्थपूर्ण है।

जीवन का जो जान लेते हैं, वे ही केवल मृत्यु को जान पाते है।

जीवन का रहस्य जिन्हें ज्ञात हो जाता है, उन्हें मृत्यु भी रहस्य नही रह जाती है, क्योकि वह तो उसी सिक्के का दूसरा पहलू है।

मृत्यु से भयभीत केवल वे ही होते है, जो कि जीवन को नही जानते।

मृत्यु का भय जिसका चला गया हो, जानना कि वह जीवन से परिचित हुआ है।

मृत्यु के समय ही ज्ञात होता है कि व्यक्ति जीवन को जानता था या नही।

स्वय मे देखना वहाँ यदि मृत्यु भय हो, तो समझना कि अभी जीवन को जानना शेष है।

४६ / स्वीकार—समता— और समाधि

अत करण जब अक्षुब्ध होता है और दृष्टि सम्यक्, तब जिस भाव का उदय होता है, वही भाव ?रमसत्ता मे प्रवेश का द्वार है।

जिनका अत.करण क्षुब्ध है और दृष्टि असम्यक्, वे उतनी ही मात्रा मे सत्य से दूर होते है।

श्री **अरविन्द** का वचन है **'सम होना याने अनंत हो जाना।'**

असम होना ही क्षुद्र होना है।

और, सम होते ही विराट् को पाने का अधिकार **मिल** जाता है।

"धर्म क्या है?" मैने कहा "सम भाव।"

जिन्होने पूछा था, वे कुछ समझे नही। फिर, उन्होने पूछा।

मैंने उनसे कहा. **"चित्त की एक ऐसी दशा भी है, जहाँ कुछ भी अशांत नहीं करता है।** अधकार और प्रकाश वहां समान दीखते है। और, सुख-दु खो का उस भाव मे समान स्वागत और स्वीकार होता है। वह चित्त की धर्म-दशा है। ऐसी अवस्था मे ही आनन्द उत्पन्न होता है।

"जहाँ विरोधी भी विपरीत परिणाम नही लाते और जहाँ कोई भी विकल्प चुना नहीं जाता है, उस निर्विकल्प दशा मे ही स्वय मे प्रवेश होता है।"

फिर, वे जाने को ही थे और मुझे कुछ स्मरण आया।

मैंने कहा "सुनो, एक साधु हुआ है जोशु। उससे किसी ने पूछा था कि क्या धर्म को प्रगट करनेवाला कोई एक शब्द है। जोशु ने कहा 'पूछोगे तो दो हो जावेगे।"

किंतु, पूछनेवाला नही माना तो जोशु बोला था "वह शब्द है: हाँ (YES)।"

जीवन की समस्तता और समग्रता के प्रति स्वीकार को पा लेने का नाम ही सम-भाव है।

वही है समाधि।

उसमें ही 'मैं' मिटता और विश्व-सत्ता से मिलन होता है।

जिसके चित्त मे 'नही' है—इनकार है, वह समग्र से एक नही हो पाता है।

सर्व के प्रति 'हाँ' अनुभव करना जीवन की सबसे बड़ी क्राति है।

क्योकि, वह 'स्व' को मिटाती है और 'सत्य' से मिलाती है।

मैने सबसे बडी सपत्ति 'सम-भाव' को जाना है।

समत्व अद्वितीय है।

आनन्द और अमृत केवल उसे ही मिलते है, जो उस दशा को स्वयं मे आविष्कृत कर लेता है।

वह स्वय के परमात्मा होने की घोपणा है।

कृष्ण का आश्वासन है 'समता ही परमेश्वर है।'

४७/ दुष्पूर वासना से मुक्त— स्वयं में प्रतिष्ठा

स्मरण रखना की **इस जगत् में स्वयं के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं पाया जा सकता है।**

जो उसे खोजते है, वे पा लेते है और जो उससे अन्यथा कुछ भी खोजते है, वे अततः असफलता और विषाद को ही उपलब्ध होते है।

वासनाओं के पीछे दौडनेवाले लोग नष्ट हुए है—नष्ट होते है—और नष्ट होगे। वह मार्ग आत्म-विनाश का है।

"एक छोटे से घुटने के बल चलने वाले बालक ने एक दिन सूर्य के प्रकाश में खेलते हुए अपनी परछाई देखी। उसे वह अद्‌भुत वस्तु जान पड़ी। क्योकि, वह हिलता तो उसकी वह छाया भी हिलने लगती थी। वह उस छाया का सिर पकडने का उद्योग करने लगा। किन्तु, जैसे ही वह छाया के सिर को पकडने बढता कि वह दूर हो जाता। वह कितना ही बढता, लेकिन पाता कि सिर तो सदा उतना ही दूर है। उसके और छाया के बीच फासला कम नही होता था। थककर और असफलता से वह रोने लगा।

"द्वार पर भिक्षा को आये हुए एक भिक्षु ने यह देखा। उसने पास आकर बालक का हाथ उसके सिर पर रख दिया। बालक रोता था, हँसने लगा; इस भाँति छाया का मस्तक भी उसने पकड लिया था।"

कल मैने यह कथा कही और कहा "आत्मा पर हाथ रखना जरूरी है। जो छाया को पकडने मे लगते है, वे उसे कभी नही पकड पाते।

"काया छाया है। उसके पीछे जो चलता है, वह एक दिन असफलता से रोता है।"

वासना दुष्पूर है।

उसका कितना ही अनुगमन करो, वह उतनी ही दुष्पूर बनी रहती है।

उससे मुक्ति तो तब होती है, जब कोई पीछे देखता है और **स्वयं में प्रतिष्ठित हो जाता है।**

४८ / सहनशीलता और धैर्य का कवच

सहनशीलता जिसमें नहीं है, वह शीघ्र ही टूट जाता है।

और, जिसने सहनशीलता के कवच को ओढ लिया है, जीवन मे प्रतिक्षण पड़ती चोटे उसे और भी मजबूत कर जाती है।

मैंने सुना है .

एक व्यक्ति किसी लुहार के द्वार से गुजरता था। उसने निहाई पर पड़ते हथौडे की चोटो को सुना और भीतर झाँककर देखा।

उसने देखा कि एक कोने मे बहुत से हथौडे टूटकर और विकृत होकर पडे हुए है। समय और उपयोग ने ही उनकी ऐसी गति की होगी।

उस व्यक्ति ने लुहार से पूछा "इतने हथौडो को इस दशा तक पहुँचाने के लिये कितनी निहाइयो की आपको जरूरत पडी ?"

वह लुहार हँसने लगा और बोला "केवल एक ही **मित्र, एक ही निहाई सैकड़ो हथौड़ों को तोड़ डालती है, क्योकि हथौड़े चोट करते हं, और निहाई सहती है।"**

यह सत्य है कि अत मे वही जीतता है, जो चोटो को धैर्य से स्वीकार करता है।

निहाई पर पडती हथौडो की चोटो की भाँति ही उसके जीवन मे भी चोटो की आवाज तो बहुत सुनी जाती है, लेकिन **अंततः हथौड़े टूट जाते हं और निहाई सुरक्षित बनी रहती है।**

४९/ स्वयं के भीतर करो--शांति और सम्पदा की तलाश

आनन्द चाहते हो ?

आलोक चाहते हो ?

तो सबसे पहले अतस् मे खोजो।

जो वहाँ खोजता है, उसे फिर और कही नही खोजना पड़ता।

और जो वहाँ नही खोजता, वह खोजता ही रहता है, किन्तु पाता नही है।

एक भिखारी था। वह जीवन भर एक ही स्थान पर बैठकर भीख माँगता रहा। धनवान बनने की उसकी बडी प्रबल इच्छा थी। उसने बहुत भीख माँगी। पर, भीख माँग-माँग कर क्या कभी कोई धनवान हुआ है ? वह भिखारी था, सो भिखारी ही रहा। वह जिया भी भिखारी और मरा भी भिखारी। जब वह मरा तो उसके कफन के लायक भी पूरे पैसे उसके पास नही थे !

उसके मर जाने पर उसका झोपडा तोड दिया गया और वह जमीन साफ की गई। उस सफाई मे ज्ञात हुआ कि वह जिस जगह पर बैठकर जीवन भर भीख मागता रहा, उसके ठीक नीचे भारी खजाना गडा हुआ था !

मै प्रत्येक से पूछना चाहता हूँ कि क्या हम भी ऐसे ही भिखारी नही है ?

क्या प्रत्येक के भीतर ही वह खजाना नही छिपा हुआ है, जिसे कि हम जीवन भर बाहर खोजते रहते है !

इसके पूर्व कि शाति और सपदा की तलाश मे तुम्हारी यात्रा प्रारभ हो, सबसे पहले उस जगह को खोद लेना, जहाँ कि तुम खडे हो।

क्योकि, बडे से बडे खोजियो और यात्रियो ने सारी दुनिया मे भटककर अतत. खजाना वही पाया है।

५० / धारणाओं और आग्रहों से खण्डित दृष्टियाँ

धर्म एक है। सत्य एक है।

और, जो उसे खंडो में देखते हो, वे जाने कि जरूर उनकी आँखें ही खंडित है !

एक सुनार था। वह राम का भक्त था। भक्ति उसकी ऐसी अंधी थी कि राम के अतिरिक्त उसका किसी और मूर्ति पर कोई आदर नही था। वह कभी किसी मूर्ति के दर्शन नही करता था। दूसरी मूर्तियो के सामने वह अपनी आँख बन्द कर लेता था !

एक दिन देश के राजा ने कृष्ण की मूर्ति के लिये जडाऊ मुकुट बनाने की उसे आज्ञा दी। वह सुनार बहुत धर्म-सकट मे पडा। कृष्ण की मूर्ति के सिर का वह नाप कैसे ले ! किसी भाँति आँखो पर पट्टी बाँधकर वह मूर्ति का नाप लेने गया।

लेकिन, कृष्ण की मूर्ति का नाप लेते समय उसे ऐसा अनुभव हुआ कि वह अपनी जानी-पहचानी राम की मूर्ति को ही टटोल रहा है !

उसके आश्चर्य का ठिकाना न रहा और उसने एक ही झटके मे अपनी आँखों की पट्टी निकालकर फेंक दी।

इस घटना मे उसकी बाहर की ही नही, भीतर की पट्टी भी दूर फिंक गई। उसकी आँखे पहली बार खुली और उसने देखा कि सभी रूप प्रभु के ही है, क्योकि उसका तो कोई भी रूप नही है !

जिसका कोई रूप हो, उसके सभी रूप नही हो सकते है।

जिसका कोई रूप नहीं है, वही सभी रूपो में हो सकता है।

यह कहानी सत्य है या नहीं, मुझे ज्ञात नही।

लेकिन, मदिरो और मस्जिदो और गिरजों मे जाते लोगों की आँखो पर मै ऐसी ही पट्टियाँ बँधी रोज देखता हूँ।

मैं उनसे इस कहानी को कहता हूँ।

वे मुझसे पूछते है कि क्या यह कहानी सत्य है ?

मै कहता हूँ कि अपनी आँखों पर बँधी पट्टियो को टटोले, तो आधी कहानी तो सत्य मालूम होगी ही। और यदि, उन पट्टियो को निकाल भी फेके, तो शेष आधी कहानी भी सत्य हो जाती है !

आँखे खोलो और देखो।

अपने ही हाथो मे हम सत्य की पूर्णता से स्वय को वचित किये बैठे है।

सब धारणाएँ और आग्रहो को छोड़कर जो देखता है, वह सब जगह एक ही सत्ता और एक ही परमात्मा को अनुभव करता है।

५१/संयम है—संसार में अलिप्त और साक्षी बने रहना

संयम क्या है ?

अस्पर्श-भाव संयम है।

तटस्थ साक्षी-भाव संयम है।

संसार में 'होना' और साथ ही 'नहीं-होना' संयम है।

एक बार कन्फ्यूसियस से येन-हुई ने पूछा : "मै मन पर सयम रखने के लिये क्या करूँ ?"

कन्फ्यूसियस ने कहा , 'तुम कानो से नही सुनते, मन से सुनते हो, मन से भी नही सुनते, अपनी आत्मा से सुनते हो। प्रयत्न करो कि केवल कानो से ही सुनोगे। मन को कानो की सहायता करने की जरूरत न पडे। तब **शून्यावस्था में आत्मा बाह्य प्रभावों को अक्रियता से ही ग्रहण करेगी।** ऐसी समाधि मे ही सयम है। और ऐसी अवस्था मे ही भगवान् का निवास है।"

येन-हुई ने कहा "किंतु इस भाँति तो मेरा व्यक्तित्व ही खो जायेगा ? क्या शून्यावस्था का यही अर्थ है ?"

कन्फ्यूसियस बोला "हाँ, यही अर्थ है। सामने, उस झरोखे को देखते हो ? इसके होने से यह कक्ष प्राकृतिक दृश्यो के सौदर्य से जगमगा उठा है। परन्तु, प्राकृतिक दृश्य बाहर ही है। चाहो तो अपने कानो और अपनी आँखो का प्रयोग अपने अतर को इसी भाँति ज्योतित करने के लिये कर सकते हो।

"इंद्रियो को झरोखा बनाओ। और स्वयं शून्य हो रहो। इस अवस्था को ही मै सयम कहता हूँ।"

मै आँखो से देखता हूँ, कानो से सुनता हूँ, पैरो से चलता हूँ। और फिर भी 'मै' सबसे दूर हूँ, वहाँ न देखना है, न सुनना है, न चलना है।

इंद्रियो से जो भी आता हो, उससे अलिप्त और तटस्थ खड़े होना सीखो।

इस भाँति अस्पर्श में प्रतिष्ठित हो जाने का नाम ही संयम है।

और, संयम सत्य का द्वार है।

५२/ हृदय पवित्र हो, तो सब ओर पावनता ही है

प्रकाश को अधकार का पता नही । प्रकाश तो सिर्फ प्रकाश को ही जानता है ।

जिनके हृदय प्रकाश और पवित्रता मे आपूरित हो जाते है, उन्हे फिर कोई हृदय अंधकारपूर्ण और अपवित्र नही दिखाई पडता ।

जब तक हमे अपवित्रता दिखाई पडे, जानना चाहिए कि उसके कुछ न कुछ अव-शेष जरूर हमारे भीतर है । वह स्वय के अपवित्र होने की सूचना से ज्यादा और कुछ नही है ।

सुबह की प्रार्थना के स्वर मदिर मे गूँज रहे थे । आचार्य रामानुज भी प्रभु की प्रार्थना मे तल्लीन से दीखते मदिर की परिक्रमा करते थे ।

और तभी अकस्मात् एक चांडाल स्त्री उनके सम्मुख आ गई । उसे देख उनके पैर ठिठक गये, प्रार्थना की तथाकथित तल्लीनता खडित हो गई और मुँह से अत्यत परुष शब्द फूट पडे "चाडालिन मार्ग से हट, मेरे मार्ग को अपवित्र न कर ।"

प्रार्थना करती उनकी आँखो मे क्रोध आ गया—और प्रभु की स्तुति मे लगे ओठो पर विष ।

किंतु वह चाडाल स्त्री हटी नही, अपितु, हाथ जोडकर पूछने लगी . "स्वामी, मै किस ओर सरकूँ ? प्रभु की पवित्रता तो चारो ही ओर है ! मै अपनी अपवित्रता किस ओर ले जाऊँ ?"

मानो कोई परदा रामानुज की आँखो के सामने मे हट गया हो, ऐसे उन्होने उस स्त्री को देखा । उसके वे थोडे से शब्द उनकी सारी कठोरता वहा ले गये । श्रद्धावनत हो उन्होने कहा था . "माँ, क्षमा करो । **भीतर का मल ही हमे बाहर दिखाई पड़ता है । जो भीतर की पवित्रता से आँखों को आंज लेता है, उसे चहुँ ओर पावनता ही दिखाई देती है ।**"

प्रभु को देखने का कोई और मार्ग मै नही जानता हूँ ।

एक ही मार्ग है और वह है—सब ओर पवित्रता का अनुभव होना ।

जो सबमें पावन को देखने लगता है, वही—और केवल वही—प्रभु के द्वार की कुंजी को उपलब्ध कर पाता है ।

५३./एकमात्र बचाने जैसा—स्वयं की आत्मा और उसका संगीत

एक युवक ने मुझसे पूछा : "जीवन में बचाने जैसा क्या है ?"

मैंने कहा "स्वय की आत्मा और उसका संगीत।

जो उसे बचा लेता है, वह सब बचा लेता है और जो उसे खोता है, वह सब खो देता है।"

एक वृद्ध सगीतज्ञ किसी वन से निकलता था। उसके पास बहुत-सी स्वर्ण मुद्राएँ थी। मार्ग में कुछ डाकुओ ने उसे पकड लिया। उन्होने उसका सारा धन तो छीन ही लिया, साथ ही उसका वाद्य भी।

वायलिन पर उस सगीतज्ञ की कुशलता अप्रतिम थी। उस वाद्य का उस-सा अधिकारी और कोई नही था।

उस वृद्ध ने बडी विनय से वायलिन लौटा देने की प्रार्थना की। वे डाकू चकित हुए। वह वृद्ध अपनी सपत्ति न माँगकर अति साधारण मूल्य का वाद्य ही क्यो माँग रहा था ! फिर, उन्होने भी यह सोचा कि यह वाद्य हमारे किसी काम का नही—और उसे वापस लौटा दिया। उसे पाकर वह सगीतज्ञ आनन्द मे नाचने लगा और उसने वही बैठकर उसे बजाना प्रारम्भ कर दिया।

अमावस की रात्रि। निर्जन वन। उस अधकारपूर्ण निस्तब्ध निशा मे उसके वायलिन से उठे स्वर अलौकिक हो गूँजने लगे।

शुरू मे तो वे डाकू अनमनेपन से सुनते रहे, फिर उनकी आँखो मे नरमी आ गई। उनका चित्त भी सगीत की रसधार मे बहने लगा। अत मे भाव-विभोर हो वे उस वृद्ध सगीतज्ञ के चरणो मे गिर पडे। उन्होने उसका सारा धन लौटा दिया। यही नही, वे उसे और भी बहुत-सा धन भेटकर वन के बाहर तक सुरक्षित पहुँचा गये थे !

ऐसी ही स्थिति मे क्या प्रत्येक मनुष्य नही है ?

और क्या प्रत्येक व्यक्ति प्रतिदिन ही लूटा नही जा रहा है ?

पर, कितने है, जो कि सपत्ति नही, वरन् स्वय के सगीत को और उस सगीत के वाद्य को बचा लेने का विचार करते हो ?

सब छोडो और स्वयं के सगीत को बचाओ—और उस वाद्य को जिससे कि जीवन-सगीत पैदा होता है।

जिन्हे थोडी भी समझ है, वे यही करते है।

और, जो यह नही कर पाते है, उनके विश्व भर की सपत्ति को पा लेने का भी कोई मूल्य नही है।

स्मरण रहे कि स्वय के सगीत से बड़ी और कोई सपत्ति नही है।

मैं जब किसी को मरते देखता हूँ, तो अनुभव होता है कि उसमें मैं ही मर गया हूँ।

निश्चय ही प्रत्येक मृत्यु मेरी ही मृत्यु की खबर है।

और जो ऐसा नहीं देख पाते हैं, वे मुझे चक्षुहीन मालूम होते हैं।

मैंने तो जगत् की प्रत्येक घटना से शिक्षा पाई है।

और, जितना ही उनमे गहरे देखने मे मैं समर्थ हुआ, उतना ही वैराग्य सहज ही फलीभूत हुआ है।

जगत् में आँखें खुली हों, तो ज्ञान मिलता है। और, ज्ञान आये, तो वैराग्य आता है।

मैंने सुना है कि एक अत्यन्त वृद्ध भिखारी किसी राह के किनारे बैठा भिक्षा माँगता था। उसके शरीर मे लकवा लग गया था, आँखें अंधी हो गई थी और सारा शरीर कोढग्रस्त हो गया था। उसके पास से निकलते लोग आँखें दूसरी ओर कर लेते थे।

एक युवक रोज उस मार्ग से निकलता था और सोचता था कि इस जरा-जीर्ण मरणासन्न वृद्ध भिखारी को भी जीवन का मोह कैसा है! यह किस लिये भीख माँगता हुआ भी जीना चाहता है?

अतत, एक दिन उसने उस वृद्ध से यह बात पूछ ही ली। उसके प्रश्न को सुन वह भिखारी हँसने लगा और बोला. "बेटे! यह प्रश्न मेरे मन को भी सताया करता है। परमात्मा से पूछता हूँ, तो भी कोई उत्तर नही आता है। फिर सोचता हूँ कि शायद वह मुझे इसलिए जिलाये रखना चाहता है, कि ताकि दूसरे मनुष्य यह जान सके कि मैं भी कभी उनके जैसा ही था और वे भी कभी मेरे ही जैसे हो सकते हैं।

"इस संसार में सौंदर्य का, स्वास्थ्य का, यौवन का—सभी का अहम्, एक प्रवंचना से ज्यादा नहीं है।"

शरीर एक बदलता हुआ प्रवाह है और मन भी।

उन्हें जो किनारे समझ लेते हैं, वे डूब जाते हैं।

न शरीर तट है, न मन तट है।

उन दोनों के पीछे जो चैतन्य है, साक्षी है, द्रष्टा है, वह अपरिवर्तित, नित्य, बोध मात्र ही वास्तविक तट है।

जो अपनी नौका को उस तट से बाँधते हैं, वे अमृत को उपलब्ध होते है।

५५/ अ-चाह है द्वार—आनन्द का, मुक्ति का

इच्छाएँ दरिद्र बनाती हैं।

उनसे ही याचना और दासता पैदा होती है।

फिर, उनका कोई अत भी नही है।

जितना उन्हे छोड़ो, उतना ही व्यक्ति स्वतंत्र और समृद्ध होता है।

जो कुछ भी नहीं चाहता है, उसकी स्वतंत्रता अनंत हो जाती है।

एक सन्यासी के पास कुछ रुपये थे। उसने कहा कि वह उन्हे किसी गरीब आदमी को देना चाहता है।

बहुत से गरीब लोगो ने उसे घेर लिया और उससे रुपयों की याचना की। उसने कहा "मै अभी देता हूँ—मै अभी उसे रुपये दिये देता हूँ, जो कि इस जगत् मे सबसे ज्यादा गरीब और भूखा है।" यह कहकर सन्यासी भीतर गया।

तभी, लोगो ने देखा कि राजा की सवारी आ रही है। वे उसे देखने मे लग गये। इसी बीच सन्यासी बाहर आया और उसने अपने रुपये हाथी पर बैठे राजा के पास फेंक दिये।

राजा ने चकित हो, इसका कारण पूछा। फिर लोगो ने भी कहा कि आप तो कहते थे कि मै रुपये सर्वाधिक दरिद्र व्यक्ति को दूँगा!

संन्यासी ने हँसते हुए कहा "मैने उन्हे दरिद्रतम व्यक्ति को ही दिया है। **वह जो धन की भूख में सबसे आगे है, क्या वही सर्वाधिक गरीब नहीं है!"**

दुःख क्या है?

कुछ पाने की और कुछ होने की आकांक्षा ही दुःख है।

दुःख कोई नही चाहता, लेकिन आकाक्षाएँ हो तो दुःख बना ही रहेगा।

किन्तु, जो आकाक्षाओ के स्वरूप को समझ लेता है, वह दुःख से नही, आकाक्षाओ से ही मुक्ति खोजता है।

और, तब दुःख के आगमन का द्वार अपने आप ही बद हो जाता है।

५६ निंदाकरना—एक मानसिक बीमारी

जो जीवन में कुछ भी नहीं कर पाते, वे अकसर आलोचक बन जाते हैं।

जीवन-पथ पर चलने मे जो असमर्थ हैं, वे राह के किनारे खड़े हो, दूसरो पर पत्थर ही फेंकने लगते हैं।

यह चित्त की बहुत रुग्ण दशा है।

जब किसी की निंदा का विचार मन मे उठे, तो जानना कि तुम भी उसी ज्वर से ग्रस्त हो रहे हो।

स्वस्थ व्यक्ति कभी किसी की निंदा में संलग्न नही होता। और, जब दूसरे उसकी निंदा करते हो, तो उन पर दया ही अनुभव करता है।

शरीर से बीमार ही नही, मन से बीमार भी दया के पात्र है।

नार्मन विन्सेंट पील ने लिखा है मेरे एक मित्र है, सुविख्यात समाज-सेवी। कई बार उनकी बहुत निदापूर्ण आलोचनाएँ होती हैं। लेकिन उन्हे कभी किसी ने विचलित होते नही देखा। जब मैंने उनसे इसका रहस्य पूछा, तो वे मुझसे बोले, "जरा अपनी एक अगुलि मुझे दिखाइये।" मैंने चनिक-भाव से अगुलि दिखाई। तब वे कहन लगे : "देखते हैं! आपकी एक अगुलि मेरी ओर है, तो शेष तीन अगुलियां आपकी अपनी ही ओर हैं।

"वस्तुत, जब भी कोई किसी की ओर एक अगुली उठाता है, तो उसके बिना जाने उसकी ही तीन अगुलियाँ स्वय उसकी ही ओर उठ जाती हैं। अत जब कोई मेरी ओर दुर्लक्ष्य करता है, तो मेरा हृदय उसके प्रति दया से भर जाता है। क्योंकि, वह मुझसे कही बहुत अधिक अपने आप पर प्रहार करता है।"

जब कोई तुम्हारी आलोचना करे, तो अफलातूँ का एक अमृत वचन जरूर याद कर लेना।

उसने यह सुनकर कि कुछ लोग उसे बहुत बुरा आदमी बताते है, कहा था "मैं इस भाँति जीने का ध्यान रखूँगा कि उनके कहने पर कोई विश्वास ही नही लायेगा।"

५७/ प्रेम को विचारो मत—उसे जीओ

प्रेम को पाओ।

उससे ऊपर और कुछ भी नही है।

तिरुवल्लुवर ने कहा है : "प्रेम जीवन का प्राण है।

"जिसमे प्रेम नही, वह सिर्फ मास से घिरी हुई हड्डियो का ढेर है।"

प्रेम क्या है?—कल कोई पूछता था।

मैंने कहा . "प्रेम जो कुछ भी हो, उसे शब्दो मे कहने का उपाय नही, **क्योकि वह कोई विचार नहीं है। प्रेम तो अनुभूति है।** उसमे डूबा जा सकता है, लेकिन उसे जाना नही जा सकता।

प्रेम पर विचार मत करो। विचार को छोड़ो, और फिर जगत् को देखो। उस शाति मे जो अनुभव मे आयेगा, वही प्रेम है।"

और, फिर मैंने एक कहानी भी कही।

किसी बाउल फकीर से एक पडित ने पूछा . "क्या आपको शास्त्रो मे वर्गीकृत प्रेम के विभिन्न रूपो का ज्ञान है?"

वह फकीर बोला "मुझ जैसा अज्ञानी शास्त्रो की बात क्या जाने?"

इसे सुनकर उस पडित ने शास्त्रो मे वर्गीकृत प्रेम की विस्तृत चर्चा की और फिर उस फकीर का तत्सबध मे मन्तव्य जानना चाहा।

वह फकीर खूब हँसने लगा और बोला "आपकी बाते सुनकर मुझे लगता था कि जैसे कोई सुनार फूलो की बगिया मे घुस आया है और वह फूलों का सौदर्य स्वर्ण को परखने वाले पत्थर पर घिस-घिस कर, कर रहा है!"

प्रेम को विचारो मत—जिओ।

लेकिन, स्मरण रहे कि उसे जीने मे स्वय को खोना पड़ता है।

अहकार अप्रेम है और **जो जितना अहंकार को छोड़ देता है, वह उतना ही प्रेम से भर जाता है।**

अहकार जब पूर्ण रूप से शून्य होता है, तो प्रेम पूर्ण हो जाता है।

ऐसा प्रेम ही परमात्मा के द्वार की सीढी है।

५८/ सुख-दुःख से पृथक्—स्वयं का अस्तित्व

फूल आते हैं, चले जाते हैं। काँटे आते हैं, चले जाते हैं।

सुख आते हैं, चले जाते हैं। **दुःख आते हैं, चले जाते हैं।**

जो जगत् के इस 'चले जाने' के शाश्वत नियम को जान लेता है, उसका जीवन क्रमशः बंधनों से मुक्त होने लगता है।

एक अंधकारपूर्ण रात्रि मे कोई व्यक्ति नदी तट से कूद कर आत्महत्या करने का विचार कर रहा था।

वर्षा के दिन थे और नदी पूर पर थी। आकाश मे बादल घिरे थे और बीच-बीच मे बिजली चमक रही थी।

वह व्यक्ति उस देश का बहुत धनी व्यक्ति था, लेकिन अचानक घाटा लगा और उसकी सारी सपत्ति चली गई। उसका भाग्य-सूर्य डूब गया था और उसके समक्ष अंधकार के अतिरिक्त और कोई भविष्य नही था। ऐसी स्थिति मे उसने स्वय को समाप्त करने का ही विचार कर लिया था। किन्तु, वह नदी में कूदने के लिये जैसे ही चट्टान के किनारे पर पहुँचने को हुआ कि किन्ही दो वृद्ध, लेकिन मजबूत हाथो ने उसे रोक लिया।

तभी बिजली चमकी और उसने देखा कि एक वृद्ध साधु उसे पकडे हुए है। उस वृद्ध ने उससे इस निराशा का कारण पूछा और सारी कथा सुनकर वह हँसने लगा और बोला . "तो तुम यह स्वीकार करते हो कि पहले तुम सुखी थे ?" वह बोला "हाँ, मेरा भाग्य-सूर्य पूरे प्रकाश से चमक रहा था, और अब सिवाय अंधकार के मेरे जीवन मे और कुछ भी शेष नही है।"

वह वृद्ध फिर हँसने लगा और बोला "दिन के बाद रात्रि है और रात्रि के बाद दिन। जब दिन नही टिकता, तो रात्रि भी कैसे टिकेगी ? परिवर्तन प्रकृति का नियम है।

"ठीक से सुन लो **जब अच्छे दिन नहीं रहे, तो बुरे दिन भी नहीं रहेंगे। और जो व्यक्ति इस सत्य को जान लेता है, वह सुख में सुखी नहीं होता और दुःख में दुःखी नहीं।** उसका जीवन उस अडिग चट्टान की भाँति हो जाता है, जो वर्षा और धूप मे समान ही बनी रहती है।"

सुख और दुःख को जो समभाव से ले, समझना कि उसने स्वय को जान लिया।

क्योंकि, **स्वयं की पृथकता का बोध,** ही समभाव को जन्म देता है।

सुख और दुःख आते और चले जाते हैं।

५९ / मैं-शून्य सृजन की दिव्यता

'मैं' को भूल जाना और मैं' से ऊपर उठ जाना सबसे बड़ी कला है।

उसके अतिक्रमण से ही मनुष्य मनुष्यता को पारकर दिव्यता से संबंधित होता है।

जो 'मैं' से घिरे रहते हैं, वे भगवान् को नही जान पाते।

उस घेरे के अतिरिक्त मनुष्यता और भगवत्ता के बीच और कोई बाधा नही है।

च्वाग-त्सु किसी बढ़ई की एक कथा कहता था।

वह बढ़ई अलौकिक रूप से कुशल था। उसके द्वारा निर्मित वस्तुएँ इतनी सुदर होती थी कि लोग कहते थे कि जैसे उन्हें किसी मनुष्य ने नही, वरन् देवताओ ने बनाया हो।

किसी राजा ने उस बढई से पूछा . "तुम्हारी कला मे यह क्या माया है ?" वह बढई बोला "कोई माया-वाया नही है, महाराज ! बहुत छोटी-सी बात है। वह यही कि **जो भी मै बनाता हूँ, उसे बनाते समय अपने 'मै' को मिटा देता हूँ।**

"सबसे पहले मै अपनी प्राण-शक्ति के अपव्यय को रोकता हूँ और चित्त को पूर्णत शात बनाता हूँ। तीन दिन इस स्थिति मे रहने पर, उस वस्तु से होने वाले मुनाफे, कमाई आदि की बात मुझे भूल जाती है। फिर, पाँच दिनो बाद उससे मिलने वाले यश का भी ख्याल नही रहता। सात दिन और, और मुझे अपनी काया का भी विस्मरण हो जाता है।

"इस भाँति मेरा सारा कौशल एकाग्र हो जाता है—सभी बाह्य-अतर विघ्न और विकल्प तिरोहित हो जाते हैं। फिर, जो मै बनाता हूँ, उससे परे और कुछ भी नही रहता। 'मै' भी नही रहता हूँ। और इसीलिये वे कृतियाँ दिव्य प्रतीत होने लगती है।"

जीवन मे दिव्यता को उतारने का रहस्य सूत्र यही है।

'मै' को विसर्जित कर दो—और चित्त को किसी सृजन में तल्लीन।

अपनी सृष्टि मे ऐसे **मिट जाओ** और **एक हो जाओ** जैसा कि परमात्मा उसकी सृष्टि मे हो गया है।

कल कोई पूछता था "मै क्या करूँ ?"

मैने कहा "क्या करते हो, यह उतना महत्त्वपूर्ण नही है, जितना कि कैसे करते हो।

स्वयं को खोकर कुछ करो; तो उससे ही स्वयं को पाने का मार्ग मिल जाता है।"

६० / आत्मा की अथाह गहराई और अगोचर ऊँचाई

सुबह कुछ लोग आये थे। उनसे मैंने कहा : सदा स्वयं के भीतर गहरे से गहरे होने का प्रयास करते रहो।

भीतर इतनी गहराई हो कि कोई तुम्हारी थाह न ले सके।

अथाह जिसकी गहराई है, अगोचर उसकी ऊँचाई हो जाती है।

जीवन उतना ही ऊँचा हो जाता है, जितना कि गहरा हो।

जो ऊँचे तो होना चाहते है, लेकिन गहरे नही, उनकी असफलता सुनिश्चित है।

गहराई के आधार पर ही ऊँचाई के शिखर सम्हलते है। दूसरा और कोई रास्ता नही।

गहराई असली चीज है। उसे जो पा लेते है, उन्हे ऊँचाई तो अनायास ही मिल जाती है।

सागर से जो स्वय मे गहरे होते है, हिम शिखरो की ऊँचाई केवल उन्हे ही मिलती है।

गहराई मूल्य है, जो कि ऊँचा होने के लिये चुकाना ही पड़ता है।

और, स्मरण रहे कि जीवन मे बिना मूल्य कुछ भी नही मिलता है।

स्वामी राम कहा करते थे कि उन्होने जापान मे तीन-तीन सौ, चार-चार सौ साल के चीड और देवदार के दरख्त देखे, जो केवल एक बालिश्त के बराबर ऊँचे थे!

आप खयाल करे कि देवदार के दरख्त कितने बडे होते है? मगर कौन और कैसे इन दरख्तो को बढने से रोक देता है?

जब उन्होने दर्याफ्त किया, तो लोगो ने कहा कि हम इन दरख्तो के पत्तो और टहनियो को बिलकुल नही छेडते, बल्कि जडे काटते रहते है, नीचे बढने नही देते। और **कायदा है कि जब जडे नीचे नहीं जायेंगी, तो वृक्ष ऊपर नहीं बढेगा।**

ऊपर और नीचे दोनो मे इस किस्म का सम्बन्ध है कि जो लोग ऊपर बढना चाहते है, उन्हे अपनी आत्मा मे जडे बढानी चाहिये। भीतर जडे नही बढेगी तो, जीवन कभी ऊपर नही उठ सकता है।

लेकिन, हम इस सूत्र को भूल गये है और परिणाम मे जो जीवन देवदार के दरख्तो की भांति ऊँचे हो सकते थे, व जमीन मे बालिश्त भर भी ऊँचे नही उठ पाते है।

मनुष्य छोटे से छोटा होता जा रहा है, क्योकि स्वय की आत्मा में उसकी जड़ें कम से कम गहरी होती जाती है।

शरीर सतह है, आत्मा गहराई।

शरीर में ही जो जीता है, वह गहरा कैसे हो सकेगा ?

शरीर मे नहीं, आत्मा मे जिओ।

सदैव यह स्मरण रखो कि मैं जो भी सोचूं, बोलूं और करूँ, उसकी परिसमाप्ति शरीर पर ही न हो जावे।

शरीर से भिन्न और ऊपर भी कुछ सोचो, बोलो और करो। उससे ही क्रमश आत्मा मे जड़े मिलती है और गहराई उपलब्ध होती है।

६१/साधना से पाओ--फिर, सेवा से बाँटो

जैसा आप चाहते हो कि दूसरे हों, वैसा अपने को बनावें।

उनको बदलने के लिये स्वय को बदलना आवश्यक है।

अपनी बदल से ही आप उनकी बदलाहट का प्रारम्भ कर सकते हैं।

जो स्वय जाग्रत है, वही केवल अन्य का सहायक हो सकता है।

जो स्वय निद्रित है, वह दूसरो को कैसे जगायेगा ?

और, जिसके स्वय के ही भीतर अधकार का आवास है, वह दूसरो के लिए प्रकाश का स्रोत कैसे हो सकता है ?

निश्चय ही दूसरों की सेवा स्वयं के सृजन से ही प्रारम्भ हो सकती है।

पर-हित स्व-हित के पूर्व असभव है।

कोई मुझसे पूछता था "मै सेवा करना चाहता हूँ।" मैने उससे कहा "पहले साधना, तब सेवा। क्योकि, जो तुम्हारे पास नही है, उसे तुम किसी को कैसे दोगे ? **साधना से पाओ, तभी सेवा से बाँटना हो सकता है।"**

सेवा की इच्छा बहुतो मे है, पर स्व-साधना और आत्म-सृजन की नही।

यह तो वैसा ही है कि जैसे कोई बीज तो न बोना चाहे, लेकिन फलें काटना चाहे ! ऐसे कुछ भी नही हो सकता है।

किसी अत्यन्त दुर्बल और दरिद्र व्यक्ति ने बुद्ध से कहा था "प्रभु, मैं मानवता की सहायता के लिये क्या करूँ ?"

वह दुर्बल शरीर से नही, आत्मा से था और दरिद्र धन मे नही, जीवन से था।

बुद्ध ने एक क्षण प्रगाढ करुणा से उसे देखा। उनकी आखे दयार्द्र हो आई। वे बोले केवल एक छोटा-सा वचन पर कितनी करुणा और कितना अर्थ उसमे था !

उन्होने कहा "क्या कर सकोगे तुम ?"

'क्या कर सकोगे तुम ?' इसे हम अपने मन मे दुहरावे। वह हममे ही कहा गया है।

सब करना स्वय पर और स्वय से ही प्रारम्भ होता है। स्वय के पूर्व जो दूसरो के लिए कुछ करना चाहता है, वह मूल मे है।

स्वय को जो निर्मित कर लेता है, स्वय जो स्वस्थ हो जाता है उसका वैसा होना ही सेवा है।

सेवा की नही जाती। वह तो प्रेम से सहज ही निकलती है।

और प्रेम ?

प्रेम आनन्द का स्फुरण है।

अतस् मे जो आनन्द है, आचरण मे वही प्रेम बन जाता है।

६२ / विधायक सक्रियता और सृजनात्मकता

किसी भी मनुष्य ने जो ऊँचाइयाँ और गहराइयाँ छुई है, वह कोई भी अन्य मनुष्य कभी भी छू सकता है।

और, जो ऊँचाइयाँ और गहराइयाँ अभी तक किसी ने भी स्पर्श नही की है, उन्हें अभी भी मनुष्य स्पर्श कर सकेगा।

स्मरण रखना कि **मनुष्य की शक्ति अनन्त है।**

मै प्रत्येक मनुष्य के भीतर अनन्त शक्तियो को प्रसुप्त देखता हूँ।

इन शक्तियो मे से अधिक शक्तियाँ सोई ही रह जाती है, और हमारे जीवन के सोने की अतिम रात्रि आ जाती है।

हम उन शक्तियो और सम्भावनाओ को जगा ही नही पाते।

इस भाँति हममे से अधिकतम लोग आधे ही जीते है या उससे भी कम।

हमारी बहुत-सी शारीरिक और मानसिक शक्तियाँ अधूरी ही उपयोग मे आती हैं और आध्यात्मिक शक्तियाँ तो उपयोग मे आती ही नही।

हम स्वयं में छिपे शक्ति-स्रोतो को न्यूनतम ही खोदते हे और यही हमारी आंतरिक दरिद्रता का मूल कारण है।

विलियम जेम्स ने कहा है "मनुष्य की अग्नि बुझी-बुझी जलती है, और इसलिए वह स्वय की आत्मा के ही समक्ष भी अत्यत हीनता मे जीता है।"

इस हीनता से ऊपर उठना अत्यत आवश्यक है।

अपने ही हाथो दीन-हीन बने रहने से बड़ा कोई पाप नही।

भूमि खोदने से जल-स्रोत मिलते है, ऐसे ही जो स्वय मे खोदना सीख जाते है, वे स्वय मे ही छिपे अनन्त-शक्ति-स्रोतो को उपलब्ध होते हैं।

किंतु, उसके लिये सक्रिय और सृजनात्मक होना होगा।

जिसे स्वय की पूर्णता को पाना है, वह—जबकि दूसरे विचार ही करते रहते है—विधायक रूप से सक्रिय हो जाता है।

वह जो थोडा-सा जानता है, उसे ही पहले क्रिया मे परिणत कर लेता है। वह बहुत जानने को नही रुकता।

और, इस भाति एक-एक कुदाली चलाकर वह स्वय मे शक्ति का कुआँ खोद लेता है, जबकि मात्र विचार करने वाले बैठे ही रह जाते हैं।

विधायक सक्रियता और सृजनात्मकता से ही सोई शक्तियाँ जाग्रत होती है और व्यक्ति अधिक से अधिक जीवित बनता है।

जो व्यक्ति अपनी पूर्ण सभावित शक्तियो को सक्रिय कर लेता है, वही पूरे जीवन को अनुभव कर पाता है और वही आत्मा को भी अनुभव करता है।

क्योंकि, **स्वयं की समस्त संभावनाओं के वास्तविक बन जाने पर जो अनुभूति होती है, वही आत्मा है।**

विचार पर ही मत रुके रहो।

चलो—और कुछ करो।

हजार मील चलने के विचार करने से एक कदम चलाना भी ज्यादा मूल्यवान है, क्योकि वह कही पहुँचाता है।

६३/प्रेम अभय है—और अप्रेम भय

प्रेम से बड़ी कोई शक्ति है ?—नही ।

क्योंकि, जो प्रेम को उपलब्ध होता है, वह भय से मुक्त हो जाता है ।

एक युवक अपनी नवबधू के साथ समुद्र-यात्रा पर था ।

सूर्यास्त हुआ, रात्रि का घना अधकार छा गया और फिर एकाएक जोरो का तूफान उठा । यात्री भय से व्याकुल हो उठे । प्राण संकट मे थे और जहाज अब डूबा, तब डूबा होने लगा । किंतु, वह युवक जरा भी नही घबडाया ।

उसकी पत्नी ने आकुलता से पूछा · "तुम निश्चित क्यो बैठे हो ? देखते नही कि जीवन के बचने की समावना क्षीण होती जा रही है ?"

उस युवक ने अपनी म्यान से तलवार निकाली और पत्नी की गर्दन पर रखकर कहा : "क्या तुम्हे डर लगता है ? क्या मेरी तलवार मे तुम्हारे प्राण संकट मे नही हैं ?"

वह युवती हँसने लगी और बोली "तुमने यह कैसा ढोग रचा ?" तुम्हारे हाथ मे तलवार हो तो मुझे भय कैसा !"

वह युवक बोला "परमात्मा के होने की जब से मुझे गध मिली, तब से ऐसा ही भाव मेरा उनके प्रति भी है ।

"प्रेम है, तो भय रह ही नहीं जाता है ।"

प्रेम अभय है । अप्रेम भय है ।

जिसे भय से ऊपर उठना हो, उसे समस्त के प्रति प्रेम से भर जाना होगा ।

चेतना के इस द्वार से प्रेम भीतर आता है, तो उस द्वार से भय बाहर हो जाता है ।

६४/दुष्पूर वासनाएँ और विवेक की आँख

जीवन या तो वासना के पीछे चलता है या विवेक के।

वासना तृप्ति का आश्वासन देती है, लेकिन और अतृप्ति मे ले जाती है।

इसलिए, उसके अनुसरण के लिए आँखो का बद होना आवश्यक है।

जो आँखें खोलकर चलता है, वह विवेक को उपलब्ध हो जाता है।

और, **विवेक की अग्नि में समस्त अतृप्ति वैसे ही वाष्पीभूत हो जाती है, जैसे सूर्य से उत्ताप में ओसकण।**

एक प्राणी—वैज्ञानिक डॉक्टर फेबरे ने किसी जाति विशेष के कीड़ो का उल्लेख किया है, जो कि सदा अपने नेता कीडे का अनुगमन करते है।

उसने एक बार इन कीडो के समूह को एक गोल थाली मे रख दिया। उन्होने चलना शुरू किया और फिर वे चलने गये—एक ही वृत्त मे वे चक्कर काट रहे थे! मार्ग गोल था और इसलिये उसका कोई अंत नही था। किंतु, उन्हे इसका पता नही था और वे उस समय तक चलते ही रहे, जब तक कि थक कर गिर नही गये। उनकी मृत्यु ही केवल उन्हें रोक सकी। इसके पूर्व वे नही जान सके कि जिस मार्ग पर वे है, वह मार्ग नही, चक्कर है।

मार्ग कहीं पहुँचाता है। और, जो चक्कर है, वह केवल घुमाता है, पहुँचाता नहीं।

मै देखता हूँ, तो यही स्थिति मनुष्य की भी पाता हूँ।

वह भी चलता ही जाता है, और विचार नही करता कि जिस मार्ग पर वह है, वह कही कोल्हू का चक्कर ही तो नही!

वासनाओं का पथ गोल है। हम फिर उन्ही-उन्ही वासनाओं पर वापस आ जाते है।

इसलिये ही वासनाएँ दुष्पूर है। उन पर चलकर कोई कभी कही पहुँच नही सकता है।

उस मार्ग से परितृप्ति असभव है।

लेकिन, बहुत कम ऐसे भाग्यशाली है, जो कि मृत्यु के पूर्व इस अज्ञानपूर्ण और व्यर्थ के भ्रमण से जाग पाते है।

मै जिन्हे वासनाओ के मार्ग पर देखता हूँ, उनके लिये मेरे हृदय मे आँसू भर आते है।

क्योंकि, वे ऐसी राह पर है, जो कि कहीं पहुँचाती नहीं।

उसमें वे पायेंगे कि उन्होंने स्वप्न मृगों के पीछे सारा जीवन खो दिया है।

मुहम्मद ने कहा है 'उस आदमी से बढ़कर रास्ते से भटका हुआ कौन है, जो कि वासनाओ के पीछे चलता है।"

६५ / गहन अभीप्सा—विराट् की

किसी ने पूछा . "महत्वाकाक्षा के सबध मे आपके क्या विचार है ?"

मैंने कहा "बहुत कम लोग है, जो कि सचमुच महत्वाकांक्षी होते है।

क्षुद्र से तृप्त हो जाने वाले महत्वाकांक्षी नहीं हे। विराट् को जो चाहते हं, वे ही महत्वाकांक्षी हे।

और फिर, हम सोचते है कि महत्वाकांक्षा अशुभ है। मै कहता हूँ . नही।

वास्तविक महत्वाकाक्षा बुरी नही है, क्योकि वही मनुष्य को प्रभु की ओर ले जाती है।"

बहुत दिन हुए एक युवक से मैंने कहा था :

'जीवन को लक्ष्य दो और हृदय को महत्वाकाक्षा। **ऊँचाइयो के स्वप्नों से स्वयं को भर लो।**

बिना एक-लक्ष्य के तुम व्यक्ति नही बन सकोगे, क्योकि उसके अभाव मे तुम्हारे भीतर एकता पैदा नही होगी और तुम्हारी शक्तियाँ बिखरी रहेगी।

अपनी सारी शक्तियो को इकट्ठाकर जो किसी लक्ष्य के प्रति समर्पित हो जाता है, वही केवल व्यक्तित्व को उपलब्ध होता है।

शेष सारे लोग तो अराजक भीडो की भाँति होते है। उनके अंतस् के स्वर स्वविरोधी होते है और उनके जीवन मे कभी कोई सगीत पैदा नही हो पाता।

और, जो स्वय मे ही सगीत न हो, उसे न शाति मिलती है और न शक्ति।

शाति और शक्ति एक ही सत्य के दो नाम है।'

वह पूछने लगा 'यह कैसे होगा ?'

मैंने कहा 'जमीन मे दबे हुए बीज को देखो। वह किस भाँति सारी शक्तियो को इकट्ठा कर भूमि के ऊपर उठता है ! सूर्य के दर्शन की उसकी प्यास ही उसे अकुर बनाती है। उस प्रबल इच्छा से ही वह स्वय को तोड़ता है और क्षुद्र के बाहर आता है।

वैसे ही बनो। बीज की भाँति ही बनो।

विराट् को पाने को प्यासे हो जाओ और फिर सारी शक्तियों को इकट्ठा कर ऊपर की ओर उठो।

और, फिर एक क्षण आता है कि व्यक्ति स्वय को तोड़कर, स्वय को पा लेता है।'

जीवन के चरम लक्ष्य को, स्वयं को और सत्य को पाने को जो स्मरण रखता है, वह कुछ भी पाकर तृप्ति नहीं होता।

ऐसी अतृप्ति सौभाग्य है, क्योकि उससे गुजरकर ही कोई परम तृप्ति के राज्य को पाता है।

६६ / क्षणभंगुर को नही--लक्ष्य बनाओ विराट् को

जीवन् के तथाकथित सुखो की क्षणभगुरता को देखो।

उसका दर्शन ही, उनसे मुक्ति बन जाता है।

किसी ने कोई लोक कथा सुनाई थी .

एक चिडिया आकाश मे मँडरा रही थी। उसके ऊपर ही दूर पर चमकता हुआ एक शुभ्र बादल था। उसने अपने आप से कहा · 'मै उडूँ और उस शुभ्र बादल को छूऊँ।' ऐसा विचार कर उस बादल को लक्ष्य बनाकर, वह चिडिया अपनी पूरी शक्ति से उस दिशा में उडी।

लेकिन, वह बादल कभी पूर्व मे और कभी पश्चिम मे चला जाता। कभी वह अचानक रुक जाता और चक्कर पर चक्कर खाने लगता। फिर बादल अपने आपको फैलाने लगा। वह चिडिया उस तक पहुँच भी नही पायी कि अचानक वह छँट गया और नजरो से बिल्कुल ओझल हो गया।

उस चिड़िया ने अथक् प्रयत्न से वहाँ पहुँचकर पाया कि वहाँ तो कुछ भी नही है। यह देखकर उस चिड़िया ने स्वय से कहा 'मै भूल मे पड़ गई। क्षणभंगुर बादलो को नही, लक्ष्य तो पर्वत की उन गर्वीली चोटियों को ही बनाना चाहिए जो कि अनादि और अनत है।

कितनी सत्य यह कथा है ! और हममे से कितने है, जो कि क्षणभगुर बादलो को जीवन का लक्ष्य बनाने के भ्रम मे नही पड जाते है ?

लेकिन, देखो निकट ही अनादि और अनत वे पर्वत भी हैं, जिन्हे जीवन का लक्ष्य बनाने मे ही कृतार्थ और धन्यता उपलब्ध होती है।

रवीन्द्रनाथ ने कही कहा है . "वर्षा बिदु ने चमेली के कान मे कहा . 'प्रिय, मुझे सदा अपने हृदय मे रखना।' और, चमेली कुछ कह भी न पाई कि भूमि पर जा पडी।"

६७/जीवन को देखने की विधायक दृष्टि

रात्रि एक वृद्ध व्यक्ति मिलने आये थे। उनका हृदय जीवन के प्रति शिकायतों ही शिकायतों से भरा हुआ था।

मैने उनसे कहा : "जीवन-पथ पर काटे है—यह सच हे। लेकिन, वे केवल उन्हे ही दिखाई पडते है, जो कि फूलो को नही देख पाते।

"फूलो को देखना जिसे आता है, उसके लिये काटे भी फूल बन जाते है।"

फरीदुद्दीन अत्तार अकसर लोगों मे कहा करता था कि 'ऐ खुदा के बदो, जीवन की राह मे अगर कभी कोई कडुवी बात हो जावे, तो उस प्यारे गुलाम को याद करना।'

लोग पूछते 'कौन-सा गुलाम ?' तो वह निम्न कहानी कहा करता.

'किसी राजा ने अपने एक गुलाम को एक अत्यन्त दुर्लभ और सुदर फल दिया था। गुलाम ने उसे चखा और कहा कि फल तो बहुत मीठा हे। ऐसा फल न तो उसने कभी देखा ही था, न चखा ही। राजा का मन भी ललचाया। उसने गुलाम से कहा कि एक टुकडा काट कर मुझे भी दो। लेकिन, गुलाम फल का एक टुकडा देने मे भी सकोच कर रहा है, यह देख राजा का लालच और भी बढा। अतत गुलाम को फल का टुकडा देना ही पडा। पर जब टुकडा राजा ने मुँह मे रखा तो पाया कि फल तो बेहद कडुआ है। उसने विस्मय के साथ गुलाम की ओर देखा !

गुलाम ने उत्तर दिया. 'मेरे मालिक, आपसे मुझे कितने ही कीमती तोहफे मिलते रहे है। उनकी मिठास इस छोटे से फल की कडुवाहट को मिटा देने के लिए क्या काफी नही है ! क्या इस छोटी-सी बात के लिये मै शिकायत करूँ और दुखी होऊँ ? आपके मुझ पर इतने असख्य उपकार है कि इस छोटी-सी कडुवाहट का विचार भी करना कृतघ्नता है।'

जीवन का स्वाद बहुत कुछ उसे हमारे देखने के ढग पर निर्भर करता है।

कोई चाहे तो दो अधकारपूर्ण रातो के बीच एक छोटे से दिन को देख सकता है। और, चाहे तो दो प्रकाशोज्वल दिनो के बीच एक छोटी-सी रात्रि को।

पहली दृष्टि मे वह छोटा-सा दिन भी अधकारपूर्ण हो जाता है और दूसरी दृष्टि मे रात्रि भी रात्रि नही रह जाती है।

६८ / आदर्श, संकल्प और श्रम

आदर्श-विहीन जीवन कैसा है ?—उस नाव की भाँति जिसमे मल्लाह न हो या कि हो तो सोया हो।

और यह स्मरण रहे कि जीवन के सागर पर तूफान सदा ही बने रहते हैं।

आदर्श न हो तो जीवन की नौका को डूबने के सिवाय और कोई विकल्प ही नहीं रह जाता है।

श्वाइत्जर ने कहा है "आदर्शो की ताकत मापी नही जा सकती। पानी की बूँद मे हमे कुछ भी ताकत दिखाई नही देती। लेकिन उसे किसी चट्टान की दरार मे जमकर बर्फ बन जाने दीजिये, तो वह चट्टान को फोड देगी। इस जरा-से परिवर्तन से बूँद को कुछ हो जाता है और उसमे प्रसुप्त शक्ति सक्रिय और परिणामकारी हो उठती है।

"ठीक यही बात आदर्शों की है। जब तक वे विचार रूप बने रहते है, उनकी शक्ति परिणामकारी नही होती। लेकिन जब वे किसी के व्यक्तित्व और आचरण मे ठोस रूप लेते है, तब उनसे विराट् शक्ति और महत् परिणाम उत्पन्न होते हैं।"

आदर्श—अंधकार से प्रकाश की ओर उठने की आकाक्षा है। जो उस आकाक्षा से पीडित नही होता है, वह अधकार मे ही पडा रह जाता है।

लेकिन, आदर्श आकाक्षा मात्र ही नही है। वह संकल्प भी है।

क्योंकि, जिन आकाक्षाओ के पीछे सकल्प का बल नही, उनका होना या न होना बराबर ही है।

और, आदर्श सकल्प मात्र भी नही है, वरन् उसके लिये सतत श्रम भी है।

क्योंकि, सतत श्रम के अभाव मे कोई बीज कभी वृक्ष नही बनता है।

मैंने सुना है 'जिस आदर्श मे व्यवहार का प्रयत्न न हो, वह फिजूल है। और, जो व्यवहार आदर्श प्रेरित न हो वह भयकर है।'

६९ / विचारों का निरीक्षण और स्वयं में प्रवेश

मनुष्य का मन ही सब-कुछ है।

यह **मन सब-कुछ जानना चाहता है।**

लेकिन, ज्ञान केवल उन्हें ही उपलब्ध होता है, जो कि इस मन को ही जान लेते हैं।

कोई पूछता था "सत्य को पाने के लिये मैं क्या करूँ?"

मैंने कहा "स्वय की सत्ता मे प्रवेश करो। और यह होगा चित्त की जड़ को पकडने से। उसके शाखा-पल्लवो की चिंता व्यर्थ है।

"चित्त की जड को पकड़ने के लिये आँखो को बद करो और शाति से विचारो के निरीक्षण मे उतरो। किसी एक विचार को लो और उसके जन्म से मृत्यु तक का निरीक्षण करो।"

लु क्वान यु ने कहा है: 'विचार को ऐसे पकडो, जैसे कि कोई बिल्ली चूहे की प्रतीक्षा करती और झपटती है।'

यह बिल्कुल ठीक कहा है।

बिल्ली की भाँति ही तीव्रता, उत्कटता और सजगता से प्रतीक्षा करो।

एक पलक भी बेहोशी मे न झपे और फिर जैसे ही कोई **विचार** उठे, उसे झपटकर पकड लो। फिर **उसका सम्यक् निरीक्षण करो।**

वह कहाँ से पैदा हुआ और कहाँ अत होता है—यह देखो।

और, यह देखते-देखते ही तुम पाओगे कि वह तो पानी के बबूले की भाँति विलीन हो गया है या कि स्वप्न की भाँति तिरोहित।

ऐसे ही क्रमश जो विचार आवे, उनके साथ भी तुम्हारा यही व्यवहार हो।

इस व्यवहार से विचार का आगमन क्षीण होता है और निरतर इस भाँति उन पर आक्रमण करने से वे आते ही नही हैं।

विचार न हों, तो मन बिल्कुल शात हो जाता है।

और, जहाँ मन शांत है, वहीं मन की जड़ है।

इस जड़ को जो पकड़ लेता है, उसका स्वय में प्रवेश होता है।

स्वयं में प्रवेश पा लेना सत्य को पा लेना है।

सत्य तो जानने वाले मे ही छिपा है। शेष कुछ भी जानने से वह नही उपलब्ध ।

ज्ञाता को ही जो जान लेते है, ज्ञान उन्हें ही मिलता है।

ज्ञेय के पीछे मत भागो।

ज्ञान चाहिए तो ज्ञाता के भी पीछे चलना आवश्यक है।

७० /स्वयं का परिष्कार

सत्य की खोज में स्वय को बदलना होगा ।

वह खोज कम, आत्मपरिवर्तन ही ज्यादा है ।

जो उसके लिये पूर्णरूपेण तैयार हो जाते हैं, सत्य स्वय उन्हे खोजता आ जाता है ।

मैंने सुना है कि फकीर इब्राहीम अपने जीवन मे घटी एक घटना कहा करते थे ।

साधु होने के पूर्व वे बल्ख के राजा थे । एक बार जब वे आधी रात को अपने पलग पर सोये हुए थे, तो उन्होंने सुना कि महल के छप्पर पर कोई चल रहा है । वे हैरान हुए और उन्होंने जोर से पूछा कि ऊपर कौन है ? उत्तर आया कि कोई शत्रु नही । दुबारा उन्होंने पूछा कि वहाँ क्या कर रहे हो ? उत्तर आया कि ऊँट खो गया है, उसे खोजता हूँ ।

इब्राहीम को बहुत आश्चर्य हुआ और उस अज्ञात व्यक्ति की मूर्खता पर हँसी भी आई । वे बोले 'अट्टालिका के छप्पर पर ऊँट खो जाने और खोजने की बात तो बडी ही विचित्र है । मित्र, तुम्हारा मस्तिष्क तो ठीक है ?'

उत्तर मे वह अज्ञात व्यक्ति भी बहुत हँसने लगा और बोला : 'हे निर्बोध, तू जिस चित्त दशा मे ईश्वर को खोज रहा है, क्या वह अट्टालिका के छप्पर पर ऊँट खोजने से भी ज्यादा विचित्र नही है ?'

रोज ऐसे लोगो को जानने का मुझे अवसर मिलता है, जो कि स्वय को बदले बिना ईश्वर को पाना चाहते हैं ।

ऐसा होना बिलकुल ही असभव है ।

ईश्वर कोई बाह्य सत्य नहीं है । वह तो स्वयं के ही परिष्कार की अंतिम चेतना अवस्था है ।

उसे पाने का अर्थ स्वय वही हो जाने के अतिरिक्त और कुछ नही है ।

७१ / सपने संजोओ--विराट् के, दिव्य के

एक गाँव मे गया था। किसी ने पूछा कि आप क्या सिखाते है ?

मैने कहा · 'मै स्वप्न सिखाता हूँ।'

जो मनुष्य सागर के दूसरे तट के स्वप्न नही देखता है, वह कभी इस तट से अपनी नौका को छोडने मे समर्थ नही होगा।

स्वप्न ही अनत सागर मे जाने का साहस देते है।

कुछ युवक आये थे।

मैने उनसे कहा "आजीविका ही नही, जीवन के लिये भी सोचो।

"सामयिक ही नही, शाश्वत भी कुछ है। उसे जो नही देखता है, वह असार मे ही जीवन को खो देता है।"

वे कहने लगे . "ऐसी बातो के लिये पास मे समय कहाँ ? फिर, ये सब—सत्य और शाश्वत की बाते स्वप्न ही तो मालूम होती है ?"

मैने सुना और कहा "मित्रो, आज के स्वप्न ही कल के सत्य बन जाते है। स्वप्नो मे डरो मत और स्वप्न कहकर कभी उनकी उपेक्षा मत करना। क्योकि, ऐसा कोई भी सत्य नही है, जिसका जन्म कभी न कभी स्वप्न की भाँति न हुआ हो। स्वप्न के ही रूप मे सत्य पैदा होता है।

"और वे लोग धन्य है जो कि घाटियो मे रहकर पर्वत शिखरो के स्वप्न देख पाते है, क्योकि वे स्वप्न ही उन्हे आकाक्षा देगे और वे स्वप्न ही उन्हे ऊँचाइयाँ छूने के सकल्प और शक्ति से भरेगे।

"इस बात पर मनन करना। किसी एकात क्षण मे रुककर इस पर विमर्श करना। और यह भी देखना कि आज ही केवल हमारे हाथो मे है—अभी के क्षण पर केवल हमारा अधिकार है। और समझना कि जीवन का प्रत्येक क्षण बहुत सभावनाओ से गर्भित है, और यह कभी पुन वापस नही लौटता है।

"यह कहना कि 'स्वप्नो के लिये हमारे पास कोई समय नही' बहुत आत्म-घातक है। क्योकि, इसके कारण तुम व्यर्थ ही अपने पैरो को अपने हाथो से बाँध लोगे। इस भाव से तुम्हारा चित्त एक सीमा मे बँध जावेगा और तुम उस अद्भुत स्वतत्रता को खो दोगे, जो कि स्वप्न देखने मे अतर्निहित होती है।

"और यह भी तो सोचो कि तुम्हारे समय का कितना अधिक हिस्सा ऐसे प्रयासों में व्यय हो रहा है, जो कि बिलकुल ही व्यर्थ है और जिनमे कोई भी परिणाम आने को नही है ?

"क्षुद्रतम बातों पर लड़ने, अहकार मे उत्पन्न वाद-विवादों को करने, निंदाओ और आलोचनाओं मे—कितना समय तुम नही खो रहे हो ! और, शक्ति और समय अपव्यय के ऐसे बहुत से मार्ग है ।

"यह बहुमूल्य समय ही जीवनशिक्षण--चिंतन, मनन और निदिध्यासन में परिणत किया जा सकता है । इससे ही वे फूल उगाये जा सकते हैं, जिनकी सुगंध अलौकिक होती है और उस संगीत को सुना जा सकता है, जो कि इस जगत् का नहीं है ।"

अपने स्वप्नो का निरीक्षण करो और उनका विश्लेषण करो ।

क्योकि, कल तुम जो बनोगे और होओगे, उसकी भविष्यवाणी अवश्य ही उनमे छिपी होगी ।

७२ / अहंकार के घटने पर—सरलता और अपरिग्रह का बढ़ना

अहंकार एकमात्र जटिलता है।

जिन्हें सरल होना है, उन्हें इस सत्य को अनुभव करना होगा।

उसकी अनुभूति होते ही सरलता वैसे ही आती है, जैसे कि हमारे पीछे हमारी छाया।

एक सन्यासी का आगमन हुआ था। वे मुझे मिलने आये थे, तो कहते थे कि उन्होने अपनी सब आवश्यकताएँ कम कर ली है। और, उन्हे और भी कम करने मे लगे है।

जब उन्होने यह कहा, तो उनकी आँखो मे उपलब्धि का—कुछ पाने का, कुछ होने का वही भाव देखा जो कि कुछ दिन पहले एक युवक की आँखो मे किसी पद पर पहुँच जाने से देखा था। उसी भाव को धनलोलुप धन पाने पर स्वय मे पाता है।

वासना का कोई भी रूप परितृप्ति को निकट जान आँखो मे उस चमक को डाल देता है। यह चमक अहकार की है।

और, स्मरण रहे कि ऊपर से आवश्यकताएँ कम कर लेना ही सरल जीवन को पाने के लिये पर्याप्त नही है।

भीतर अहकार कम हो, तो ही सरल जीवन के आधार रखे जाते है।

वस्तुतः अहंकार जितना शून्य हो, आवश्यकताएँ अपने आप ही उतनी सरल हो जाती है।

जो इसके विपरीत करता है, वह आवश्यकताएँ तो कम कर लेगा, लेकिन उसका अहकार बढ जायेगा और परिणाम मे सरलता नही और भी आतरिक जटिलता उसमे पैदा होगी।

उस भाँति जटिलता मिटती नही, केवल एक नया रूप और वेश ले लेती है।

अहकार कुछ भी पाने की दौड मे तृप्त होता है। 'और अधिक' की उपलब्धि ही उसका प्राणरस है।

जो वस्तुओ के सग्रह मे लगे है, वे भी 'और अधिक' से पीडित होते है और जो उन्हे छोडने मे लगते है, वे भी उसी 'और अधिक' की दासता करते है।

अतत, ये दोनो ही दुःख और विषाद को उपलब्ध होते है, क्योकि अहकार अत्यत रिक्तता है।

उसे तो किसी भी भाँति भरा नही जा सकता।

इस सत्य को जानकर, जो उसे भरना ही छोड़ देते है, वे ही वास्तविक सरलता और अपरिग्रह को पाते है ।

अपरिग्रह को ऊपर से साधना घातक है ।

अहकार भीतर न हो, तो बाहर, परिग्रह नही रह जाता है ।

लेकिन, इस भूल में कोई न पडे कि बाहर परिग्रह न हो, तो भीतर अहंकार न रहेगा ।

परिग्रह अहकार का नही—अहकार ही परिग्रह का मूल कारण है ।

७३/गहरी आकांक्षा के बीज बोओ

जीवन मे सत्य, शिव और सुदर के थोड़े से बीज बोओ।

यह मत सोचना कि बीज थोडे से है, तो उनसे क्या होगा !

क्योकि, एक बीज अपने मे हजारो बीज छिपाये हुए है।

सदा स्मरण रखना कि एक बीज मे पूरा उपवन पैदा हो सकता है।

आज किसी से कहा है :

मैने बहुत थोडा-सा समय देकर ही बहुत कुछ जाना है।

थोड़े से क्षण मन की मुक्ति के लिये दिये और एक अलौकिक स्वतत्रता को अनुभव किया।

फूलो, झरनो और चाँद-तारो के सौदर्य-अनुभव मे थोडे-से क्षण बिताये और न केवल सौदर्य को जाना, बल्कि स्वय को सुदर होता हुआ भी अनुभव किया।

शुभ के लिये थोडे-से क्षण दिये और जो आनन्द पाया, उसे कहना कठिन है।

तब से मै कहने लगा कि प्रभु को तो सहज ही पाया जा सकता है।

लेकिन, हम उसकी ओर कुछ भी कदम उठाने को भी तैयार न हों तो दुर्भाग्य ही है।

स्वय की शक्ति और समय का थोडा अश सत्य के लिये, शांति के लिये, सौदर्य के लिये, शुभ के लिये दो और फिर तुम देखोगे कि जीवन की ऊँचाइयाँ तुम्हारे निकट आती जा रही है।

और, एक बिल्कुल अभिनव जगत् अपने द्वार खोल रहा है, जिसमे कि बहुत आध्यात्मिक शक्तियाँ अन्तर्गभित है।

सत्य और शाति की जो आकाक्षा करता है, वह क्रमश पाता है कि सत्य और शाति उसके होते जा रहे है।

और, जो सौदर्य और शुभ की ओर अनुप्रेरित होता है, वह पाता है कि उनका जन्म स्वय उसके ही भीतर हो रहा है।

सुबह उठकर आकाक्षा करो कि आज का दिवस सत्य, शिव और सुदर की दिशा में कोई फल ला सके।

और, रात्रि देखो कि कल से तुम जीवन की ऊँचाइयो के ज्यादा निकट हुए हो या नही।

गहरी आकाक्षा स्वयं में परिवर्तन लाती है और स्वयं का निरीक्षण परिवर्तन के लिये गहरी आकांक्षा पैदा करता है।

७४ / जीने का ढंग—प्रभु की ओर ले जाने वाला हो

जिसे प्रभु को पाना है, उसे प्रतिक्षण उठते बैठते भी स्मरण रखना चाहिए कि वह जो कर रहा है, वह कहीं प्रभु को पाने के मार्ग मे बाधा तो नही बन जायेगा ?

एक कहानी है ।

किसी सर्कस मे एक बूढ़ा कलाकार है, जो लकड़ी के तख्ते के सामने अपनी पत्नी को खड़ाकर उस पर छुरे फेकता है । हर बार छुरा पत्नी के कठ, कधे, बाँह या पाँवों को बिलकुल छूता हुआ लकडी मे धँस जाता है। आधा इच इधर-उधर कि उसके प्राण गये ।

इस खेल को दिखाते उसे तीस साल हो गये है । वह अपनी पत्नी से बहुत ऊब गया है और उसके दुष्ट और झगडालू स्वभाव के कारण उसके प्रति क्रमश उसके मन मे बहुत घृणा इकट्ठी हो गई है ।

एक दिन उसके व्यवहार से उसका मन इतना विषाक्त है कि वह उसकी हत्या के लिये निशाना लगाकर छुरा मारता है । उसने निशाना साध लिया है, —ठीक हृदय, और एक ही बार मे सब समाप्त हो जायेगा—फिर, वह पूरी ताकत से छुरा फेकता है। क्रोध और आवेश मे उसकी आखे बंद हो जाती है ।

वह बद आँखो मे ही देखता है कि छुरा छाती मे छिद गया है और खून के फव्वारे फूट पड़े हैं । उसकी पत्नी एक आह भरकर गिर पडी है ।

वह डरते-डरते आँखे खोलता है । पर, पाता है कि पत्नी तो अछूती खड़ी मुस्कुरा रही है । छुरा सदा की भाँति बदन को छूता हुआ निकल गया है !

वह शेष छुरे भी ऐसे ही फेंकता है—क्रोध मे, प्रतिशोध मे, हत्या के लिये—लेकिन हर बार छुरे सदा की भाँति ही तख्ते मे छिद जाते हैं ।

वह अपने हाथों की ओर देखता है । असफलता मे उसकी आँखो मे आँसू आ जाते है और वह सोचता है कि इन हाथो को क्या हो गया है ?

उसे पता नही है कि वे इतने अभ्यस्त हो गये है कि अपनी ही कला के सामने पराजित हैं !

हम भी ऐसे ही अभ्यस्त हो जाते है—असद् के लिये, अशुभ के लिये और तब चाहकर भी शुभ और सुदर का जन्म मुश्किल हो जाता है ।

अपने ही हाथो से हम स्वयं को रोज जकड़ते जाते हैं ।

और जितनी हमारी जकडन होती है, उतना ही सत्य दूर हो जाता है ।

हमारा प्रत्येक भाव, विचार और कर्म हमें निर्मित करता है । उन सबका समग्र जोड़ ही हमारा होना है ।

इसलिए, जिसे सत्य क शिखर छूना है, उसे ध्यान देना होगा कि वह अपने साथ ऐसे पत्थर तो नही बाँध रहा है, जो कि जीवन को ऊपर नही, नीचे ले जाते है ।

७५ / साधो ज्ञान को—आचार को नहीं

जीवन का पथ अंधकारपूर्ण है।

लेकिन, स्मरण रहे कि इस अंधकार मे दूसरो का प्रकाश काम में नही आ सकता।

प्रकाश अपना ही हो, तो ही साथी है।

जो दूसरो के प्रकाश पर विश्वास कर लेते है, वे धोखे मे पड जाते है।

मैंने सुना है.

एक आचार्य ने अपने शिष्य को कहा. "ज्ञान को उपलब्ध करो। उसके अतिरिक्त कोई मार्ग नही है।"

वह शिष्य बोला : "मैं तो आचार साधना मे सलग्न हूँ। क्या आचार को पा लेने पर भी ज्ञान की आवश्यकता है ?"

आचार्य ने कहा. "प्रिय ! क्या तुमने हाथी की चर्या देखी है ? वह सरोवर मे स्नान करता है और बाहर आते ही अपने शरीर पर धूल फेकने लगता है। अज्ञानी भी ऐसा ही करते हैं। **ज्ञान के अभाव में आचार की पवित्रता को ज्यादा देर नहीं साधा रखा जा सकता है।"**

तब शिष्य ने नम्र भाव से निवेदन किया "भगवन्, रोगी तो वैद्य के पास ही जाता है, स्वय चिकित्साशास्त्र के ज्ञान को पाने के चक्कर मे नही पडता। आप मेरे मार्गदर्शक हैं। यह मैं जानता हूँ कि आप मुझे अधर्म मार्ग मे नही जाने देंगे। तब फिर मुझे स्वय के ज्ञान की क्या आवश्यकता है ?"

यह सुन आचार्य ने बहुत गम्भीरता से एक कथा कही थी :

'एक वृद्ध ब्राह्मण था। वह अधा हो गया, तो उसके पुत्रो ने उसकी आँखो की शल्य चिकित्सा करवानी चाही। लेकिन उसने अस्वीकार कर दिया। वह बोला. 'मुझे आँखो की क्या आवश्यकता ? तुम आठ मेरे पुत्र हो, आठ कुलवधुएँ है, तुम्हारी माँ है, ऐसे चौतीस आँखे मुझे प्राप्त है, फिर दो नही भी है, तो क्या हुआ ?'

'पिता ने पुत्रो की सलाह नही मानी। फिर एक रात्रि अचानक घर मे आग लग गई। सभी अपने-अपने प्राण लेकर बाहर भागे। वृद्ध की याद किसी को भी न रही। वह अग्नि मे ही भस्म हो गया।'

"इसलिये, वत्स, अज्ञान का आग्रह मत करो। **ज्ञान स्वयं का चक्षु है। उसके अतिरिक्त और कोई शरण नहीं है।"**

सत्य न तो शास्त्रो से मिल सकता है और न शास्ताओ से।

उसे पाने का द्वार तो स्वय मे ही है।

स्वयं मे जो खोजते है, केवल वे ही उसे पाते हैं।

स्वय पर श्रद्धा ही असहाय मनुष्य का एकमात्र सबल है।

७६/सत्य की, दिव्य की एक झलक—और आमूल रूपान्तरण संभव

सत्य की एक किरण मात्र को खोज लो, फिर वह किरण ही तुम्हे आमूल बदल देगी।

जो उसकी एक झलक भी पा लेते हैं, वे फिर अपरिहार्यरूप से एक बड़ी क्रांति से गुजरते हैं।

गुस्ताव मेयरिन्क ने एक सस्मरण लिखा है।

उनके किसी चीनी मित्र ने एक अत्यंत कलात्मक और सुदर पेटी उपहार मे भेजी। किन्तु, साथ मे यह आग्रह भी किया कि उसे कक्ष मे पूर्व-पश्चिम दिशा मे ही रखा जावे, क्योकि उसका निर्माण ऐसा किया गया है कि वह पूर्वोन्मुख होकर ही सर्वाधिक सुदर होती है।

मेयरिन्क ने इस आग्रह को आदर दिया और कम्पास से देखकर उस पेटी को मेज पर पूर्व-पश्चिम जमाया। लेकिन वह कमरे की दूसरी चीजो के साथ ठीक नहीं जमी। पूरा कमरा ही बेमेल दीखने लगा। तब और चीजो को भी बदलना पड़ा। मेज भी बाद मे और चीजो मे सगत दीखे इसलिये पूर्व-पश्चिम जमानी पडी।

इस भाँति पूरा कक्ष ही पुन आयोजित हुआ और समय के साथ ही उसस सगति बैठाने को पूरा मकान ही बदल गया। यहाँ तक कि मकान के बाहर की बगिया तक मे उसके कारण परिवर्तन हो गये!

यह घटना बहुत अर्थपूर्ण है।

जीवन मे भी यही होता है।

सत्य या सुदर या शुभ की एक अनुभूति ही सब-कुछ बदल देती है फिर उसके अनुसार ही स्वय को रूपान्तरित होना पडता है।

अपने जीवन का एक अंश भी यदि शात और सुदर बनाने में कोई सफल हो जावे, तो वह शीघ्र ही पूरे जीवन को ही दूसरा होता हुआ अनुभव करेगा।

क्योकि, तब उसका ही श्रेष्ठतर अश अश्रेष्ठ को बदलने मे लग जाता है।

श्रेष्ठ अश्रेष्ठ को बदलता है।

और, स्मरण रहे कि सत्य की एक बूंद भी असत्य के पूरे सागर से ज्यादा शक्तिशाली होती है।

७७ / मृत्यु से अभय और भीतर का अमृत

शरीर को ही जो स्वयं का होना मान लेता है, मृत्यु उसे ही भयभीत करती है।

स्वयं में थोडा ही गहरा प्रवेश, उस भूमि पर खडा कर देता है, जहाँ कि कोई भी मृत्यु नहीं है।

उस अमृत-भूमि को जानकर ही जीवन का ज्ञान होता है।

एक बार ऐसा हुआ कि एक युवा सन्यासी के शरीर पर कोई राजकुमारी मोहित हो गई। सम्राट् ने उस भिक्षु को राजकुमारी से विवाह करने को कहा।

भिक्षु बोला: "मै तो हूँ ही नहीं, विवाह कौन करेगा?"

सम्राट् ने इसे अपमान मान उसे तलवार से मार डाले जाने का आदेश दिया।

वह संन्यासी बोला "मेरे प्रिय, शरीर से आरम्भ मे ही मेरा कोई सम्बन्ध नही रहा है। आप भ्रम मे है। आपकी तलवार जो अलग ही है, उन्हे और क्या अलग करेगी?

"मै तैयार हूँ, और आपकी तलवार मेरे तथाकथित सिर को उसी प्रकार काटने के लिये आमत्रित ह, जैसे यह वसत-वायु पेडो से उनके फूलो को गिरा रही है।"

सच ही उस समय वसत था और वृक्षों से फूल गिर रहे थे। सम्राट् ने उन गिरते फूलो को देखा और उस युवा भिक्षु के सम्मुख उपस्थित मृत्यु को जानते हुए भी उसकी आनन्दित आँखो को।

उसने एक क्षण सोचा और कहा "जो मृत्यु से भयभीत नही है, और जो मृत्यु को भी जीवन की भाँति ही स्वीकार करता है, उसे मारना व्यर्थ है। उसे तो मृत्यु भी नही मार सकती है।"

वह जीवन नही है, जिसका कि अत आ जाता है।

अग्नि जिसे जला दे और मृत्यु जिसे मिटा दे, वह जीवन नही है।

जो उसे जीवन मान लेते है, वे जीवन को जान ही नही पाते। वे तो मृत्यु मे ही जीते है और इसीलिये मृत्यु की भीति उन्हे सताती है।

जीवन को जानने और उपलब्ध होने का लक्षण--मृत्यु से अभय है।

७८./ मृत्यु का अतिक्रमण—जीते जी मर कर

'जीवन में सबसे बड़ा रहस्य सूत्र क्या है ?'

जब कोई मुझसे यह पूछता है, तो मैं कहता हूँ **'जीते जी मर जाना ।'**

किसी सम्राट् ने एक युवक की असाधारण सेवाओ और वीरता से प्रसन्न होकर उसे सम्मानित करना चाहा । उस राज्य का जो सबसे बड़ा सम्मान और पद था, वह उसे देने की घोषणा की गई । लेकिन, ज्ञात हुआ कि वह युवक इससे प्रसन्न और सतुष्ट नही है ।

सम्राट् ने उसे बुलाया और कहा . "क्या चाहते हो ? तुम जो भी चाहो, मैं उसे देने को तैयार हूँ ? तुम्हारी सेवाएँ निश्चय ही सभी पुरस्कारो से बड़ी है ।"

वह युवक बोला . "महाराज, बहुत छोटी-सी मेरी माँग है । उसके लिये ही प्रार्थना करता हूँ । धन मुझे नही चाहिए—न ही पद, न सम्मान, न प्रतिष्ठा । मैं चित्त की शाति चाहता हूँ ।"

राजा ने सुना, तो थोडी देर को तो वह चुप ही रह गया । फिर बोला "जो मेरे पास ही नही, उसे मैं कैसे दे सकता हूँ ? चित्त की शाति—वह सपदा तो मेरे पास ही नही है ।"

फिर, वह सम्राट् उस व्यक्ति को पहाडो मे निवास करने वाले एक शाति को उपलब्ध साधु के पास लेकर स्वय ही गया । उस व्यक्ति ने जाकर अपनी प्रार्थना साधु के समक्ष निवेदित की ।

वह साधु अलौकिक रूप से शांत और आनन्दित था । लेकिन, सम्राट् ने देखा कि उस युवक की प्रार्थना सुनकर वह भी वैसा ही मौन रह गया है, जैसा कि स्वय सम्राट् रह गया था !

सम्राट् ने सन्यासी से कहा "मेरी भी प्रार्थना है, इस युवक को शाति दे । राजा की ओर से अपनी सेवाओ और समर्पण के लिये यही पुरस्कार उसने चाहा है । मैं तो स्वय ही शात नही हूँ, इसलिये शाति कैसे दे सकता था ? सो इसे आपके पास लेकर आया हूँ !"

वह सन्यासी बोला "**राजन्, शाति ऐसी संपदा नहीं है, जो कि किसी दूसरे से ली-दी जा सके । उसे तो स्वयं ही पाना होता है ।**

"जो दूसरो से मिल जावे, वह दूसरो से छीनी भी जा सकती है । अतत मृत्यु तो उसे निश्चय ही छीन लेती है ।

जो संपत्ति किसी और से नहीं, स्वयं से ही पाई जाती है, उसे ही मृत्यु छीनने मे असमर्थ है ।

शाति मृत्यु से बड़ी है, इसीलिये उसे और कोई नही दे सकता है ।"

एक सन्यासी ने ही यह कहानी मुझे सुनाई थी ।

सुनकर मैने कहा था · "निश्चय ही मृत्यु शाति को नही छीन सकती है ।

"क्योकि, जो मृत्यु के पहले ही मरना जान लेते है, वे ही ऐसी शाति को उपलब्ध कर पाते है ।"

क्या तुम्हे मृत्यु का अनुभव है ?

यदि नही, तो तुम मृत्यु के चंगुल मे हो ।

मृत्यु के हाथो मे स्वय को सदा अनुभव करने से जो छटपटाहट होती है, वही अशाति है ।

लेकिन, मित्र, मृत्यु के पहले ही मरने का भी उपाय है ।

जो ऐसे जीने लगता है कि जैसे जीवित होते हुए भी जीवित न हो, वह मृत्यु को जान लेता है और जानकर मृत्यु के पार हो जाता है ।

७९/सत्य का सागर—और बुद्धि का कुआँ

शब्दो या शास्त्रो की सीमा मे सत्य नही है।
असल मे जहाँ सीमा है, वहाँ सत्य नही है।
सत्य तो असीम है।
उसे जानने को विचार की परिधि को तोडना आवश्यक है।
असीम होकर ही असीम को जाना जाता है।
विचार के घेरे से मुक्त होते ही चेतना असीम हो जाती है।

वैसे ही जैसे कोई मिट्टी के घडे को फोड दे, तो उसके भीतर का आकाश असीम आकाश से एक हो जाता है।

सूर्य आकाश के मध्य मे आ गया था। एक सुदर हस एक सागर मे दूसरे सागर को उडा जा रहा था। लम्बी यात्रा और धूप की थकान से वह भूमि पर उतरकर एक कुएँ की पाट पर विश्राम करने लगा।

वह बैठ भी नही पाया था कि कुएँ के भीतर मे एक मेढक की आवाज आई: 'मित्र, तुम कौन हो और कहाँ से आये हो?"

वह हस बोला "मै एक अत्यत दरिद्र हस हूँ और सागर पर मेरा निवास है।"

मेढक का सागर से परिचित व्यक्ति से यह पहला ही मिलन था। वह पूछने लगा "सागर कितना बडा है?"

हस ने कहा "असीम।"

इस पर मेढक ने पानी मे एक छलाँग लगाई और पूछा "क्या इतना बडा?"

वह हस हँसने लगा और बोला "प्यारे मेढक, नही। सागर इससे अनन्त गुना बडा है।"

इस बार मेढक ने और भी बडी छलाँग लगाई और पूछा. "क्या इतना बडा?"

उत्तर फिर भी नकारात्मक पाकर मेढक ने कुएँ की पूर्ण परिधि मे कूदकर चक्कर लगाया और पूछा "अब तो ठीक है! सागर इससे बडा और क्या होगा?"

उसकी आँखो मे विश्वास की झलक थी और इस बार उत्तर के नकारात्मक होने की उसे कोई आशा नही थी।

लेकिन, उस हस ने पुन कहा "नही, मित्र! नही। तुम्हारे कुएँ से सागर को मापने का कोई उपाय नही है।"

इस पर, मेढक तिरस्कार से हँसने लगा और बोला "महानुभाव, असत्य की भी सीमा होती है? मेरे ससार से बडा सागर कभी भी नही हो सकता!"

मैं सत्य के खोजियो से क्या कहता हूँ ?

कहता हूँ : सत्य के सागर को जानना है, तो अपनी बुद्धि के कुओ से बाहर आ जाओ।

बुद्धि से सत्य को पाने का कोई उपाय नहीं।

वह अमाप है।

उसे तो वही पाता है, जो स्वयं के सब बाँध तोड़ देता है।

उनके कारण ही बाधा है।

उनके मिटने ही सत्य जाना ही नही जाता, वरन् उससे ऐक्य हो जाता है।

उसमे एक हो जाना ही उसे जानना है।

८० / प्रेम—शक्ति है, सम्पदा है, प्रभुता है

क्या तुम मनुष्य हो ?

प्रेम मे तुम्हारी जितनी गहराई हो, मनुष्यता मे उतनी ही ऊँचाई होगी।

और, परिग्रह मे जितनी ऊँचाई हो, मनुष्यता मे उतनी ही नीचाई होगी।

प्रेम और परिग्रह जीवन की दो दिशाएँ हैं।

प्रेम पूर्ण हो, तो परिग्रह शून्य हो जाता है। और, जिनके चित्त परिग्रह से घिरे रहते हैं, प्रेम वहाँ आवास नही करता है।

एक सम्राज्ञी ने अपनी मत्यु उपरात उसके कब्र के पत्थर पर निम्न पक्तियाँ लिखने का आदेश दिया था "इस कब्र मे अपार धनराशि गड़ी हुई है। जो व्यक्ति अत्यधिक निर्धन और अशक्त हो, वह उसे खोद कर प्राप्त कर सकता है।"

उस कब्र के पास से हजारो दरिद्र और भिखमगे निकले, लेकिन उनमे से कोई भी इतना दरिद्र नही था कि धन के लिये किसी मरे हुए व्यक्ति की कब्र को खोदे।

एक अत्यत बूढ़ा और दरिद्र भिखमंगा तो उस कब्र के पास ही वर्षो से रह रहा था और उधर से निकलने वाले प्रत्येक दरिद्र व्यक्ति को उस पत्थर की ओर इशारा कर देता था।

फिर, अतत वह व्यक्ति भी आ पहुंचा, जिसकी दरिद्रता इतनी थी कि वह उस कब्र को खोदे बिना नही रह सका। वह व्यक्ति कौन था ?

वह स्वय एक सम्राट् था और उसने उस कब्र वाले देश को अभी-अभी जीना था, उसने आते ही कब्र को खोदने का कार्य शुरू कर दिया। उसने थोडा भी समय खोना ठीक नही समझा। पर उस कब्र मे उसे क्या मिला ? अपार धनराशि की जगह मिला मात्र एक पत्थर, जिस पर खुदा हुआ था "मित्र, क्या तू मनुष्य है ?"

निश्चय ही जो मनुष्य है, वह मृतको को सताने को कैसे तैयार हो सकता है ! लेकिन जो धन के लिये जीवितो को भी मृत बनाने को सहर्ष तैयार हो, उसे इससे क्या फर्क पडता है ?

वह सम्राट् जब निराश और अपमानित हो उस कब्र से लौटता था, तो उस कब्र के वासी बूढ़े भिखमगे का लोगो ने जोर से हँसते देखा था।

वह भिखमगा कह रहा था "मैं कितने वर्षो से प्रतीक्षा करता था, अतत. आज पृथ्वी पर जो दरिद्रतम निर्धन और सर्वाधिक अशक्त व्यक्ति है, उसका भी दर्शन हो गया है!"

प्रेम जिस हृदय मे नहीं है, वही दरिद्र है, वही दीन है, वही अशक्त है ।

प्रेम शक्ति है, प्रेम संपदा है, प्रेम प्रभुता है।

प्रेम के अतिरिक्त जो किसी और सपदा को खोजता है, एक दिन उसकी ही सपदा उससे पूछती है . "क्या तू मनुष्य है ?"

८१/अस्पर्शित चेतना को पा लेना योग है

'मैं जगत् में हूँ और जगत् में नहीं भी हूँ'—ऐसा जब कोई अनुभव कर पाता है, तभी जीवन का रहस्य उसे ज्ञात होता है।

जगत् में दिखाई पड़ना एक बात है, जगत् में होना बिलकुल दूसरी।

जगत् में दिखाई पड़ना शारीरिक घटना है, जगत् में होना आत्मिक दुर्घटना।

जब तक जीवन है, तब तक शरीर जगत् में होगा ही।

लेकिन, जिसे 'उस' जीवन को जानना हो—जिसका कि कोई अंत नहीं आता है—उसे स्वयं को जगत् के बाहर कर लेना होता है।

एक सन्यासी ने सुना कि देश का सम्राट् परम ज्ञान को उपलब्ध हो गया है उस सन्यासी के आश्चर्य का ठिकाना न रहा।

क्या यह सभव है कि जिसने कुछ भी नहीं त्यागा है, वह परमात्मा को पा सके ?

वह सन्यासी राजधानी पहुँचा और राजा का अतिथि बना। उसने राजा को बहुमूल्य वस्त्र पहने देखा स्वर्ण पात्रों में स्वादिष्ट भोजन करते देखा—रात्रि में संगीत और नृत्य का आनन्द लेते हुए भी। उसका संदेह अनन्त होता जा रहा था। वह तो सर्वथा स्तब्ध ही हो गया था।

रात्रि किसी भाँति बीती। सन्यासी संदेह और चिंता से सो भी नहीं सका।

सुबह ही राजा ने नदी पर स्नान करने के लिये उसे आमंत्रित किया। राजा और सन्यासी नदी में उतरे। वे स्नान करते ही थे कि अचानक उस शांत निस्तब्ध वातावरण को एक तीव्र कोलाहल ने भर दिया। आग, आग, आग ! नदी तट पर खड़ा राजमहल धू-धू कर जल रहा था और उसकी लपटें तेजी से घाट की ओर बढ़ रही थीं।

सन्यासी ने स्वयं को अपनी कौपीन बचाने के लिये सीढ़ियों की ओर भागते हुए पाया। उसे स्मरण ही न रहा कि साथ में सम्राट् भी है। लेकिन लौटकर देखा, तो पाया कि **राजा** जल में ही खड़े हैं और **कह रहे हैं :"हे मुनि, यदि समस्त राज्य भी जल जावे, तो भी मेरा कुछ भी नहीं जलता है।"**

सम्राट् थे : जनक और मुनि थे : शुकदेव।

लोग मुझसे पूछते हैं योग क्या है ?

मैं उनसे कहता हूँ अस्पर्श भाव।

ऐसे जिओ कि जैसे तुम जहाँ हो, वहाँ नहीं हो।

चेतना बाह्य से अस्पर्शित हो, तो स्वयं में प्रतिष्ठित हो जाती है।

८२ / स्वयं का सतत निरीक्षण

स्मरण रहे कि तुम्हारे पास क्या है, उससे नही—वरन् तुम क्या हो, उसमे ही तुम्हारी पहचान है।

वही, तुम्हारी सपदा है, वही तुम हो।

जो उसे सम्हाल लेता है, वह सब सम्हाल लेता है।

एक बूढे अधे फकीर की कहानी है, जो कि राजपथ के मध्य मे खड़ा था और देश के राजा की सवारी निकली रही थी।

सबसे पहले वे सैनिक आये, जो कि सवारी के आगे मार्ग को निर्विघ्न कर रहे थे। उन्होने उस बूढे को धक्का दिया और कहा 'मूर्ख, मार्ग से हट। अधे! दिखता नही कि राजा की सवारी आ रही है?' वह बूढा हँसा और बोला 'इसी कारण?' लेकिन वह उसी जगह खडा रहा।

और तब, घुडसवार सैनिक आये। उन्होने कहा 'मार्ग से हट जाओ, सवारी आ रही है।' वह बूढा वही खडा रहा और बोला. 'इसी कारण?'

फिर राजा के मत्री आये। उन्होने उस फकीर से कुछ भी नही कहा और वे उसे बचा कर अपने घोडो को ले गये। वह फकीर पुन. बोला. 'इसी कारण?'

और तब, राजा की सवारी आई। वह नीचे उतरा और उसने उस बूढे के पैर छुये। वह फकीर हँसने लगा और बोला क्या राजा आ गया? 'इसी कराण?' फिर सवारी निकल गई।

लेकिन, जिन लोगो ने उस बूढे फकीर का हँसना और बार-बार 'इसी कारण' कहना सुना था, उन्होने उससे उसका कारण पूछा। वह बोला. **'जो जो है, वह अपने आचरण के कारण वैसा है।'**

मै क्या सोचता हूँ, क्या बोलता क्या करता हूँ—उस सब ही मे 'मै' प्रगट होता हूँ।

स्वय के इन प्रकाशनो को जो सतत देखता और निरीक्षण करता है, वह क्रमश ऊपर से ऊपर उठता जाता है।

क्योकि, कौन है, जो कि जानकर भी नीचे रहना चाहता है!

८३ / उपलब्धि—मैं की शून्यता में या मैं की पूर्णता में

जीवन का तनाव और द्वन्द्व 'मैं' और 'न मैं' के विरोध से पैदा होता है। यही मूल चिंता और दुःख है।

जो इस द्वन्द्व को पार कर लेता है, वह प्रभु मे प्रविष्ट हो जाता है।

एक युवक ने पूछा 'परमात्मा को पाने के लिये मैं क्या करूँ?'

मैंने कहा . 'मैं' को शून्य कर लो या पूर्ण कर लो।'

वह कुछ समझा नही और एक कहानी उससे कहनी पडी :

किसी समय दो फकीरो का मिलन हुआ। उन दोनो के सैकडो शिष्य भी उनके साथ थे। और यह भी सर्व विदित था कि उनके विचार बिलकुल विरोधी हैं।

पहले फकीर ने दूसरे से पूछा "मित्र, जीवन भर की खोज मे क्या तुमने पाया? जहाँ मेरा सवाल है, मैंने तो 'मैं' को खो दिया है। वह धीरे-धीरे हारता गया और अब बिलकुल मिट गया है। उसकी अब कोई रेखा भी बाकी नही है। **'मैं' नहीं, अब तो 'वही' है। सब है—लेकिन 'मैं' नहीं हूँ।** सब 'उसकी' ही मर्जी है। और, 'उसकी' धारा मे मात्र बहे जाना—न-कुछ होकर मात्र जिये जाना—कैसा आनन्द है!

'जो पाना था, वह मैंने पा लिया और जो होना था, वह मैं हो गया हूँ। ओह! 'मैं' के मिट जाने मे कितनी शक्ति है, कितनी शाति और कितना सौदर्य है!"

यह सुन दूसरा फकीर बोला "मित्र, 'मैं' तो 'मैं' हो गया हूँ। **मैं ही हूँ अब, और कुछ भी नहीं है। सब कुछ मैं ही हूँ।** 'मैं' के बाहर जो है, वह नही ही है। अहं ब्रह्मास्मि।

"चाँद और तारे 'मैं' ही चलाता हूँ, मैं ही सृष्टि को बनाना और मिटाता हूँ। सृष्टि का यह सारा खेल मेरा ही सकल्प है। और मित्र, 'मैं' की इस विजय मे कितना आनन्द है, कितनी शाति है, कितना सौदर्य है!"

उन दोनो के शिष्य इन बातो को सुन बहुत हैरानी मे पड गये। और उस समय तो उनकी उलझन का ठिकाना न रहा, जब विदा होते वे दोनो फकीर एक दूसरे को बाँहों मे लेकर कह रहे थे 'हम दोनों के अनुभव बिलकुल समान हैं। कितने विरोधी मार्गों से चल कर हम एक ही सत्य पर पहुँच गये!'

'मैं' शून्य हो, तो पूर्ण हो जाता है। या कि 'मैं' पूर्ण हो, तो शून्य हो जाता है। शून्य और पूर्ण एक ही है।

जो शून्य से चलता है, वह निर्वाण पर पहुँचता है।

और, जो पूर्ण से चलता है, वह ब्रह्म पर।

लेकिन, निर्वाण और ब्रह्म क्या एक अवस्था को दो नाम ही नही हैं?

८४ / कल्पनाओं के विसर्जन पर—प्रारम्भ ध्यान का

परमात्मा के नाम पर कल्पनाएँ सिखाई जाती हैं। जबकि, सत्य के दर्शन कल्पनाओ मे नही, वरन् सब कल्पनाओ को छोड देने पर ही होते हैं।

जो कल्पना मे है, वह स्वप्न मे है।

वह वही देख रहा है, जो कि देखना चाहता है—वह नही, 'जो कि है'।

एक सूफी साधु को किसी विद्यालय मे ले जाया गया। उस विद्यालय मे बालको को एकाग्रता का विशेष अभ्यास कराया जाता था।

कोई दस-बारह बच्चे उसके सामने लाये गये और उनमे से प्रत्येक को एक खाली सफेद परदे पर ध्यान एकाग्र करने को कहा गया और कहा गया कि मन की सारी शक्ति को इकट्ठा कर वे देखे कि उन्हे वहाँ क्या दिखाई पडता है।

एक छोटा-सा बच्चा देखता रहा—देखता रहा—देखता रहा और फिर बोला 'गुलाब का फूल।' उसकी आँखो से ही लगता था कि वह गुलाब के फूल को देख रहा है।

किसी दूसरे ने कुछ और कहा तीसरे ने कुछ और।

वे अपनी ही कल्पनाओ को देख रहे थे।

और कितन ऐसे बूढे है जो कि उन बच्चो की भाँति ही अपनी कल्पनाओ को नही देखते रहते है?

कल्पना के जो ऊपर नही उठता, वह असल मे अप्रौढ़ ही बना रहता है।

प्रौढता कल्पनामुक्त दर्शन से ही उपलब्ध होती है।

फिर एक बच्चे ने बहुत देर देखने के बाद कहा 'कुछ भी नही। मुझे तो कुछ भी दिखाई नही पडता?' उसे फिर से देखने को कहा गया। किंतु, वह पुन बोला 'क्षमा करे। कुछ है ही नही तो मै क्या करूँ।'

उसके अध्यापको ने उसे निराशा मे दूर हटा दिया और कहा कि उसमे एकाग्रता की शक्ति नही है। वे उनमे प्रसन्न थे जिन्हे कुछ दिखाई पड रहा था। जबकि **जो उनकी दृष्टि से असफल था, वही सत्य के ज्यादा निकट था।** उसे जो दिखाई पड रहा था वही दिखाई पड रहा था।

सत्य मनुष्य की कल्पना नही है—न ही परमात्मा।

कल्पना से जो देखता है, वह असत्य देखता है।

कल्पना का नाम ध्यान नही है।

वह तो ध्यान के बिल्कुल ही विपरीत स्थिति है।

कल्पना जहाँ शून्य होती है, ध्यान वही प्रारभ होता है। और कल्पना मे नही, कल्पना-शून्य ध्यान मे जो जाना जाता है वही सत्य है।

८५. संसार नहीं--'मैं' छोड़ना है

मैं किसी गाँव मे गया। वहाँ कुछ लोग पूछते थे : **'क्या ईश्वर है ?** हम उसके दर्शन करना चाहते हैं !'

मैंने उनमे कहा 'ईश्वर ही ईश्वर है--**सभी कुछ वही है। लेकिन, जो 'मैं' से भरे हैं, वे उसे नहीं जान सकते।**

'उसे जानने की शर्त, स्वय को खोना है।'

एक राजा ने परमात्मा को खोजना चाहा। वह किसी आश्रम में गया। उस आश्रम के प्रधान साधु ने कहा . 'जो तुम्हारे पास है, उसे छोड दो। परमात्मा को पाना तो बहुत सरल है।'

वह राजा सब छोड़ कर पहुँचा। उसने राज्य का परित्याग कर दिया और सारी सपत्ति दरिद्रों को बाँट दी। वह बिलकुल भिखारी हो गया था। लेकिन, साधु ने उसे देखते ही कहा . 'मित्र, तुम तो सभी कुछ साथ ले आये हो ?' राजा कुछ भी समझ नही सका।

साधु ने आश्रम के सारे कूडे-करकट को फेंकने का काम उसे सौंपा। आश्रमवासियों को यह बहुत कठोर प्रतीत हुआ, लेकिन, यह साधु बोला, 'सत्य को पाने के लिये वह अभी तैयार नही है और तैयार होना तो बहुत आवश्यक है !'

कुछ दिनो बाद आश्रमवासियो द्वारा राजा को उस कठोर कार्य से मुक्ति दिलाने की पुन प्रार्थना करने पर प्रधान ने कहा · 'परीक्षा ले लें।'

फिर, दूसरे दिन जब राजा कचरे की टोकरी सिर पर लेकर गाँव के बाहर फेंकने जा रहा था, तो कोई व्यक्ति राह मे उससे टकरा गया। राजा ने टकराने वाले से कहा . महानुभाव ! पन्द्रह दिन पहले आप इतने अंधे नही हो सकते थे !'

साधु ने यह प्रतिक्रिया जानकर कहा 'क्या मैंने नही कहा था कि अभी समय नही आया है ? वह अभी भी वही है !'

कुछ दिनो बाद पुन कोई राजा से टकरा गया। इस बार राजा ने आँखे उठाकर उसे देखा भर, कहा कुछ भी नही। किंतु आँखो ने भी जो कहना था, कह ही दिया !

साधु ने सुना तो वह बोला 'संपत्ति को छोडना कितना आसान, स्वयं को छोड़ना कितना कठिन है !'

फिर, तीसरी बार वही घटना हुई। राजा ने राह पर बिखर गये कचरे को इकट्ठा किया और अपने मार्ग पर चला गया, जैसे कि कुछ हुआ ही न हो !

उस दिन वह साधु बोला 'वह अब तैयार है।

'जो मिटने को राजी हो, वही प्रभु को पाने का अधिकारी होता है।'

सत्य की आकाक्षा है, तो स्वयं को छोड दो।

'मैं' से बड़ा और कोई असत्य नही। उसे **छोड़ना ही संन्यास है।**

संसार नही, 'मैं' छोड़ना है।

क्योंकि, वस्तुत मैं-भाव ही ससार है।

८६ / आत्म-ज्ञान के पूर्व सब अभय मिथ्या हैं

कोई पूछता था . 'भय क्या है ?'

मैंने कहा · अज्ञान ।

स्वयं को न जानना ही भय है ।

क्योंकि, जो स्वय को नही जानता, वह केवल मृत्यु को ही जानता है ।

जहाँ आत्म-बोध है, वहाँ जीवन ही जीवन है—परमात्मा ही परमात्मा है ।

और, परमात्मा मे होना ही अभय मे होना है ।

उसके पूर्व सब अभय मिथ्या है ।

सूर्य ढलने को है और मुहम्मद अपने किसी साथी के साथ एक चट्टान के पीछे छिपे हुए है । शत्रु उनका पीछा कर रहे हैं और उनका जीवन सकट मे है । शत्रु की सेनाओ की आवाज प्रतिक्षण निकट आती जा रही है ।

उनके साथी ने कहा 'अब मृत्यु निश्चित है, वे बहुत हैं और हम दो ही है !' उसकी घबडाहट, चिता और मृत्यु-भय स्वभाविक ही है । शायद, जीवन थोडी देर का ही और है ।

लेकिन, उसकी बात सुन मुहम्मद हँसने लगे और उन्होने कहा 'दो ? क्या हम दो ही है ? नही—दो नही, तीन । मै, तुम और परमात्मा ।'

मुहम्मद की आँखे शात है और उनके हृदय मे कोई भय नही है, क्योंकि जिन आँखो मे परमात्मा हो, उनमे मृत्यु वैसे ही नही होती है—जैसे कि जहाँ प्रकाश होता है, वहाँ अधकार नही होता है ।

निश्चय ही यदि आत्मा है—परमात्मा है, तो मृत्यु नही है ।

क्योंकि, परमात्मा मे तो केवल जीवन ही हो सकता है ।

और यदि परमात्मा नही है, तो जो भी है, सब मृत्यु ही है ।

क्योंकि, जडता और जीवन का क्या सबध ?

जीवन को जानते ही मृत्यु विलीन हो जाती है ।

जीवन का अज्ञान ही मृत्यु का भय है ।

धर्म भय से ऊपर उठने का उपाय है । क्योंकि, धर्म जीवन को जोडने वाला सेतु है ।

जो धर्म को भय पर आधारित समझते है, वे या तो धर्म को समझते ही नही या फिर जिसे धर्म समझते है, वह धर्म नही है ।

भय ही अधर्म है ।

क्योंकि, जीवन को न जानने के अतिरिक्त और क्या अधर्म हो सकता है !

८७ / भीतर की अशरीरी चेतना

मैं क्या देखता हूँ कि अधिक लोग वस्त्र ही वस्त्र है ! उनमे वस्त्रों के अतिरिक्त जैसे कुछ भी नही।

क्योकि, जिसको स्वय का ही बोध न हो, उसका होना न-होने के ही बराबर है।

और, जो मात्र वस्त्र ही वस्त्र है, उन्हे क्या मै जीवित कहूँ !

नही मित्र, वे मृत हैं और उनके वस्त्र उनकी कब्रे है।

एक अत्यत सीधे और सरल व्यक्ति ने किसी साधु से पूछा 'मृत्यु क्या है ? और मैं कैसे जानूँगा कि मै मर गया हूँ ?'

उस साधु ने कहा 'मित्र, जब तेरे वस्त्र जीर्ण-शीर्ण हो जावे, तो समझना कि मृत्यु आ गई है।'

उस दिन से वह व्यक्ति जो वस्त्र पहने थे, उनकी देखभाल मे ही लगा रहने लगा। उसने नहाना धोना भी बद कर दिया, क्योकि बार-बार उन वस्त्रो को निकालना और धोना उन्हे अपने ही हाथो क्षीण करना था। उसकी चिता ठीक ही थी, क्योकि वस्त्र ही उसका जीवन जो थे !

लेकिन, वस्त्र तो वस्त्र है और एक दिन वे जीर्ण-शीर्ण हो ही गये। उन्हे नष्ट हुआ देख वह व्यक्ति असहाय हो रोने लगा, क्योंकि उसने जाना कि उसकी मृत्यु आ गई है !

उसे रोता देख लोगों ने पूछा कि क्या हुआ हे ! तो वह बोला 'मैं मर गया हूँ, क्योंकि मेरे वस्त्र फट गये है।'

यह घटना कितनी असभव और काल्पनिक मालूम होती है ! लेकिन, मै पूछता हूँ कि क्या सभी मनुष्य ऐसे ही नही है ? और क्या वे वस्त्रो के नष्ट होने को ही स्वय का नष्ट होना नही समझ लेते है ?

शरीर वस्त्रो के अतिरिक्त और क्या हे !

और, जो स्वय को शरीर ही समझ लेता है, वह वस्त्रों को ही जीवन समझ लेता है।

फिर, इन वस्त्रो का फट जाना ही जीवन का अत मालूम होता है।

जबकि, जो जीवन है—उसका न आदि हे, न अत हे।

शरीर का ही जन्म है, और शरीर की ही मृत्यु है।

वह जो भीतर है, शरीर नही है। वह जीवन है।

उसे जो नही जानता, वह जीवन मे भी मृत्यु मे हे।

और, जो उसे जान लेता है, वह मृत्यु मे भी जीवन को पाता हे।

८८ / भीतर ही है—स्वर्ग भी, नरक भी

किसी ने पूछा : 'स्वर्ग और नरक क्या है ?'

मैंने कहा "हम स्वयं।"

एक बार किसी शिष्य ने अपने गुरु से पूछा "मैं जानना चाहता हूँ कि स्वर्ग और नरक कैसे हैं ?"

उसके गुरु ने कहा **"आँख बंद करो और देखो।"**

उसने आँखे बद की और शात शून्यता में चला गया।

फिर, उसके गुरु ने कहा "अब स्वर्ग देखो।" और थोडी ही देर बाद कहा : "अब नरक।"

जब उस शिष्य ने आँखे खोली थी, तो वे आश्चर्य से भरी हुई थी।

उसके गुरु ने पूछा "क्या देखा ?"

वह बोला. "स्वर्ग मे मैने वह कुछ भी नही देखा, जिसकी कि लोग चर्चा करते हैं। न ही अमृत की नदियाँ थी और न ही स्वर्ण के भवन थे—वहाँ तो कुछ भी नही था। और नरक मे भी कुछ न था। न ही अग्नि की ज्वालाएँ थी और न ही पीड़ितो का रुदन। इसका कारण क्या है ? क्या मैने स्वर्ग नरक देखे या नही देखे ?"

उसका गुरु हँसने लगा और बोला "निश्चय ही तुमने स्वर्ग और नरक देखे है, लेकिन अमृत की नदियाँ और स्वर्ण के भवन या कि अग्नि की ज्वाला और पीड़ा का रुदन तुम्हे स्वय ही वहा ले जाने होते है। वे वहाँ नही मिलते। **जो हम अपने साथ ले जाते हैं, वही वहां हमे उपलब्ध हो जाता है।**

"हम ही स्वर्ग हैं, हम ही नरक हैं।"

व्यक्ति जो अपने अतस् मे होता है, उसे ही अपने बाहर भी पाता है।

बाह्य, आतरिक का ही प्रक्षेपण है।

भीतर स्वर्ग हो, तो बाहर स्वर्ग है।

और, भीतर नरक हो, तो बाहर नरक।

स्वय म ही सब कुछ छिपा है।

शास्त्र क्या कहते है, वह नही—प्रेम जो कहे, वही सत्य है।

क्या प्रेम से भी बडा कोई शास्त्र है ?

एक बार मोजेज किसी नदी के तट से निकल रहे थे। उन्होने एक गडरिये को स्वय से बातें करते हुए सुना।

वह गडरिया कह रहा था "ओ परमात्मा, मैंने तेरे सम्बन्ध मे बहुत-सी बाते सुनी हैं। तू बहुत सुदर है, बहुत प्रिय है, बहुत दयालु है—यदि कभी तू मेरे पास आया, तो मैं अपने स्वय के कपडे तुझे पहनाऊँगा और जगली जानवरो से रात-दिन तेरी रक्षा करूँगा। रोज नदी मे नहलाऊँगा और अच्छी से अच्छी चीजे खाने को दूँगा—रोटी और मक्खन। मैं तुझे इतना प्रेम करता हूँ। परमात्मा ! मुझे दर्शन दे। यदि एक भी बार मै तुझे देख पाऊँ, तो मैं अपना सब कुछ तुझे दे दूँगा।"

यह सब सुन मोजेज ने उस गडरिये से कहा "ओ मूर्ख ! यह सब क्या कह रहा है ? ईश्वर जो कि सबका रक्षक है, उसकी तू रक्षा करेगा ? उसे तू रोटी देगा और अपने गदे वस्त्र पहनायेगा ? उस पवित्रतम परमात्मा को तू नदी मे नहलायेगा और **सब-कुछ ही जिसका है, उसे तू अपना सब कुछ देने का प्रलोभन दे रहा है ?"**

उस गड़रिये ने यह सब सुना, तो बहुत दु:ख और पश्चात्ताप मे कॉपने लगा। उसकी आँखे आँसुओ मे भर गई और वह परमात्मा से क्षमा माँगने को घुटने टेक कर जमीन पर बैठ गया।

लेकिन, मोजेज कुछ ही कदम गये होगे कि उन्होने अपने हृदय की अतरतम गहराई से यह आवाज आती हुई सुनी "पागल ! यह तूने क्या किया ? मैंने तुझे भेजा है कि तू मेरे प्यारो को मेरे निकट ला, लेकिन तूने तो उल्टे ही एक प्यारे को दूर कर दिया है !"

"परमात्मा को कहाँ खोजे ?"

मैंने कहा **"प्रेम मे।** और प्रेम हो तो याद रखना कि वह पाषाण मे भी है।"

९७/ स्वयं को पाना ही सब-कुछ पा लेना है

आविष्कार ! आविष्कार ! आविष्कार !—कितने आविष्कार रोज हो रहे है ? लेकिन जीवन संताप मे संताप बनता जाता है।

नरक को समझाने के लिये अब किन्ही कल्पनाओ को करने की आवश्यकता नही। इस जगत् को बतला कर कह देना ही काफी है 'नरक ऐसा होता है।'

और, इसके पीछे कारण क्या है ? कारण है कि मनुष्य स्वय आविष्कृत होने से रह गया है।

मै देख रहा हूँ कि मनुष्य के लिये अतरिक्ष के द्वार खुल गये है, और उसकी आकाश की सुदूरगामी यात्रा की तैयारी भी पूरी हो चुकी है।

लेकिन, क्या आश्चर्यजनक नही है कि स्वय के अतस् के द्वार ही उसके लिये बद हो गये हैं।

और, उस यात्रा का खयाल ही उसे विस्मरण हो गया है, जो कि वह अपने ही भीतर कर सकता है !

मै पूछता हूँ कि यह पाना है या कि खोना ?

मनुष्य ने यदि स्वयं को खोकर शेष सब कुछ भी पा लिया, तो उसका क्या अर्थ है और क्या मूल्य है !

समग्र ब्रह्माण्ड की विजय भी उस छोटे से बिदु को खोने का घाव नही भर सकती है, जो कि वह स्वय है, जो कि उसकी निज सत्ता का केद्र है।

रात्रि ही कोई पूछता था 'मै क्या करूँ और क्या पाऊँ ?'

मैने कहा "स्वय को पाओ। और जो भी करो, ध्यान रखो कि वह स्वय के पाने मे सहयोगी बने।

"स्वयं से जो दूर ले जावे, वही है अधर्म। और जो स्वयं मे ले आवे, उसे ही मैंने धर्म जाना है।"

स्वय के भीतर प्रकाश की छोटी-सी ज्योति भी हो तो सारे ससार का अधेरा पराजित हो जाता है।

और, यदि स्वय के केद्र पर अधकार हो, तो बाह्याकाश के करोड़ों सूर्य भी उसे नही मिटा पाते है।

९१ / प्रेम है द्वार प्रभु का

मेरा सदेश छोटा-सा है—"प्रेम करो। सबको प्रेम करो।" और घ्यान रहे कि इससे बड़ा कोई भी सन्देश न है, न हो सकता है।

मैंने सुना है .

एक सध्या किसी नगर से एक अर्थी निकलती थी। बहुत लोग उस अर्थी के साथ थे। और कोई राजा नही, बस, एक भिखारी मर गया था। जिसके पास कुछ भी नही था, उसकी विदा मे इतने लोगो को देख सभी आश्चर्य चकित थे।

एक बडे भवन की नौकरानी ने अपनी मालकिन को जाकर कहा कि किसी भिखारी की मृत्यु हो गई है *और वह स्वर्ग गया है।*

मालकिन को मृतक के स्वर्ग जाने की इस अधिकारपूर्ण घोषणा पर हँसी आई और उसने पूछा "क्या तूने उसे स्वर्ग मे प्रवेश पाते देखा है?"

वह नौकरानी बोली : "निश्चय ही मालकिन! यह अनुमान तो बिलकुल ही सहज है, क्योंकि जितने भी लोग उस अर्थी के साथ थे, वे सभी फूट-फूटकर रो रहे थे। क्या वह तय नही है कि मृतक जिनके बीच था, उन सब पर ही अपने प्रेम के चिह्न छोड गया है?"

प्रेम के चिह्न— मै भी सोचता हूँ, तो दीखता है कि प्रेम के चिह्न ही तो प्रभु के द्वार की सीढियाँ हैं।

प्रेम के अतिरिक्त परमात्मा तक जाने वाला मार्ग ही कहाँ है?

परमात्मा को उपलब्ध हो जाने का इसके अतिरिक्त और क्या प्रमाण है कि इस पृथ्वी पर प्रेम को उपलब्ध हो गये थे?

पृथ्वी पर जो प्रेम है, परलोक मे वही परमात्मा है।

प्रेम जोड़ता है, इसलिये प्रेम ही परम ज्ञान है।

क्योंकि, जो तोडता है, वह ज्ञान ही कैसे होगा?

जहाँ ज्ञाता से ज्ञेय पृथक है, वही अज्ञान है।

९२/आस्था और निष्ठा--शुभ पर, सत्य पर, सौंदर्य पर

"मनुष्य शुभ है या अशुभ ?"

मैंने कहा "स्वरुपत शुभ।"

"और, इस आशा और अपेक्षा को सबल होने दो।"

"क्योकि, जीवन मे ऊर्ध्वगमन के लिये इससे अधिक महत्वपूर्ण और कुछ भी नही है।"

एक राजा की कथा है, जिसने कि अपने तीन दरबारियो को एक ही अपराध के लिये तीन प्रकार की सजाएँ दी थी।

पहले को उसने कुछ वर्षों के लिये कारावास दिया, दूसरे को देश निकाला और तीसरे से मात्र इतना ही कहा "मुझे आश्चर्य है—ऐसे कार्य की तुमसे मैंने कभी भी अपेक्षा नही की थी ?"

और जानते है कि इन भिन्न सजाओं का परिणाम क्या हुआ ?

पहला व्यक्ति दुःखी हुआ और दूसरा व्यक्ति भी और तीसरा व्यक्ति भी। लेकिन, उनके दुःख के कारण भिन्न थे।

तीनो ही व्यक्ति अपमान और असम्मान के कारण दुःखी थे।

लेकिन, पहले और दूसरे व्यक्ति का अपमान दूसरों के समक्ष था, तीसरे का अपमान स्वय के।

और, यह भेद बहुत बड़ा है।

पहले व्यक्ति ने थोडे ही दिनो मे कारागृह के लोगो से मैत्री कर ली और वही आनन्द से रहने लगा।

दूसरे व्यक्ति ने भी देश के बाहर जाकर बहुत बडा व्यापार कर लिया और धन कमाने मे लग गया।

लेकिन, तीसरा व्यक्ति क्या करता ? **उसका पश्चात्ताप गहरा था, क्योकि वह स्वयं के समक्ष था।** उससे शुभ की अपेक्षा की गई थी। उसे शुभ माना गया था। और यही बात उसे काँटे की भाँति गडने लगी और यही चुभन उसे ऊपर भी उठाने लगी। उसका परिवर्तन प्रारभ हो गया, क्योकि जो उससे चाहा गया था, वह स्वय भी उसकी ही चाहों से भर गया था।

शुभ पर आस्था, शुभ के जन्म का प्रारभ है।

सत्य पर विश्वास, उसके अंकुरण के लिये वर्षा है।

और, सौंदर्य पर निष्ठा, सोये सौंदर्य को जगाने के लिए सूर्योदय है।

स्मरण रहे कि तुम्हारी आँखें किसी मे अशुभ को स्वरूपत: स्वीकार न करें।

क्योंकि, उस स्वीकृति मे बड़ी अशुभ और कोई बात नही।

क्योंकि, वह स्वीकृति ही उसमें अशुभ को थिर करने का कारण बन जावेगी।

अशुभ किसी का स्वभाव नही है, वह दुर्घटना है।

और, इसीलिए ही उसे देखकर व्यक्ति स्वय के समक्ष ही अपमानित भी होता है।

सूर्य बदलियों मे छिप जाने से स्वय बदलियाँ नही हो जाता है। बदलियो पर विश्वास न करना—किसी भी स्थिति में।

सूर्य पर ध्यान हो, तो उसके उदय मे शीघ्रता होती है।

९३/भय चचलता है--और अभय समाधि

धर्म में जो भय से प्रवेश करते है, वे भ्रम मे ही रहते है कि उनका धर्मप्रवेश हुआ है।

भय और धर्म का विरोध है।

अभय के अतिरिक्त धर्म का और कोई द्वार नहीं है।

कोई पूछता था "आप कहते है कि प्रभु भीतर है। पर मुझे तो कोई भी दिखाई नही पडता ?"

उनसे मैंने कहा "मित्र तुम ठीक ही कहते हो। लेकिन **उसका न दिखाई पड़ना, उसका न-होना नहीं है।** बादल घिरे हो, तो सूर्य के दर्शन नही होते और आँखे बद हो, तो भी उसका प्रकाश दिखाई नही पडता।"

मैं खुद हजारो आँखो मे झाँकता हूँ और हजारो हृदयो मे खोज करता हूँ, तो मुझे वहाँ भय के अतिरिक्त और कुछ भी दिखाई नही पडता।

और, स्मरण रहे कि जहाँ भय है, वहाँ भगवान् का दर्शन नही हो सकता।

भय काली बदलियो की भाँति उस सूर्य को ढँके रहता है।

और, भय का धुआँ ही आँखो को भी नही खुलने देता।

भगवान् मे जिसे प्रतिष्ठित होना हो, उसे भय को विसर्जित करना होगा।

इसलिए, यदि उस सत्ता के दर्शन चाहते हो, तो समस्त भय का त्याग कर दो।

भय से कपित चित्त शात नही हो पाता है, और इसलिए जो निकट ही है, जो कि तुम स्वय ही हो, उसका भी दर्शन नही होता।

भय कपन है, अभय थिरता है।

भय चचलता है, अभय समाधि है।

भय मन के लिये क्या करता है ?--वही जो अधापन आँखो के लिये करता है

सत्य की खोज मे भय को कोई स्थान नही।

स्मरण रहे कि भगवान् के भय को भी कोई स्थान नही है।

भय तो भय है, इससे कोई भेद नही पडता कि वह किसका है।

पूर्ण अभय सत्य के लिय आँखो को खोल देता है।

९४/परमात्मा की अभीप्सा और प्राणों का ऊर्ध्वगमन

आदर्श को चुनने मे कभी कजूसी मत करना।

वह तो ऊँचा से ऊँचा होना चाहिये।

वस्तुतः तो परमात्मा से नीचे जो है, वह आदर्श ही नही है।

आदर्श उसकी भविष्यवाणी है, जो कि अतत तुम करके दिखा दोगे।

वह तुम्हारे स्वरूप के परम अभिव्यक्ति की घोषणा है।

सुबह से साँझ तक बहुत लोग मेरे पास आते है। उनसे मै पूछता हूँ कि तुम्हारे प्राण कहाँ है? एकाएक वे समझ नही पाते।

फिर, मै उनसे कहता हूँ कि प्रत्येक के प्राण उसके जीवनादर्श मे होते है। वह जो होना चाहता है, जो पाना चाहता है, उसमे ही उसके प्राण होते है। और जो कुछ भी नही होना चाहता है, कुछ भी नही पाना चाहता हे, वही निष्प्राण है।

यह हमारे हाथो मे है कि हम अपने प्राण कहाँ रखे।

जो जितनी ऊँचाइयो या नीचाइयो पर उन्हे रखता है, उतनी ही ऊर्ध्वमुखी या अधोगामी उसकी जीवनधारा हो जाती है।

प्राण जहाँ होते है, आँखे वही लगी रहती है और श्वास-प्रश्वास मे स्मृति उसी ओर दौडती रहती है।

और, स्मृति जिस दिशा मे दौडती है, क्रमश विचार उसी पथ पर बीजारोपित होने लगते है।

विचार आचार के बीज है।

आज जो विचार है, कल वही अनुकूल अवसर पाकर, अकुरित हो, आचार बन जाता है।

इसलिए, जीवन मे सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है—अपने प्राणो को रखने के लिये सम्यक् स्थल चुनना।

जो इस चुनाव के बिना चलते है, वे उन नावो की भाँति है, जो सागर मे छोड दी गई है, लेकिन जिन्हे गतव्य का कोई बोध नही। ऐसी नावे निकलने के पहले ही डूबी समझी जानी चाहिए।

जो अविवेक और प्रमाद मे बहते रहते है, उनके प्राण उनकी दैहिक वासनाओ मे ही केंद्रित हो जाते है।

ऐसे व्यक्ति, शरीर के ऊपर और किसी सत्य से परिचित नही हो पाते।

वे उस परमनिधि से वंचित ही रह जाते है, जो कि उनके ही भीतर छिपी हुई थी।

अविवेक और प्रमाद से जागकर आँखे खोलो और उन हिमाच्छादित जीवन शिखरो को देखो, जो कि सूर्य के प्रकाश मे चमक रहे है और तुम्हें अपनी ओर बुला रहे है।

यदि तुम अपने हृदय में उन तक पहुँचने की आकांक्षा को जन्म दे सको, तो वे जरा भी दूर नहीं हैं।

सत्य के सम्बन्ध मे विवाद सुनता हूँ, तो आश्चर्य होता है।

निश्चय ही जो विवाद मे हैं, वे अज्ञान मे होगे। क्योंकि, ज्ञान तो निर्विवाद है।

ज्ञान का कोई पक्ष नहीं है।

सभी पक्ष अज्ञान के हैं।

ज्ञान तो निष्पक्ष है।

फिर, जो विवादग्रस्त विचारधाराओ और पक्षपातो मे पड़ जाते हैं, वे स्वय अपने ही हाथो सत्य के और स्वय के बीच दीवारे खडी कर लेते है।

मेरी सलाह है विचारो को छोडो और निर्विचार हो रहो।

पक्षों को छोड़ो और निष्पक्ष हो जाओ।

क्योकि, इसी भाँति वह प्रकाश उपलब्ध होता है, जो कि सत्य को उद्घाटित करता है।

एक अधकारपूर्ण गृह मे एक बिलकुल नये और अपरिचित जानवर को लाया गया था। उसे देखने को बहुत से लोग उस अँधेरे मे जा रहे थे। चूकि घने अधकार के कारण आँखो से देखना समव नही था, इसलिये प्रत्येक उसे हाथो मे स्पर्श करके ही देख रहा था।

एक व्यक्ति ने कहा "राजमहल के खभो की भाँति है यह जानवर।" और किसी दूसरे ने कहा 'नही, एक बडे पखे की भाँति।' और तीसरे ने कुछ और कहा और चौथे ने कुछ और।

वहाँ जितने व्यक्ति थे, उतने ही मत हो गये। उनमे तीव्र विवाद और विरोध हो गया।

सत्य तो एक था। लेकिन, मत अनेक थे।

उस अधकार मे एक हाथी बँधा हुआ था। प्रत्येक ने उसके जिस अग को स्पर्श किया था, उसे ही वह सत्य मान रहा था।

काश! उनमे से प्रत्येक के हाथ मे एक-एक दिया रहा होता, तो न तो कोई विवाद पैदा होता, न कोई विरोध ही!

उनकी कठिनाई क्या थी? प्रकाश का अभाव ही उनकी कठिनाई थी।

वही कठिनाई हम सबकी भी है।

जीवन सत्य को समाधि के प्रकाश में ही जाना जा सकता है।

जो विचार से उसका स्पर्श करते हैं, वे निर्विवाद सत्य को नहीं, मात्र विवादग्रस्त मतों को ही उपलब्ध हो पाते हैं।

सत्य को जानना है, तो सिद्धातो को नही, प्रकाश को खोजना आवश्यक है।

प्रश्न विचारो का नही, प्रकाश का ही है।

और, प्रकाश प्रत्येक के भीतर है।

जो व्यक्ति विचारो की आँधियो से स्वय को मुक्त कर लेता है, वह उस चिन्मय-ज्योति को पा लेता है, जो कि सदा से उसके भीतर ही जल रही है।

९६ / जिससे अभय आवे—वही वास्तविक सम्पत्ति

मैं लोगो को भय से कांपते देखता हूँ।

उनका पूरा जीवन ही भय के नारकीय कंपन मे बीत जाता है, क्योंकि वे केवल उस संपत्ति को ही जानते है, जो कि उनके बाहर है।

बाहर की सपत्ति जितनी बढती है, उतना ही भय बढ जाता है—जब कि लोग भय को मिटाने को ही बाहर की सपत्ति के पीछे दौडते हैं !

काश ! उन्हे ज्ञात हो सके कि एक और सपदा भी है, जो कि प्रत्येक के भीतर है। और, जो उसे जान लेता है, वह अभय हो जाता है।

अमावस की सध्या थी। सूर्य पश्चिम मे ढल रहा था और शीघ्र ही रात्रि का अधकार उतर आने को था।

एक वृद्ध सन्यासी अपने एक युवा शिष्य के साथ वन से निकलते थे। अँधेरे को उतरते देख उन्होने युवक से पूछा . "रात्रि होने को है, बीहड वन है। आगे मार्ग मे कोई भय तो नही है ?"

इस प्रश्न को सुन युवा सन्यासी बहुत हैरान हुआ। सन्यासी को भय कैसा ? **भय बाहर तो होता नहीं, उसकी जड़े तो निश्चय ही कहीं भीतर होती हैं !**

सध्या ढले, वृद्ध सन्यासी ने अपना झोला युवक को दिया और वे शौच को चले गये। झोला देते समय भी वे चितित और भयभीत मालूम हो रहे थे। उनके जाते ही युवक ने झोला देखा, तो उसमे एक सोने की ईट थी ! उसकी समस्या समाप्त हो गई। उसे भय का कारण मिल गया था।

वृद्ध ने आते ही शीघ्र झोला अपने हाथ मे ले लिया और उन्होने पुन यात्रा आरम्भ कर दी।

रात्रि जब और भी सघन हो गई और निर्जर वन-पथ पर अधकार ही अधकार शेष रह गया, तो वृद्ध ने पुन वही प्रश्न पूछा। उसे सुनकर युवक हँसने लगा और बोला "आप अब निर्भय हो जावे। हम भय के बाहर आ गये है !"

वृद्ध ने साश्चर्य युवक को देखा और कहा "अभी वन कहाँ समाप्त हुआ है ?" युवक ने कहा . "वन तो नही भय समाप्त हो गया है। उसे मैं पीछे कुएँ मे फेक आया हूँ !"

यह सुन वृद्ध ने घबडाकर अपना झोला देखा। वहाँ तो सोने की जगह पत्थर की एक ईट रखी थी ! एक क्षण को तो उसे अपने हृदय की गति बद होनी प्रतीत हुई।

लेकिन, दूसरे ही क्षण वह जाग गया और वह अमावस की रात्रि उसके लिये पूर्णिमा की रात्रि बन गई !

आँखो मे आ गये इस आलोक मे आनन्दित हो, वह नाचने लगा। एक अद्‌भुत सत्य का उसे दर्शन हो गया था।

उस रात्रि फिर वे उसी वन मे सो गये थे। लेकिन, अब वहाँ न तो अंधकार था, न ही भय था !

सपत्ति और सपत्ति मे भेद है।

वह सपत्ति जो बाह्यसग्रह से उपलब्ध होती है, वस्तुत सपत्ति ही नही है, अच्छा हो कि उसे विपत्ति ही कहे !

वास्तविक सपत्ति तो स्वय को उघाड़ने से ही प्राप्त होती है।

जिससे भय आवे, वह विपत्ति है--और जिससे अभय, उसे ही मैं संपत्ति कहता हूँ।

९७ / भीतर जागरण हो, तो बाहर पुण्य फलित

कुछ युवको ने मुझसे पूछा 'पाप क्या है ?'

मैंने कहा : 'मूर्च्छा।'

वस्तुतः होशपूर्वक कोई भी पाप करना असंभव है।

इसलिए, मै कहता हूँ कि जो परिपूर्ण होश मे हो सके, वही पुण्य है। और, जो मूर्च्छा, बेहोशी के बिना न हो सके वही पाप है।

एक अधकारपूर्ण रात्रि मे किसी युवक ने एक साधु के झोपडे मे प्रवेश किया। उसने जाकर कहा "मै आपका शिष्य होना चाहता हूँ।"

साधु ने कहा. "स्वागत है। परमात्मा के द्वार पर सदा ही सबका स्वागत है।"

वह युवक कुछ हैरान हुआ और बोला "लेकिन बहुत त्रुटियाँ है मुझमे—मै बहुत पापी हूँ ?"

यह सुन साधु हँसने लगा और बोला "परमात्मा तुम्हे स्वीकार करता है, तो मै अस्वीकार करनेवाला कौन हूँ ? मै भी सब पापो के साथ तुम्हे स्वीकार करता हूँ।"

उस युवक ने कहा "लेकिन मै जुआ खेलता हूँ, मै शराब पीता हूँ—मै व्यभिचारी हूँ।"

वह साधु बोला. "इन सबसे कोई भेद नही पडता। लेकिन देखो! मैने तुम्हे स्वीकार किया, क्या तुम भी मुझे स्वीकार करोगे? क्या तुम जिन्हे पाप कह रहे हो, उन्हे करते समय कम से कम इतना ध्यान रखोगे कि मेरी उपस्थिति मे उन्हे न करो। मै इतनी तो आशा कर ही सकता हूँ ?" उस युवक ने आश्वासन दिया। गुरु का इतना आदर तो स्वाभाविक ही था।

लेकिन कुछ दिनो बाद जब वह लौटा और उसके गुरु ने पूछा कि तुम्हारे उन पापों का क्या हाल है, तो वह हँसने लगा और बोला "मै जैसे ही उनकी मूर्च्छा मे पडता हूँ कि आपकी आँखे सामने आ जाती है और मै जाग जाता हूँ।

"आपकी उपस्थिति मुझे जगा देती है। और **जागते हुए तो गड्ढो मे गिरना असम्भव है!**"

मेरे देखे पाप और पुण्य मात्र कृत्य ही नही है।

वस्तुत, तो वे हमारे अत करण के सोये होने या जागे होने की सूचनाएँ है।

जो सीधे पापो से लडता है, या पुण्य करना चाहता है, वह भूल मे है।

सवाल कुछ 'करने' या 'न-करने' का नहीं है।

सवाल तो भीतर कुछ 'होने' या 'न-होने' का है।

और, यदि भीतर जागरण है—होश है—स्व-बोध है, तो ही तुम हो, अन्यथा घर के मालिक के सोये होने पर जैसे चोरों को सुविधा होती है, वैसी ही सुविधा पापों को भी है।

९८/स्वयं का सतत सृजन

मनुष्य को प्रतिक्षण और प्रतिपल स्वयं को नया कर लेना होता है। उसे अपने को ही जन्म देना होता है।

स्वय के सतत जन्म को इस कला को जो नहीं जानते है, वे जानें कि वे कभी के ही मर चुके हैं।

रात्रि कुछ लोग आये थे। वे पूछने लगे "धर्म क्या है ?"

मैने उनने कहा धर्म मनुष्य के प्रभु में जन्म की कला है।

मनुष्य मे आत्म-ध्वस और आत्म-सृजन की दोनो ही शक्तियाँ है।

वह अपना विनाश और विकास दोनो ही कर सकता है।

और, इन दोनो विकल्पो म से कोई भी चुनने को वह स्वतत्र है।

यही उसका स्वय के प्रति उत्तरदायित्व है।

उसका अपने प्रति प्रेम विश्व के प्रति उसके प्रेम का उद्‌भव है।

वह जितना स्वय को प्रेम कर सकेगा, उतना ही उसके आत्मघात का मार्ग बद होता है।

और, जो-जो उसके लिये आत्मघाती है, वही-वही ही औरो के लिय अधर्म है।

स्वय को सत्ता और उसकी सभावनाओ के विकास के प्रति प्रेम का अभाव ही पाप बन जाता है।

इस भाँति पाप और पुण्य, शुभ और अशुभ, धर्म और अधर्म का स्रोत उसके भीतर ही विद्यमान है—परमात्मा मे या अन्य किसी लोक मे नही।

इस सत्य की तीव्र और गहरी अनुभूति ही परिवर्तन लाती है और उस उत्तर-दायित्व के प्रति हमे सजग करती है, जो कि मनुष्य होने मे अतर्निहित है।

तब, जीवन-मात्र जीना नही रह जाता।

उसमे उदात्त तत्वो का प्रवेश हो जाता है, और हम स्वय का सतत सृजन करने मे लग जाते हैं।

जो इस बोध को पा लेते हैं, वे प्रतिक्षण स्वय को ऊर्ध्व से ऊर्ध्व लोक मे जन्म देते रहते है।

इस सतत सृजन से ही जीवन का सौंदर्य उपलब्ध होता है।

और, प्राणो को वह लय और छद मिलता है, जो कि क्रमश घाटियो के अधकार

और कुहासे मे ऊपर उटकर हमारी हृदय की आंखो को सूर्य के दर्शन मे समर्थ बनाता है।"

जीवन एक कला है।

और, मनुष्य अपने जीवन का कलाकार भी है और कला का उपकरण भी।

जो जैसा अपने को बनाता है, वैसा ही अपने को पाता है।

स्मरण रहे कि मनुष्य बना-बनाया पैदा नही होता।

जन्म मे तो हम अनगढ़े पत्थरो की भाँति ही पैदा होते हैं।

फिर, जो कुरूप या सुदर मूर्तियाँ बनती है, उनके सृष्टा हम ही होते हैं।

[१९] परमात्मा को पाये बिना संतृप्ति नहीं, शांति नही

परमात्मा के अतिरिक्त और कोई सतुष्टि नही ।

उसके सिवाय और कुछ भी मनुष्य के हृदय को भरने मे असमर्थ है ।

एक राजमहल के द्वार पर बडी भीड लगी थी । किसी फकीर ने सम्राट् से भिक्षा माँगी थी । सम्राट् ने उससे कहा "जो भी चाहते हो, माँग लो ।" दिवस के प्रथम याचक की कोई भी इच्छा को पूरा करने का उसका नियम था ।

उस फकीर ने अपने छोटे से भिक्षापात्र को आगे बढाया और कहा - "बस, इसे स्वर्ण मुद्राओं से भर दें ।" सम्राट् ने सोचा इससे सरल बात और क्या हो सकती है !

लेकिन, जब उस भिक्षा पात्र में स्वर्ण मुद्राएँ डाली गईं, तो ज्ञात हुआ कि उसे भरना असम्भव था । वह तो जादुई था । जितनी अधिक मुद्राएँ उसमे डाली गई, वह उतना ही अधिक खाली होता गया !

सम्राट् को दुःखी देख वह फकीर बोला "न भर सकें, तो वैसा कह दें । मै खाली पात्र ही लेकर चला जाऊँगा ! ज्यादा से ज्यादा इतना ही तो होगा कि लोग कहेंगे कि सम्राट् अपना वचन पूरा नही कर सके !"

सम्राट ने अपने सारे खजाने खाली कर दिये, लेकिन खाली पात्र खाली ही था । उसके पास जो कुछ भी था. सभी उस पात्र मे डाल दिया गया, लेकिन, वह अद्‌भुत पात्र न भरा, सो न भरा ।

तब, उस सम्राट् ने पूछा 'भिक्षु, तुम्हारा पात्र साधारण नही है । उसे भरना मेरी सामर्थ्य के बाहर है । क्या मै पूछ सकता हूँ कि इस अद्‌भुत पात्र का रहस्य क्या है ?'

वह फकीर हँसने लगा और बोला · 'कोई विशेष रहस्य नही है । यह पात्र मनुष्य के हृदय से बनाया गया है ।'

क्या आपको ज्ञात नही कि **मनुष्य का हृदय कभी भी भरा नही जा सकता है ? धन से, पद से, ज्ञान से—किसी से भी भरो, वह खाली ही रहेगा,** क्योंकि इन चीजो मे भरने के लिये वह बना ही नही है !

इस सत्य को न जानने के कारण ही मनुष्य जितना पाता है, उतना ही दरिद्र होता जाता है ।

हृदय की इच्छाएँ कुछ भी पाकर शात नही होती है ।
क्योकि, हृदय तो परमात्मा को पाने के लिये बना है ।'
शाति चाहते हो ? सतृप्ति चाहते हो ?

तो अपने सकल्प को कहने दो कि परमात्मा के अतिरिक्त और मुझे कुछ भी नही चाहिए ।

१०९ / जागो और देखो—सब कुछ परमात्मा ही है

ईश्वर कहाँ है ?

ईश्वर को खोजते लोग मेरे पास आते हैं।

मैं उनसे कहता हूँ कि ईश्वर तो प्रतिक्षण और प्रत्येक स्थान पर है।

उसे खोजने कहीं भी जाने की आवश्यकता नहीं।

जागो—और देखो।

और जागकर जो भी देखा जाता है, वह सब परमात्मा ही है।

सूफी कवि हफीज अपने गुरु के आश्रम मे था। और भी बहुत से शिष्य वहाँ थे।

एक रात्रि गुरु ने सारे शिष्यों को शात ध्यानस्थ हो बैठने को कहा। आधी रात गये गुरु ने धीमे से बुलाया . 'हफीज'। सुनते ही तत्क्षण हफीज उठकर आया। गुरु ने जो उसे बताना था, बताया। फिर थोडी देर बाद उसने किसी और को बुलाया। लेकिन, आया हफीज ही।

इस भाँति दस बार उसने बुलाया। लेकिन, बार-बार आया हफीज ही। क्योकि, शेष सब तो सो रहे थे!

परमात्मा भी प्रतिक्षण प्रत्येक को बुला रहा है—सब दिशाओ से, सब मार्गों से उसकी ही आवाज आ रही है। लेकिन, हम तो सोये हुए हैं।

जो जागता है, वह उसे सुनता है ; और जो जागता है, केवल वही उसे पाता है।

इसलिए कहता हूँ कि **ईश्वर की फिक्र मत करो।**

उसकी चिंता व्यर्थ है।

चिंता करो स्वयं को जगाने की।

निद्रा मे जो हम जान रहे है, वह ईश्वर का ही विकृत रूप है।

यह विकृत अनुभव ही ससार है।

जागते ही संसार नहीं पाया जाता है और जो पाया जाता है, वही सत्य है।

सत्य सब ओर है।

वस्तुत, वही है और कुछ भी नहीं है।

लेकिन, हम स्वप्न मे हैं और इसलिए 'जो है', वह दिखाई नहीं पड़ता है।

स्वप्नो को छोड़ो।

संसार को नहीं, स्वप्न को छोड़ना ही संन्यास है।

और, जो स्वप्नो को छोडने म समर्थ हो जाता है, वह पाता है कि वह तो स्वयही सत्य है।

अंतर्वीणा

अंतर्वीणा

भगवान् श्री रजनीश द्वारा अपने विभिन्न प्रेमिजनों,
साधकों, शिष्यों एवं सन्यासियों को लिखे गये
एक सौ पचास अमृत-पत्र

पूर्व-रंग

जीवन के सत्य को—रहस्य को, स्रोत को, सार्थकता को, जिन्होने भी जाना और जिया है, उनका व्यक्तित्व बन जाता है—एक सगीत, एक आलोक, एक अमृत ।

और फिर, ऐसे व्यक्ति के अस्तित्व-मात्र से प्रेम की किरणे बिखरती हैं—आनन्द के झरने फूटते हैं—दिव्य-सगीत की लहरियाँ फैलती है—और समग्र प्राण आह्लाद से नाच उठते है।

और, यह प्रत्येक व्यक्ति की सभावना है कि उसके जीवन मे प्रेम के फूल खिले—मुक्ति की सुवास उठे—निर्वाण का आलोक उतरे—और प्राणों से एक दिव्य सगीत व पुलक विकीर्ण हो।

लेकिन, क्यो मनुष्य एक सताप, एक पीडा, एक उदासी, एक रिक्तता और अर्थहीनता मात्र रह गया है ?

क्या है कारण ?

कहाँ है गलती ?

क्यों हो गया है ऐसा ?

मूल मे कारण यह है कि मनुष्य के जीवन से समता खो गयी है, सामञ्जस्य बिखर गया है, सतुलन टूट गया है ।

और, जीवन है—एक वीणा की भाँति ।

जिसके तार यदि अधिक कसे हो, तो भी सगीत नष्ट हो जाता है ।

और, यदि तार अधिक ढीले हो, तो भी सगीत खो जाता है ।

चाहिए मध्य का सतुलन ।

न तार कसे हो, न तार ढीले हो ।

इसी समता मे रहस्य है—जीवन-सगीत का ।

और, जो व्यक्ति जीवन मे इस समता को—स्वर्ण-मध्य (Golden Mean) को साध लेता है, उसका ही जीवन एक कृतार्थता बन पाता है ।

और, इस 'जीवन-सगीत' को, 'निर्विचार-शून्य' को, 'निर्भाव की समता' को और 'अ-दिशा मे ठहराव' को अपने मे जन्म देने की कीमिया है—ध्यान मे प्रवेश ।

ध्यान ही वह द्वार है जो सगीतमय, आलोकमय, आनन्दमय अन्तर्जगत् मे ले जाता है।

अतः यदि जीवन को बनाना हो एक सगीत, एक गीत, एक नृत्य और एक उत्सव, तो उतरे ध्यान मे।

छलाँग लगाएँ ध्यान मे।

डूबे ध्यान मे—प्रार्थना मे—समर्पण मे।

इसी आमत्रण के साथ,

इसी आह्वान के साथ,

इसी पुकार के साथ—

भगवान्श्री की अमृत-लेखनी मे उद्भूत हुए है प्रस्तुत पत्र।

ये पत्र साधको और सत्य के प्यासो को व्यक्तिगत तौर पर लिखे गये है।

इसलिए, वे आपके अपने भी सिद्ध होगे।

ये पत्र आपके हृदय को गुदगुदा जावेगे।

प्राणो की अन्तर्वीणा को छेड जायेगे।

वे आपमे भी आनन्द-अश्रु और प्रेम की सिहरने पैदा कर जावेगे।

इन्हे पढकर आपके भीतर भी बहुत-कुछ जग जायेगा।

और, आपकी चेतना किसी अतर्यात्रा पर निकल पडेगी।

भगवान्श्री के पत्रो के सकलन विश्व-साहित्य मे ऐतिहासिक (Classic) स्थान बना जायेंगे, ऐसा स्पष्ट अनुभव होता है। इस आश्वासन के साथ ही प्रस्तुत है . भगवान्श्री की—'अन्तर्वीणा'।

—स्वामी योग चिन्मय

२६ जनवरी, १९७१

पत्र शीर्षक

१/आनंद है भीतर

प्रिय बहिन,

प्रणाम। मैं परसो दिल्ली से लौटा, तो आपका पत्र मिला है।

यह जानकर प्रसन्न हूँ कि आपको आनन्द और सतोष का अनुभव हो रहा है।

आनन्द भीतर है।

उसकी खोज बाहर करते हैं, इससे वह नही मिलता है।

एक बार भीतर की यात्रा प्रारंभ हो जावे, तो फिर निरंतर आनन्द के नये-नये स्रोत खुलते चले जाते हैं।

वह राज्य जो भीतर है—वहाँ न दुख है, न पीडा है, न मृत्यु है।

उस अमृत मे पहुँचकर एक नया जन्म हो जाता है।

और, वहाँ जो दर्शन होता है, उसमे सब ग्रथियाँ कट जाती हैं।

इस मुक्त स्थिति को उपलब्ध कर लेना ही जीवन का लक्ष्य है।

यह स्थिति 'स्व' और 'पर' को गिरा देती है।

केवल सत्ता रह जाती है सीमा और विशेषण-शून्य—निराकार और अरूप।

इसके पूर्व जो था, वह **अहं-सत्ता** थी, अब जो होता है, वह **ब्रह्म-सत्ता** है।

यह पाया कि सब पाया।

यह जाना कि सब जाना।

इसमे होते ही—हिंसा और घृणा, दुख और पीडा, मृत्यु और अँधेरा—सब गिर जाता है।

जो शेष बचता है, वह सत्-चित्-आनन्द है।

इस सत्-चित्-आनन्द को पा सको, यही कामना है।

रजनीश के प्रणाम

८ मार्च १९६३ (प्रभात)

[प्रति सुश्री जया शाह, बम्बई]

२ / धैर्य साधना का प्राण है

प्रिय बहिन,

सत्य प्रत्येक क्षण, प्रत्येक घटना से प्रकट होता है। उसकी अभिव्यक्ति नित्य हो रही है।

केवल, देखने को आँख चाहिए, प्रकाश सदैव उपस्थित है।

एक पौधा वर्ष भर पहले रोपा था। अब उसमे फूल आने शुरू हुए है। एक वर्ष की प्रतीक्षा है, तब कही फल है।

ऐसा ही आत्मिक जीवन के सबध मे भी है।

प्रार्थना करो और प्रतीक्षा करो—बीज बोओ और फूलो के आने की राह देखो।

धैर्य साधना का प्राण है।

कुछ भी समय के पूर्व नहीं हो सकता है। प्रत्येक विकास समय लेता है।

और, वे धन्य है, जो धैर्य से बाट जोह सकते है।

आपका पत्र मिला है। आशा-निराशा के बीच मार्ग बनाते चल रही है. यह जानकर मन को बहुत खुशी होती है।

जीवन-पथ बहुत टेढा-मेढा है।

और, यह अच्छा ही है।

इससे पुरुषार्थ को चुनौती है और जीत का आनन्द है।

केवल वे ही हारते है, जो चलते ही नही है।

जो चल पडा है, वह तो आधा जीत ही गया है।

जो हारे बीच मे आती है, वे हारे नही है। वे तो पृष्ठभूमि है, जिसमे विजय पूरी तरह खिलकर उभरती है।

ईश्वर प्रतिक्षण साथ है, इसलिए गतव्य को पाना निश्चित है।

मै आनन्द मे हूँ। क्राति प्रणाम भेज रही है।

रजनीश के प्रणाम
२८ मार्च, १९६३

[प्रति सुश्री जया शाह, बम्बई]

३/ मनुष्य धर्म के बिना नहीं जी सकता है

प्रिय जया बहिन,

प्रणाम। मै आनन्द मे हूँ। आपका पत्र मिले देर हुई। मैं बीच मे बाहर था, इसलिए उत्तर मे विलम्ब हुआ है। इदौर और शाजापुर बोलकर लौटा हूँ।

एक सत्य के दर्शन रोज-रोज हो रहे है कि **मनुष्य धर्म के बिना नहीं जी सकता है।**

धर्म के अभाव मे उसमे कुछ खाली और रिक्त छूट जाता है।

यह रिक्तता पीड़ा देने लगती है, और फिर इसे भरने का कोई मार्ग नही दीखता है।

ऐसी स्थिति आधुनिक मनुष्य की है।

इससे मैं निराश नही हूँ, क्योकि इसमे ही शायद मनुष्य की रक्षा और भविष्य की एकमात्र आशा है।

इस पीडा से ही उस प्यास का जन्म हो रहा है—जो यदि सम्यक् दिशा दी जा सकी —तो विश्व मे धर्म के पुनरुत्थान मे परिणत हो सकती है।

अँधेरी रात के बाद जैसे प्रभात का जन्म होता है, ऐसे ही **मनुष्य की अंतरात्मा भी एक नये प्रभात के करीब है।**

इस होने वाले प्रभात की खबर प्रत्येक को दे देनी है, क्योकि यह प्रभात प्रत्येक के भीतर होना है।

और, इस प्रभात को लाने के लिए प्रत्येक को प्रयत्नशील भी होना है।

हम सब इसे लायेंगे, तो ही यह आ सकता है।

यह अपने से नही आ सकता है।

चेतना का जन्म, प्रयास और प्रतीक्षा माँगता है।

और, प्रसव की पीड़ा भी।

यह प्रयास, प्रसवपीड़ा और प्रतीक्षा दुःखद नहीं होती है, क्योंकि उसके माध्यम से ही क्षुद्र विराट् को पाता है।

विराट् को अपने मे जन्म देने से बडा आनन्द और कुछ नही है।

यह जानकर प्रसन्न हूँ कि आप जीवन-साध्य की ओर गतिवान् है।

चलते मर हम चले, पहुँचना तो निश्चित है।

ईश्वर साथ दे, यही कामना है।

रजनीश के प्रणाम

१५ अप्रैल, १९६३

[प्रति सुश्री जया शाह, बम्बई]

४ / जो छीना नहीं जा सकता है, वही केवल आत्म-धन है

प्रिय जया बहिन,

स्नेह। आपका पत्र मिला है। बहुत खुशी हुई। शांति और आनन्द की नयी गहराइयों छू रही है, यह जानकर कितनी प्रसन्नता होती है!

जीवन के यात्रा-पथ पर उन गहराइयों के अतिरिक्त और कुछ भी पाने योग्य नही है।

जब सब खो जाता है, तब भी वह संपदा साथ रहती है।

इसलिए वस्तुतः वही संपदा है।

और, जिनके पास सब-कुछ है, लेकिन वह नहो है, वे समृद्धि में भी दरिद्र हैं।

समृद्धि मे दरिद्र और दरिद्रता मे समृद्ध होना, इसलिए ही, संभव हो जाता है।

जीवन की सतह पर समृद्धि मिल जाती है, लेकिन दरिद्रता नही मिटती है।

वह समृद्धि दरिद्रता के मिटने का धोखा देती है, लेकिन दरिद्रता मिटती नही, केवल छिप जाती है।

और, यह आत्मवंचना अंत मे बहुत मँहगी पड़ती है।

क्योंकि, वह जीवन जो कि वास्तविक संपदा के पाने का अवसर बन सकता था, उसके धोखे में व्यर्थ ही व्यय हो जाता है।

जीवन की सतह पर जो समृद्धि है, उससे सचेत होना बहुत आवश्यक होता है।

क्योंकि, जो उसके भ्रम मे जागते हैं, वे ही जीवन के केंद्र पर जो धन छिपा है, उसकी खोज मे लगते हैं।

उस धन की उपलब्धि दरिद्रता को नष्ट ही कर देती है। **क्योंकि, उस धन को फिर छीना नहीं जा सकता है।**

और, जो नही छीना जा सकता है, वही केवल अपना है, वही आत्मधन है।

और, जो नही छीना जा सकता है, वह दिया भी नही जा सकता है, क्योकि जो दिया जा सकता है, वह छीना भी जा सकता है।

और, जो नही छीना जा सकता है, उसे पाया भी नही जा सकता है, क्योकि जो पाया जा सकता है, वह खोया भी जा सकता है।

वह तो है, वह तो नित्य उपस्थित है, केवल उसे जानना मात्र होता है।

वस्तुतः, उसे जान लेना ही उसे पा लेना है।
जीवन के प्रत्येक चरण उसी ज्ञान संपदा की ओर ले चले, यही मेरी कामना है।
मैं आनन्द मे हूँ। वहाँ सब प्रियजनो को मेरा प्रेम कहे।
सुशीला जी को स्नेह।

रजनीश के प्रणाम
२० मई, १९६४

[प्रति सुश्री जया शाह, बम्बई]

५५ देखना भर आ जाये—वह तो मौजूद ही है

प्रिय चिदात्मन्,

मैं आपके अत्यंत प्रीतिपूर्ण पत्र को पाकर आनन्दित हुआ हूँ। आपके जीवन की लौ निर्धूम होकर सत्य की ओर बढ़े यही मेरी कामना है।

प्रभु को पाने के लिए जीवन को एक प्रज्वलित अग्नि बनाना होता है।

सतत उस ओर ध्यान रहे।

सोते-जागते, श्वास-श्वास मे वही आकाक्षा और प्यास, वही स्मरण, **उसकी ही ओर दृष्टि बनी रहे**, तो कुछ और नहीं करना होता है।

प्यास हो, केवल प्यास ही उसे पा लेने के लिए पर्याप्त है।

सागर तो कितना निकट है, पर हम प्यासे ही नही है।

उसके द्वार तो कितने हाथ के पास है, पर हम खटखटाये तो!

देखना भर आ जाये—वह तो मौजूद ही है।

आँखे अन्य से भरी है। चित्त व्यर्थ से घिरा है। इसमे जो है, वह दीख नही पाता है।

हृदय 'पर' मे आच्छादित है, इसलिए 'स्व' का विस्मरण हो गया है।

इस आच्छादन को हटाना है स्वच्छ, निर्मल झील के वक्ष पर जम गयी काई को, कचरे को थोडा हटाना है।

और तब, दीखता है कि कुछ कभी खोया तो था ही नही, खोया ही नही जा सकता है।

मै निरतर सत्य मे, सत्ता मे विराजमान हूँ। **मै वही हूँ।**

तुम भी वही हो तत्त्वमसि श्वेतकेतु।

जागे और स्मरण से भरे।

समस्त क्रियाओ मे उसका स्मरण रखे, जो कि उन्हे देख रहा है।

सर्व विचारो मे उस पर दृष्टि रहे, जो उनके पीछे है।

वहाँ जागना है—जहाँ न कोई क्रिया है, न कोई विचार है, न कोई स्पन्दन है।

वही है वह, जो क्षेत्र और काल के अतीत है।

और, वही है शांति, आनन्द और निर्वाण।

और, वही है वह, जिसे पाकर फिर और कुछ पाने को नही रह जाता है।

मेरे सब प्रियजनो से मेरा प्रेम कहना।

यात्रा से,
औरगाबाद

रजनीश के प्रणाम
१७ जनवरी, १९६४

[प्रति श्री जीवन सिह सुराणा, सुराणा निवास, इदौर—३, म० प्र०]

६] आँख बंद है—चित्त-वृत्तियों के धुएँ से

चिदात्मन्,

प्रेम। आपका अन्यत प्रीति और सत्य के लिये प्यास से भरा पत्र मिला है। मैं आनन्दित हुआ।

जहाँ इतनी प्यास होती है, वहाँ प्राप्ति भी दूर नही है।

प्यास हो, तो पथ बन जाता है।

सत्य तो निकट है और प्रकाश की भाँति द्वार पर ही खडा है।

वह नही, समस्या हमारे पास आँख न होने की है।

और, उस आँख का भी अभाव नही है। वह भी है, पर बद है।

इस आँख को खोला जा सकता है।

सकल्प और सतत साधना का श्रम उसे खोल सकता है।

विचार से, मन से, चित्तवृत्तियों के धुएँ से आँख बंद है।

निर्विचार चैतन्य मे वह खुलती है और सारा जीवन आलोक से भर जाता है।

यही मैं सिखाता हूँ। निर्विचार की निर्दोष स्थिति सिखाता हूँ। मेरी और कोई शिक्षा नही है।

आँख खुली हो, तो शेष सब वह खुली आँख सिखा देती है।

आँख को खोलने के इस प्रयोग के लिये अभी १३, १४ और १५ फरवरी को महाबलेश्वर (पूना) मे २०० मित्र मिल रहे है। आप आ सके तो अच्छा है। १२ फरवरी को सध्या तक महाबलेश्वर पहुँच जाना है।

वहाँ सबको मेरे प्रणाम कहे।

रजनीश के प्रणाम

१७ जनवरी, १९६५

[प्रति श्री रजनीकात ममाली, अतिरिक्त व्यवहार न्यायाधीश, सी-२१२, मनुभाई मार्ग, तिलक नगर, जयपुर, राज०]

७/ मैं आपको तट पर खड़ा पा रहा हूँ

मेरे प्रिय,

प्रेम। आपका पत्र मिला है। उसे पाकर आनन्दित हुआ हूँ। उस दिन भी आपसे मिलकर अपार हर्ष हुआ था।

सत्य के लिए जैसी आपकी **आकांक्षा और प्यास** है, वह **सौभाग्य से ही होती है।**

वह हो, तो एक न एक दिन साधना के सागर मे कूदना हो ही जाता है।

मैं आपको तट पर खड़ा पा रहा हूँ—बस, एक छलांग की ही आवश्यकता है।

●

साधना को जितना सहज बनाया जा सके—वह जितनी 'प्रयत्न के तनाव से शून्य' हो, उतनी ही शीघ्रता से उसमे गति होती है।

अभ्यास तो होगा ही, लेकिन, वह अभ्यास तनाव और व्यस्तता नही बनना चाहिए। इस भाव को ही मैंने **'अनभ्यास के द्वारा अभ्यास'** कहा है।

सत्य को पाने मे जो अधैर्य और अशांति होती है, उसे ही तनाव—प्रयत्न का तनाव समझना चाहिए।

अनंत धैर्य और शांति और प्रतीक्षा हो, तो प्रयत्न का तनाव विलीन हो जाता है।

फिर, जैसे वृक्षो मे फूल सहज ही खिलते हैं, वैसे ही साधना मे अनायास और अनिरीक्षित ही क्रमश गति होती जाती है।

●

वहाँ सभी को मेरा प्रेम कहे।

रजनीश के प्रणाम
५ अप्रैल, १९६५

[प्रति श्री मथुराप्रसाद मिश्र, पटना, बिहार]

८ / बस, निर्विचार चेतना को साधें

प्रिय सुशीला जी,

प्रेम । आपका पहला पत्र यथासमय मिल गया था । लेकिन, मैं सौराष्ट्र के दौरे पर चला गया, इसलिए उत्तर नही दे सका । आते ही आपका दूसरा पत्र मिला है । आपकी इच्छा है, तो मैं उधर आ सकूँगा । अक्तूबर के शिविर मे आप इधर आ ही रही है, तभी उस सबध मे विचार कर लेगे ।

किसी को मुझसे किसी प्रकार की सहायता मिल सके, तो मैं कही भी आने को तैयार हूँ ।

अबतो यही मेरा आनन्द है ।

आपने अपने चित्त की जो दशा लिखी है, उससे बहुत प्रसन्नता होती है ।

प्रगति ठीक दिशा मे है ।

मुद्राओ के कारण चिंतित न हो । उनसे लाभ ही होगा और फिर वे क्रमश विलीन हो जावेगी ।

आप तो बस, निर्विचार चेतना को साधे, शेष सब अपने आप छाया की भाँति अनुगमन करता है ।

चित्त शात हो, तो जो भी होता हे, सब शुभ हे ।

सामान्यत जीवन और कार्यो के प्रति जो **निराशा** मालूम होती है, वह भी **संक्रमणकालीन है** । वह भी चली जावेगी ।

और, तब जो सेवा फलित होती है, वही वास्तविक सेवा है ।

इन सब बातो पर जब आप मिलती है, तभी विस्तार मे विचार कर सकेंगे ।

इतना स्मरण रखें कि जो भी हो रहा है, वह ठीक है और उसके परिणाम मे मगल ही होगा ।

मेरे प्रेम को स्वीकार करे । प्रभु प्रकाश दे, यही कामना है ।

रजनीश के प्रणाम

१० अगस्त, १९६५

[प्रति सुश्री सुशीला सिन्हा, द्वारा एडवोकेट बी० एस० सिन्हा, बृजकिशोर पथ पटना–१]

९ / विचार को छोड़ें और स्वयं में उतरें

मेरे प्रिय आत्मन्,

प्रेम । आपका पत्र मिला है ।

ध्यान की साधना मे यदि क्रमश अमूर्च्छा, आत्मज्ञान और सजगता विकसित होती जावे, तो मानना चाहिए कि हम चित्त के समोहन-घेरे से बाहर हो रहे है ।

और, यदि इसके विपरीत मूर्च्छा और प्रमाद बढता हो, तो निश्चित मानना चाहिए कि चित्त की निद्रा और गहरी हो रही है ।

लेकिन, स्वय प्रयोग किये बिना कुछ भी अनुभव नही हो सकता है ।

विचार ही न करते रहे । **विचार को छोड़ें और स्वयं में उतरें ।**

विचार तो किनारा ही है---जीवन-शक्ति की धारा तो निर्विकार ध्यान मे ही है ।

कबीर ने कहा है

'जिन खोजा तिन पाइयाँ, गहरे पानी पैठ ।

मै बोरी खोजन गयी, रही किनारे बैठ।

रजनीश के प्रणाम

६-१०-१९६५

[प्रति . श्री मथुराप्रसाद मिश्र, पटना]

१० / हृदय की प्यास और पीड़ा से साधना का जन्म

मेरे प्रिय,

प्रेम। आपका पत्र मिले बहुत देर हो गयी है। मैं इस बीच निरंतर प्रवास मे था, इसलिए दो शब्द भी प्रत्युत्तर मे नही लिख सका। वैसे मेरी प्रार्थनाएँ तो सदा ही आपके साथ हैं।

मैं आपके हृदय की प्यास और पीड़ा को जानकर आनन्दित होता हूँ। क्योंकि, वही तो बीज है, जिससे कि साधना का जन्म होता है।

जीवन पर शात और सहज भाव से प्रयोग करते चले। फल तो अवश्य ही आता है। स्मरण रखे कि कोई भी भूमि ऐसी नही है कि जिसके भीतर जलस्रोत न हो। और, कोई भी आत्मा ऐसा नही है, जिसके भीतर कि परमात्मा न हो। वहाँ सबको मेरे प्रणाम कहे।

रजनीश के प्रणाम
१८-१२-१९६५

[प्रति श्री रजनीकांत मसाली, जयपुर]

११/सत्ता की, होने की, प्राणों की पूर्णानुभूति ही सत्य है

प्रिय सुशीला,

तुम्हारा पत्र। मै बाहर था। परसो ही लौटा हूँ। **विश्वविद्यालय से मुक्ति ले ली है,** इसलिए **अब तो यात्रा ही जीवन है।**

● सत्य क्या है ? **सत्ता की, होने की, प्राणो की पूर्णानुभूति ही सत्य है।**
'होने' की अनुभूति जितनी मूर्च्छित हे, जीवन उतना ही असत्य है।
'मै' हूँ—इसे खूब गहरी प्रगाढ़ता से प्रतिक्षण अनुभव करो।
श्वास उससे भर जावे।
अतत. 'मै' न बचे और 'हूँ' ही शेष रहे।
उस क्षण ही 'जो है', उसे जाना और जिया जाता है।

● क्या मौन मे सवाद सभव है ?
वस्तुतः तो मौन मे ही संवाद सभव है। शब्द कहते कम, रोकते ज्यादा हैं।
बहुत गहरे मे सब सयुक्त है।
मौन मे उसी सयुक्तता के तल पर भावो का सक्रमण हो जाता है।
शब्द शून्याभिव्यक्ति के बहुत असमर्थ पूरक है।
सत्य तो शब्दो में कहा ही नहीं जा सकता।
उसे तो मौन अतर्नाद से ही प्रकट किया जा सकता है।
और तुमने जो सलाहे देनी शुरू की है, उनसे बहुत आनन्दित हूँ।
सदा ऐसी ही सलाहे देती रहना।
ससार के सबध मे मै कुछ भी तो नही जानता हूँ !

इन सलाहो मे छिपी मेरे लिए तुम्हारी चिता और प्रेम मे मै बहुत अभिभूत हो जाता हूँ।

रजनीश के प्रणाम
५-८-१९६६

[प्रति सुश्री सुशीला सिन्हा, पटना-१]

१२/ शांत मन मे अंतर्दृष्टि का जागरण

प्रिय सुशीला जी,

प्रेम। आपका पत्र मिला है।

आपकी साधना और तत्संबध मे चिंतन से प्रसन्न हूँ।

देश की वर्तमान स्थिति से चिता होना स्वाभाविक है।

लेकिन, चिंता जितनी ज्यादा हो चिंतन उतना ही असभव हो जाता है।

चिंता और चिंतन विरोधी दिशाएँ हैं।

मन को शांत रखें तो जो करने योग्य हो, उसके प्रति अंतर्दृष्टि क्रमशः जाग्रत होने लगती है।

शात मन सहज ही कर्त्तव्य को करने मे सलग्न हो जाता है।

फिर, अत करण स्वय ही पथ और पथ पर प्रकाश दोनो ही बन जाता है।

मैं 'क्या करें' इस सबध मे कोई सलाह नही देता हूँ।

मेरी सलाह तो परिपूर्णत शात होने के लिए है।

उसके बाद स्वय से ही आदेश मिलने प्रारभ हो जाते है।

ये आदेश सदा अचूक होते है और उनमे कोई दूसरा विकल्प, शका या संदेह की सभावना भी नही होती।

विचार से नहीं, वरन् अंतर्दृष्टि से जीने के लिए ही मेरी सलाह है।

ध्यान में अधिक देर बैठना स्वास्थ्य के कारण सभव न हो, तो लेटकर ही ध्यान करें।

प्रश्न बैठने या लेटने का बिलकुल भी नही है।

असली प्रश्न तो चित्त-स्थिति का है।

शरीर से नहीं, साधना का कार्य मूलतः तो मन से ही संबंधित है।

शिविर तो अभी नही हो रहा है। अब देखना है कि कब आपको निकट से सहयोगी बन सकूँ ?

मेरे प्रेम को सदा अपने साथ अनुभव करें। वहाँ सबको मेरे प्रणाम कहे।

रजनीश के प्रणाम

१८-९-१९६६

[प्रति सुश्री सुशीला सिन्हा, पटना-१]

१३ / तीव्र अभीप्सा—सत्य के लिए, शांति के लिए, मुक्ति के लिए

प्यारी शिरीष,

प्रेम। तेरा पत्र पाकर अत्यत आनन्दित हुआ हूँ।

सत्य के लिए, शाति के लिए, मुक्ति के लिए, तेरी कितनी अभीप्सा है!

उस अभीप्सा को अनुभव करता हूँ, तो लगता है कि मैं तेरे लिए जो कुछ भी कर सकूँ, वह थोड़ा ही होगा।

फिर भी मैं सामर्थ्य भर तेरी **सहायता** करना चाहता हूँ।

क्यों करना चाहता हूँ?

शायद **न करना मेरे बश में ही नहीं है।**

परमात्मा का जो आदेश है, उसे ही करना होगा।

और, जब तुझे तैयार देखता हूँ, तो आनन्दित होता हूँ।

वह घडी निरतर ही निकट आ रही है, जब मैं उस दिशा मे इगित कर सकूँ, जो कि तेरी नियति (Destiny) है।

श्री पैं को मेरे प्रणाम।

हाँ, तू अपने सबध म जो भी लिखना चाहती है, अवश्य लिख।

रजनीश के प्रणाम

१-१२-१९६६

[प्रति सुश्री शिरीष पैं, बम्बई]

१४ / निर्विचार चैतन्य है— जीवनानुभूति का द्वार

मेरे प्रिय,

प्रेम। तुम्हारा पत्र और तुम्हारे प्रश्न मिले है।

●

मै मृत्यु के सबंध में जानबूझ कर चुप रहा हूँ।

क्योकि मैं जीवन के सबध मे जिज्ञासा जगाना चाहता हूँ।

मृत्यु के सबध मे जो सोच-विचार करते है, वे कही भी नही पहुँचते है।

क्योकि, वस्तुत. मरे बिना मृत्यु कैसे जानी जा सकती है?

इसलिए, वैसे सोच-विचार का कुल परिणाम या तो यह स्वीकृति होती है कि आत्मा अमर है या यह कि जीवन की समाप्ति पूर्ण समाप्ति ही है और पीछे कुछ शेष नही रह जाता है।

ये दोनों ही कोरी मान्यताएँ हैं।

एक मान्यता मृत्यु के भय पर खड़ी है और दूसरी शरीर की समाप्ति पर।

मैं चाहता हूँ कि व्यक्ति मान्यताओ और विश्वासो मे न पडे।

क्योकि, वह दिशा ही अनुभव की और ज्ञान की दिशा नही है।

और मृत्यु के सबध मे मान्यता और सिद्धातो के अतिरिक्त सोच-विचार से और क्या मिल सकता है?

विचार कभी भी ज्ञात (Known) के पार नही ले जाता है।

और, **मृत्यु है अज्ञात।**

इसलिए, विचार से उसे नहीं जाना जा सकता है।

मैं तो जीवन की ओर ध्यान आकर्षित करना चाहता हूँ।

जीवन है—अभी और यहाँ (Here and now)।

उसमें उतरा जा सकता है।

मृत्यु तो कभी भी अभी और यही नहीं है।

या तो वह भविष्य मे है या अतीत मे।

मृत्यु कभी भी वर्तमान मे नही है।

क्या यह तथ्य तुम्हारे ध्यान मे कभी आया है कि मृत्यु कभी भी वर्तमान मे नही है!

लेकिन, **जीवन तो सदा वर्तमान में है।**

वह न अतीत मे है, न भविष्य मे।

वह है, तो अभी है, अन्यथा कभी नही है।

इसलिए, **उसे जाना जा सकता है। क्योंकि उसे जिया जा सकता है।** उसके संबध मे विचार करने की आवश्यकता नही है।

वस्तुत तो, जो उसके संबध मे विचार करेंगे, वे उसे चूक जावेंगे।

क्योंकि, विचार की गति भी अतीत और भविष्य मे ही होती है। विचार भी वर्तमान मे नही होता है।

विचार भी मृत्यु का सहधर्मा है। अर्थात् वह भी मृत ही है। जीवन का तत्त्व उसमे भी नही है।

जीवतता सदा वर्तमान है। वह वर्तमान ही है।

उसका रूप है अभी—बिलकुल अभी (Now)। यहाँ—बिलकुल यहाँ (Here)।

इसलिए, **जीवन का विचार नहीं होता; होती है अनुभूति।**

अनुभव (Experience) भी नही—अनुभूति (Experiencing)।

अनुभव अर्थात् जो हो चुका। अनूभुति अर्थात् जो हो रही है।

अनुभव तो बन चुका विचार। क्योंकि, वह अतीत हो गया है।

अनुभूति है निर्विचार—नि शब्द—मौन—शून्य।

इसलिए, **निर्विचार-चैतन्य** (Thoughrtless Awaeness) को कहता हूँ मैं—**जीवनानुभूति का द्वार।**

और, जो जीवन को जान लेता है, वह सब जान लेता है।

वह मृत्यु को भी जान लेता है।

क्योंकि, **मृत्यु जीवन को न जानने से पैदा हुआ एक भ्रम मात्र है।**

जीवन को जो नही जानता, वह स्वभावत शरीर को ही स्वय मान लेता है। और, शरीर तो मरता है। शरीर तो मिटता है। उसकी इकाई तो विसर्जित होती है।

इसमे ही मृत्यु पूर्ण अत है, यह धारणा पैदा होती है।

जो थोडे साहसी है और निर्भय है, वे इसी धारणा को स्वीकार करते है।

और, शरीर को ही स्वय मान लेने की इसी भ्राति से मृत्यु का भय भी पैदा होता है।

और, इसी भय मे पीडित व्यक्ति 'आत्मा अमर है', 'आत्मा अमर है', इसका जाप करने लगते है।

भयभीत और निर्बल व्यक्ति इस भाँति शरण खोजते हैं।

लेकिन, ये दोनो धारणाएँ एक ही भ्रम से जन्मती है।

वे एक ही भ्रांति के दो रूप और दो प्रकार के व्यक्तियो की भिन्न-भिन्न प्रतिक्रियाएँ है।

लेकिन, स्मरण रहे कि दोनों की भ्राति एक ही और दोनों प्रकार से वही भ्राति मजबूत होती है।

मैं इस भ्रांति को किसी भाँति का बल नहीं देना चाहता हूँ।

यदि मैं कहूँ : आत्मा अमर नहीं है, तो यह असत्य है।

और यदि कहूँ कि आत्मा अमर है, तो भी यह भय के लिए एक पलायन बनता है। और जो भयभीत हैं, वे कभी सत्य को नहीं जान पाते हैं।

इसलिए, मैं कहता हूँ कि मृत्यु अज्ञात है। **जानो जीवन को।** वही जाना जा सकता है। और, उसे ही जान लेने पर अमृतत्त्व भी जान लिया जाता है।

जीवन शाश्वत है। उसका न आदि है, न अंत।

वह अभिव्यक्त होता है, अनभिव्यक्त होता है।

वह एक रूप से दूसरे रूपों में भी गति करता है।

रूपांतरण के ये संधि-स्थल ही अज्ञान में मृत्यु-जैसे प्रतीत होते हैं।

लेकिन, जो जानता है, उसके लिए मृत्यु गृह-परिवर्तन से ज्यादा नहीं है।

निश्चय ही **पुनर्जन्म** है।

लेकिन, मेरे लिए वह **सिद्धांत नहीं है, अनुभूति है।**

और, मैं दूसरों के लिए भी उसे सिद्धांत नहीं बनाना चाहता हूँ।

सिद्धांतों ने सत्य की बुरी तरह हत्या कर दी है।

मैं तो चाहता हूँ कि प्रत्येक व्यक्ति स्वयं जान सके।

यह कार्य कोई दूसरा किसी के लिए नहीं कर सकता है।

लेकिन, सिद्धांतों के द्वारा यही कार्य हो गया प्रतीत होता है।

इससे एक-एक व्यक्ति की निजी खोज कुंठित और जड़ हो गयी है।

वह तो बस, सिद्धांत और शास्त्र मानकर चुप बैठ गया है। जैसे कि उसे स्वयं न कुछ जानना है, न करना है।

यह स्थिति तो बहुत आत्मघाती है।

इसलिए, मैं सिद्धान्तों की पुनरुक्ति से मनुष्य की इस हत्या के विराट् समारोह में सम्मिलित नहीं होना चाहता हूँ।

मैं तो सब बँधे-बँधाये सिद्धांतों को अस्त-व्यस्त कर देना चाहता हूँ।

क्योंकि, मुझे यही करुणापूर्ण मालूम होता है।

इस भाँति जो असत्य है, वह नष्ट हो जायेगा।

और, सत्य तो कभी नष्ट नहीं होता है।

वह तो खोजने वाले को सदा ही अपनी चिर-नूतनता में उपलब्ध हो जाता है।

●

वहाँ सबको मेरे प्रणाम।

रजनीश के प्रणाम

१४-९-१९६८

[प्रति डॉ० रामचन्द्र प्रसाद, पटना यूनिवर्सिटी, पटना, बिहार]

१५ / जिज्ञासा—जीवन की

मेरे प्रिय,

प्रेम। तुम्हारे दो पत्र देर से आकर प्रत्युत्तर की प्रतीक्षा कर रहे हैं, लेकिन बहुत था व्यस्त, इसलिए विलम्ब के लिए क्षमा माँगता हूँ।

●

(पत्र ८-१०-६८)

प्रश्न १ ·

'अवतार', 'तीर्थंकर', 'पैगम्बर', जैसी अभिव्यक्तियाँ मनुष्य की असमर्थता की सूचक हैं। इतना निश्चित है कि **कुछ चेतनाएँ ऊर्ध्वगमन की यात्रा में उस जगह पहुँच जाती हैं, जहाँ उन्हें 'मनुष्य' मात्र कहे जाना सार्थक नहीं रह जाता है।** फिर कुछ तो कहना ही होगा। मनुष्यातीत अवस्थाएँ हैं।

२. धर्म की शिक्षा का अर्थ है, ऐसा अवसर देना कि भीतर जो प्रसुप्त है, वह जाग सके। निश्चय ही मार्गदर्शकों की जरूरत होगी। लेकिन वे होंगे—मित्र। गुरु होने की चेष्टा मे ही आरोपण प्रारम्भ हो जाता है। **मनुष्य को गुरुडम से बचाया जाना आवश्यक है।**

३ पहले के लोग भी ऐसे ही थे। कम शिक्षित थे। इसलिए, उनका सब भाँति का शोषण होता था। इस शोषण की सुविधा को ही शोषक उनकी सरलता कहते थे। यह सरलता सरलता कम, बुद्धूपन ही ज्यादा थी। मैं बुद्धूपन का जरा भी समर्थक नहीं हूँ। जो सरलता अज्ञान से आती है, उसका मूल्य कौड़ी भर भी नहीं है। **ज्ञान से आयी सरलता का ही आध्यात्मिक मूल्य है।** लेकिन, संक्रमण मे ज्ञान से चालाकी आती है। या स्वाभाविक है। लेकिन मनुष्य जाति जब ठीक से शिक्षित हो चुकी होगी, तो यह संक्रमणाकालीन सकट नष्ट हो जायेगा। और फिर ज्ञान+सरलता की जो स्थिति होगी, वही अपेक्षित है।

४ गरीब गरीब है, क्योंकि उसका चिंतन भ्रांत है। **गरीबी भी हमारे गलत जीवन-दर्शन का परिणाम है।** इसलिए जीवन-दृष्टि की बदलाहट के साथ ही सामाजिक व्यवस्था भी बदलती है। विचार ही व्यवस्थापक है। अमरीका अकारण समृद्ध नही है। और भारत अकारण दरिद्र नहीं है। हमारा दर्शन दरिद्रता का दर्शन है (Philosophy of poverty)। उनका दर्शन है, सपन्नता का। इसलिए मैं

कहता हूँ कि जब तक हमारा दर्शन नहीं बदलता है, तब तक दरिद्रता भी नही बदलने वाली है।

●

(पत्र : २३-९-६८)

प्रश्न १ ·

दुःख न शरीर को होता है, न आत्मा को। दुःख होता है दोनों के संघात को अर्थात् व्यक्ति को। व्यक्ति है दोनों का जोड। शरीर पर पडता है आघात। आघात भौतिक है। लेकिन अनुभव होता है आत्मा को। अनुभव आत्मिक है। आघात के बिना अनुभव नही हो सकता है। अनुभोक्ता के बिना आघात का ज्ञान नही हो सकता है। अंधे और लँगडे ने जैसे आग-लगे जगल से भागकर प्राण बचाये—वैसे ही। अलग-अलग दोनो नही बच सकते। मिल कर दोनो बचे। 'मिलन' ने बचाया। दोनो के जोड ने। ऐसा ही है दुःख का अनुभव।

२ तत्त्वज्ञान की रुचि प्रत्येक मे है। उसके जागरण के लिए निमित्त कोई भी बन सकता है। लेकिन निमित्त गौण है। बस, इतना ही ध्यान रखना है। **शिष्य है प्रमुख। गुरु है गौण।** गुरुडम इसके विपरीत प्रचार करती है। उससे ही मेरा विरोध है।

३ प० सुखलाल से मेरा मिलन हुआ है। वैसे वे मेरे साहित्य से और व्याख्यानों से परिचित हैं। मेरे व्याख्यानो के बहुत से टेप उन्होंने सुने हैं। उनकी पुस्तक 'दर्शन और चितन' का एक हिन्दी भाग मैने देखा है।

४ पश्चिम के विचारको मे अस्तित्ववादियो (Existentialists) मे मेरे विचार-सूत्रों की कुछ साम्यता हो सकती है। झेन (Zen) साधको से भी। सूफी सतो से भी। कृष्णमूर्ति और गुरजिएफ से भी।

वहाँ सबको मेरा प्रणाम।

रजनीश के प्रणाम
७-११-१९६८

[प्रति . डॉ० रामचन्द्र प्रसाद, पटना, बिहार]

१६ / सब कुछ—स्वयं को भी देनेवाला प्रेम प्रार्थना बन जाता है

प्यारी रोशन,

प्रेम। तेरा पत्र पाकर आनंदित हूँ।

यह भी तुझे ज्ञात है कि उस दिन तू मिलने आयी, तो चुप क्यों रह गयी थी ?

लेकिन, **मौन भी बहुत कुछ कहता है। और, शायद शब्द जो नहीं कह पाते हैं, वह मौन कह देता है।**

●

प्रेम और विवाह के सम्बन्ध मे तूने पूछा है।

प्रेम अपने मे पूर्ण है। वह और कुछ भी नही चाहता है।

विवाह 'कुछ और' की भी चाह है।

लेकिन, पूर्ण प्रेम कहाँ है ?

इस पृथ्वी पर कुछ भी पूर्ण नही है।

इसलिए, प्रेम, विवाह बनना चाहता है।

यह अस्वाभाविक भी नही है।

लेकिन, उपद्रवपूर्ण तो है ही।

क्योंकि, **प्रेम आकाश की मुक्ति है और विवाह पृथ्वी का बंधन है।**

●

प्रेम मे कोई तृप्त हो सके, तो ठीक है।

अन्यथा, **विवाह से कौन कब तृप्त हुआ है ?**

●

लेकिन जीवन से भागना कभी मत।

पलायन आत्मघात है।

जीवन को जीना—उसकी सफलताओं मे भी और असफलताओं मे भी।

हार और जीत—सभी जरूरी है।

फूल और कांटे—सभी पर चल कर ही प्रभु के मंदिर तक पहुँचा जाता है।

और, परमात्मा से कभी भी कुछ मत माँगना।

क्योंकि, माँग और प्रेम में विरोध है।

प्रेम तो, बस, देता ही है ।
और जो प्रेम सब दे देता है—स्वयं को भी—वही प्रार्थना बन जाता है ।

रजनीश के प्रणाम
२०-६-१९६९ (प्रभात)

पुनश्च . और जब मैं अजमेर आऊँ, तो तू भी आ जाना ।
तेरे प्रश्न ऐसे हैं कि **सामने बैठेगी** तभी आसानी से उत्तर दे सकूँगा ।
क्योंकि, **तब बिना कहे भी बहुत-कुछ कह दिया जाता है ।**

[प्रति कुमारी रोशन जाल, फीरोज शाह एंड क०, पचवटी के पास, उदयपुर]

१७/स्वतंत्रता का जीवन—प्रेम के आकाश में

प्यारी नीलम,

प्यारे बिन्दी,

प्रेम। तुम प्रेम के मंदिर मे प्रवेश करोगे और मैं उपस्थित नही रह सकूँगा! इसे मन बहुत दुखता है।

लेकिन, मेरी शुभकामनाएँ तो वहाँ होंगी ही।

और, हवाओ मे तुम उनकी उपस्थिति अनुभव करोगे।

तुम्हारा जीवन **प्रेम के आकाश में स्वतंत्रता का जीवन बने, यही प्रभु से मेरी कामना है।**

क्योकि, अकसर प्रेम की आड मे परतत्रता आ जाती है और प्रेम मर जाता है।

प्रेम के फूल तो केवल स्वतत्रता की क्यारियो मे ही खिलते हैं।

इसलिए, तुम अपने विवाह को 'विवाह' मत बनने देना।

तुम उसे प्रेम ही रहने देना।

विवाह के नाम पर प्रेम की कितनी कब्रें बन गयी हैं!

तुम एक दूसरे को बाँधना मत—वरन् मुक्त करना।

क्योकि, प्रेम मुक्त करता है।

और, जो बाँधता है, वह प्रेम नही है।

वहाँ सबको मेरे प्रणाम।

रजनीश के प्रणाम

२६-६-१९६९

[प्रति श्री बिन्दी और सुश्री नीलम, द्वारा—सुश्री डाली दीदी, २१।१३, बन्ड रोड, पूना]

१८ / संगीतपूर्ण व्यक्तित्व

प्यारी डाली,

प्रेम। तेरे पत्र आते हैं—तेरे प्राणो के गीतो से भरे
उनकी ध्वनि और सगीत मे जैसे तू स्वय ही आ जाती है।
मैं देख पाता हूँ कि नृत्य करती तू चली आ रही है और फिर मुझमे समा जाती है।
तेरी सूक्ष्म देह अनेक बार ऐसे मेरे निकट आती है।
क्या तू यह नही जानती है ?
जानती है, जरूर जानती हे, भलीभाँति जानती है !
वहाँ सबको प्रेम।

रजनीश के प्रणाम
१८-८-१९६८
प्रभात

[प्रति मुश्री डाली दीदी, पूना]

१९ / सीखो—प्रत्येक जगह को अपना घर बनाना

प्यारे सुनील,

प्रेम। तेरा पत्र पाकर अति आनन्दित हूँ।

घर की याद स्वाभाविक है और तब तक सताती है, जब तक कि हम प्रत्येक जगह को अपना घर बनाना न सीख लें।

और, वह कला सीखने जैसी है।

अब जितने दिन तू वहाँ है, उतने दिन उस जगह को अपना ही घर मानकर रह।

सारी पृथ्वी हमारा घर है।

और, समस्त जीवन हमारा परिवार है।

शेष मिलने पर।

वहाँ सबको मेरे प्रणाम कहना।

रजनीश के प्रणाम

१३-५-१९७०

[प्रति श्री सुनीलकुमार शाह, द्वारा : श्री ईश्वरभाई एन० शाह, बम्बई]

२० / सदा शुभ को—सुंदर को खोज

प्यारी भारती,

प्रेम। तेरा पत्र पाकर बहुत आनन्दित हूँ।
जीवन नये-नये अनुभवों का नाम है।
जो नित नये का अनुभव करने में समर्थ है, वही जीवित है।
इसलिए, परदेश को प्रेम से ले।
नये को सीख।
अपरिचित को परिचित बना।
अज्ञात को जान—पहचान।
निश्चय ही इसमे तुझे बदलना होगा।
पुरानी आदते टूटेंगी, तो उन्हे टूटने दे।
और, स्वय की बदलाहट से भयभीत न हो।
परिवर्तन सदा शुभ है।
जड़ता सदा अशुभ।
और, सदा ही अतीत की ओर देखते रहना खतरनाक है।
क्योकि, उससे भविष्य के सृजन मे बाधा पड़ती है।
पीछे नही, जीवन है आगे।
इसलिए, आगे देख।
और आगे, और आगे।
स्मृतियो मे नही, सपनो मे जी।
और, जो भी वहाँ है, उसे निंदा से मत देख।
वह दृष्टि गलत है।
जहाँ भी रहे, वहाँ सदा शुभ को, सुंदर को खोज।
और, सब जगह, सब लोगों में सुंदर का वास है।
बस, उसे देखने वाली आँख भर चाहिए।
और, ध्यान रख कि जो हम देखते है, वही हम हो जाते हैं।
शुभ, तो शुभ।
अशुभ, तो अशुभ।
इसलिए, बुरे को मत देख।
वह भारतीय आदत छोड़ तो अच्छा।
मेरे जानने मे तो बुरी दृष्टि के सिवाय और कुछ भी बुरा नही है।
वहाँ सबको मेरे प्रणाम कहना।

रजनीश के प्रणाम
३०-५-१९७०

[प्रति कुमारी भारती ईश्वर भाई शाह, ५५ हेमिल्टन स्ट्रीट, लदन, एन० डब्ल्यु०-११]

२१/जाग्रत चित्त है द्वार—स्व-सत्ता का

मेरे प्रिय,

प्रेम। तुम्हारे पत्र पाकर आनन्दित हूँ।

धर्म का जन्म से कोई भी सम्बन्ध नही है।

और, जो ऐसा सम्बन्ध बनाते है, वे धर्म को हड्डी-मास-मज्जा से ज्यादा मूल्यवान् नही मानते है।

धर्म शरीर की बात ही नही है।

धर्म है—आत्मा का स्वभाव।

और, आत्मा का न जन्म है, न मृत्यु है।

इसलिए, **स्वयं को खोजो, स्वरूप को खोजो। वही धर्म है।**

और, जन्म से बँध जाने वाले बधनो—जैन, बौद्ध, मुसलमान, ईसाई आदि—से बचो।

धर्म के मार्ग मे धर्मों से ज्यादा बडी बाधा और कोई नही है।

धर्मों को विदा दो, ताकि धर्म आ सके।

धर्मों के ही नाम है, विशेषण है।

धर्म अनाम है।

जो एक ही है, उसके नाम की आवश्यकता भी नही है।

●

उपवास का अर्थ अनशन नही है।

उपवास का अर्थ है—स्वयं के निकट वास।

स्वय के पास रहो—जरूर रहो।

लेकिन, भूखे मरने को उपवास न समझ लेना।

नही तो स्वय के पास नही, भोजन के पास ही रहोगे।

हाँ—यह हो सकता है कि कभी स्वय मे डूबे होने के कारण भोजन का स्मरण ही न हो—लेकिन, वह बात और है।

ऐसे क्षणो को आयोजित नही किया जा सकता है।

ऐसे क्षण तो आते है, अनायास।

●

सयम, साधना नही है।

साधो तो भी उसे साध नही सकते हो।
क्योकि, **संयम** परोक्ष घटना है।
वह तो **जाग्रत विवेक की छाया है।**
जागो और तुम पाओगे कि संयम आ गया है।
और, जागे बिना सयम को लाना चाहो, तो सयम के नाम से सिर्फ दमन को ही ले आओगे।
दमन भोग का शीर्षासन है।
वह उलटा हो गया भोग ही है।
उससे धोखे मे मत आना।
न चाहिए **भोगी चित्त।**
न चाहिए **दमित चित्त।**
क्योकि, **वे दोनों ही निद्राएँ है।**
चाहिए जाग्रत चित्त।
क्योकि, **जाग्रत चित्त स्व-सत्ता का द्वार है।**

●

मदिर जरूर जाओ।
लेकिन, ईट-चूने के मदिरो मे मदिर नही है।
मदिर है मन मे।
मदिर है भीतर।
वही जाना मदिर मे जाना है।

●

ज्ञान का समय से वास्ता ही क्या है?
मोक्ष का युग से नाता ही क्या है?
ज्ञान है समयातीत (Beyond Time)।
मोक्ष है सनातन।
इसलिए, समय और युग उनके लिए बाधाएँ नहीं हैं।
न कलियुग।
न पंचमकाल।
जब बधन सदा समव है, तो मुक्ति भी सदा समव है।

●

और घर के लोग तो बाधा बनेगे ही।
बँधे हुए लोग किसी को अनबँधा नहीं देख सकते हैं।

लेकिन, उन पर क्रोध न करना।

वरन्, सदा दया करना।

वे दया के ही पात्र हैं।

वे तुम्हें गालियाँ दे, तो सहना।

मूर्ख कहें, तो मजा लेना।

गभीर भर मत होना।

उनके कार्यकलापो को खेल ही मानना।

और, जो तुम्हें ठीक लगे, सत्य लगे, उस पर निर्भय बढते रहना।

धर्म का मार्ग फूलो की सेज नही है।

लेकिन, जो काँटो को सहने की सामर्थ्य रखता है, वह अंतत. अनन्त के फूलों का हकदार भी हो जाता है।

वहाँ सबको मेरे प्रणाम।

रजनीश के प्रणाम

१०-६-१९७०

[प्रति श्री विजयकुमार बड, मु० पो०-उदखेड, तह० मोर्शी, जिला-अमरावती महाराष्ट्र]

२२ / धर्म को भी प्रत्येक युग में पुनर्जन्म लेना होता है

प्रिय योग भगवती,

प्रेम। धर्म को भी प्रत्येक युग मे पुनर्जन्म लेना होता है।

शरीर—सभी भाँति के शरीर पुराने पड जाते है और मर जाते है।

सम्प्रदाय धर्म के मृत शरीर है।

उनकी आत्मा कभी की निकल चुकी है।

उनकी भाषा तिथि-बाह्य हो गयी है।

इसलिए ही उनका अब कोई भी सस्पर्श मनुष्य के प्राणो से नही होता है। न ही उनकी अनुगूँज ही मनुष्य की अतरात्मा मे सुनी जाती है।

डॉ० जॉन ए० हटन ने एक बार धर्मपुरोहितो की एक सभा मे बोलते हुए पूछा था "धर्म-गुरुओ के उपदेश इतने निर्जीव और निष्प्राण क्यो हो गये है ?"

और, जब कोई भी उत्तर देने को खड़ा नही हुआ, तो उन्होने स्वय ही कहा था : "धर्मोपदेश निष्प्राण हो गये हैं, क्योकि आप उनमे उन प्रश्नो के उत्तर दे रहे हैं, जिन्हे कि कोई भी नही पूछ रहा है ! —They are all dull because preachers are trying to answer questions that no body is asking."

धर्म सनातन है।

लेकिन, उसका शरीर सदा ही सामयिक होना चाहिए।

शरीर सनातन न है, न हो सकता है।

धर्म का शरीर भी नही।

रजनीश के प्रणाम

७-९-१९७०

[प्रति : मा योग भगवती, बम्बई]

२३ / धर्म जीवन का प्राण है

प्रिय योग लक्ष्मी,

प्रेम । राजनीति सम्प्रदाय-मुक्त हो, यह तो शुभ है ।

लेकिन, धर्मशून्य हो, यह शुभ नही है ।

धर्म जीवन का प्राण है ।

राजनीति जीवन की परिधि से ज्यादा नही ।

और, परिधि जैसे केंद्र को खोकर नही हो सकती है, ऐसे ही राजनीति धर्म को खोकर 'राज-नीति' नही रह जाती है ।

हाँ—**'राज-अनीति' धर्म के अभाव में भी संभव है ।**

और, शायद राजनीति वही होकर रह गयी है ।

मैंने सुना है कि एक सफल वकील, एक सफल चोर और एक सफल राजनीतिज्ञ एक ही समय और एक साथ स्वर्ग पहुँचे। वैसे भी तीनों मित्र थे। और जीवन मे बहुत रूपो मे एक-दूसरे के साथ रहे थे। इसलिए, मृत्यु मे भी साथ थे, तो कोई आश्चर्य नही है।

सत पीटर ने उनसे पूछा "सच-सच बोलना—जीवन मे झूठ कितनी बार बोला है ?"

चोर ने कहा . "तीन बार महाराज ।"

सत पीटर ने उसे दण्डस्वरूप स्वर्ग के तीन चक्कर दौड़कर लगाने को कहा ।

वकील ने कहा "तीन सौ बार महाराज ।"

वकील को भी तीन सौ चक्कर लगाकर स्वर्ग मे प्रवेश की आज्ञा मिल गयी ।

लेकिन, जब सत पीटर राजनीतिज्ञ की ओर मुडे तो राजनीतिज्ञ नदारद था । पास खडे द्वारपाल ने बताया कि वे अपनी साइकिल लेने चले गये हैं ।

रजनीश के प्रणाम
१०-१०-१९७०

[प्रति मा योग लक्ष्मी, बम्बई]

२४ / व्यक्तित्व की गूँज प्राणों तक

प्रिय कृष्ण करुणा,

प्रेम। जो हम कहते हैं, लोग उससे नही, वरन् जो हम हैं, लोग उससे ही सीखते हैं।

शब्द तो कानो तक ही पहुँचते है या बहुत हुआ तो मस्तिष्क तक।

लेकिन, व्यक्तित्व की गूँज प्राणो तक पहुँच जाती है।

फुल्टन शीन प्रवचन देते समय कभी पाण्डुलिपि पर नजर नही डालते थे। सारा प्रवचन वे जबानी ही देते थे।

एक बार कुछ मित्रो ने उनसे इसका कारण पूछा, तो उन्होने कहा . "एक बार एक बूढी स्त्री किसी को प्रवचन पढकर सुनाते हुए देख कर हैरानी से बोल उठी थी कि जब ये खुद अपना प्रवचन याद नही रख सकते है, तो ये कैसे आशा कर सकते हैं कि हम इनका प्रवचन याद रख सकेंगे।"

निश्चय ही जो हम नही हैं, उसकी आशा दूसरो से नही की जा सकती है।

और, जो हम है, उसकी आशा करने की आवश्यकता ही नही है, क्योकि वह तो सहज ही सक्रामक होता है।

रजनीश के प्रणाम
२१-१०१९७०

[प्रति मा कृष्ण करुणा, बम्बई]

२५ / सोयें नहीं, जागें

प्रिय योग लक्ष्मी,

प्रेम । तथाकथित जीवन एक निद्रा से ज्यादा नही है ।

सब-कुछ निद्रा मे ही हो रहा है ।

अन्यथा जो मनुष्य करता है, वह करना असभव है ।

जागते हुए स्वय के लिए नरक निर्मित करना असभव है ।

एक सुबह किसी चर्च मे उपदेशक ने देखा कि एक व्यक्ति गहरी नीद ले रहा है । उसे यह बताने को कि वह नीद मे है, उपदेशक ने कहा "जो स्वर्ग जाना चाहते है, कृपया वे खडे हो जावे ।"

सोये हुए व्यक्ति को छोड कर शेष सभी खडे हो गये ।

जागते हुए नरक जाना तो असभव ही है न !

और फिर, जब सारे लोग वापस बैठ गये, तो उपदेशक ने थोडी तेज आवाज मे कहा "अब कृपया वे खडे हो जावे, जो कि नरक जाना चाहते है ।"

सोया हुआ व्यक्ति चौक कर खडा हो गया ।

लेकिन, यह देखकर कि वह अकेला ही खडा हुआ है, उसने उपदेशक से कहा "श्रद्धेय, मुझे पता नही है कि हम किस चीज के लिए मत दे रहे है । लेकिन, इतना तो निश्चित है ही कि आप मेरे साथ है, क्योकि हम दोनो के अतिरिक्त और कोई खडा हुआ नही है । और यह भी साफ जाहिर है कि हम अल्पमत मे है । —I don t know what we are voting on, Reverend, but it looks like you and I are in a minority !"

रजनीश के प्रणाम

१-११-१९७०

[प्रति मा योग लक्ष्मी, बम्बई]

२६ / जीवन मन का खेल है

प्रिय योग भगवती,

प्रेम। जीवन मन का खेल है।

सुख-दुःख, शांति-अशांति, सभी मन के विस्तार हैं।

एक व्यक्ति को कभी-कभी गरमी मे भी सर्दी लग जाती थी।

चिकित्सक ने जाँच की तो पाया कि शरीर मे तो कोई भी दोष नही है।

उसने रोगी को सलाह दी "आप नित्य यह सोचा करे कि आपके सिर पर सूर्य की कडी धूप पड रही है, तो आपको सर्दी मे भी गरमी का अनुभव होगा और आप बिलकुल ठीक हो जायेगे।"

लेकिन, चार-छह दिन बाद ही उस व्यक्ति की पत्नी ने चिकित्सक को फोन पर अत्यत घबड़ायी हुई आवाज मे कहा. "आप कृपा करके शीघ्र आइये, मेरे पति सख्त बीमार हो गये है।"

चिकित्सक ने पूछा. "क्या हुआ ?"

उत्तर मिला. "उन्हे घर मे बैठे-बैठे एकाएक लू लग गयी है !"

रजनीश के प्रणाम

७-११-१९७०

[प्रति · मा योग भगवती, बम्बई]

२७/अति विकृति है, समता मुक्ति है

प्रिय योग चिन्मय,

प्रेम। **'अति' तनाव है।**

अनति विश्राम है।

लेकिन, **मानव-मन 'अति' में जीता है।**

मित्र या शत्रु—तटस्थ कभी नही।

भोगी या त्यागी—तटस्थ कभी नही।

इस ओर या उस ओर—मध्य मे कभी नही।

जैसे कि स्वर्ण-मध्य (Golden-mean) को मन जानता ही नही है!

और, यही मनुष्य का संताप (Anguish) है।

यही मनुष्य का नरक है।

जब कि स्वर्ग है मध्य मे—दो नरको के बीच—दो अतियो के बीच।

स्वर्ग है सम्यक्त्व।

मुक्ति है समता।

एक आदमी ने झेन फकीर हिकी से कहा "मेरी पत्नी अति कजूस है—**घर मेरा नरक बन गया है**—मेरे लिए कुछ करे।"

हिकी उसकी पत्नी से मिलने गया और उसे अपनी मुट्ठी भीच कर दिखायी।

सहज ही उस स्त्री ने पूछा "मतलब ?"

हिकी बोला "फर्ज करो कि मेरी मुट्ठी सदा यो ही रहे, तो तुम क्या कहोगी ?

वह स्त्री हँसी और बोली "आपका हाथ विकृत हो गया है।"

तब हिकी ने अपना हाथ उसके चेहरे के आगे ले जाकर पूरा खोल दिया और पूछा "यदि हमेशा ऐसा रहे तब ?"

उस स्त्री ने पुन हँसकर कहा "दूसरी तरह की विकृति।"

अब हँसने की बारी हिकी की थी।

वह हँसता रहा और उठकर चलने को हुआ, तो उस स्त्री ने पुन पूछा "मतलब ?"

हिकी ने कहा "अब मुझे कुछ भी नही कहना है। यदि तुम इतना समझती हो, तो सब समझती हो। समस्त धर्म-शास्त्र और समस्त ज्ञानी इतने के अतिरिक्त और कुछ नही कहते है। अति (Extreme) वर्जित है। क्योकि, **अति** (Excess) **विकृति है।** अति स्वभाव नही है। और स्वभाव मे होना ही धर्म है।"

हिकी हँसता हुआ चला गया था और वह स्त्री रूपान्तरित हो गयी थी।
वह स्त्री बुद्धिमान थी।
क्योकि, बुद्धिमान वही है, जो इशारे समझ लेता है।
लेकिन, इतने बुद्धिमान लोग जगत् मे कितने कम है!

रजनीश के प्रणाम
१०-११-१९७०

[प्रति स्वामी योग चिन्मय, बम्बई]

२८/ आस्तिकता है---जीवन-कला

प्रिय योग भगवती,

प्रेम। आस्तिकता किसी सिद्धात का नाम नही है।

आस्तिकता धार्मिक सिद्धात (Theology) नही है।

आस्तिकता तो जीवन को देखने और जीने का एक ढग है।

सौंदर्य देखने और सौदर्य जीने का।

सत्य देखने और सत्य जीने का।

शिवत्व देखने और शिवत्व जीने का।

ह्वाइट फील्ड ने एक दिन कहा "ईश्वर ने जो भी बनाया है, वह पूर्ण है। उसमे किसी प्रकार की कोई खामी नही है।"

इस पर श्रोताओ मे से एक कुबड़ा उठकर बोला. "आपका मेरे बारे मे क्या खयाल है?"

चर्च मे इस प्रश्न से सन्नाटा छा गया।

"आपके बारे मे खयाल?" ह्वाइट फील्ड अत्यत सहानुभूति से उसे देखते हुए बोले "मैं समझता हूँ कि ईश्वर ने आपको ऐसा पूर्ण कुबड़ा बनाया है कि मुझे तो कोई खामी नही दिखायी देती है।"

रजनीश के प्रणाम

१५-११-१९७०

[प्रति मा योग भगवती, बम्बई]

२९ / क्षण ही शाश्वत है

प्रिय योग प्रिया,

प्रेम । प्रतिपल जी ।
जो काम हाथ आये, उसे कर ।
कल पर कुछ न छोड़ ।
स्थगन की प्रवृत्ति आत्मघाती है ।
कल है भी कहाँ ?
जो है, आज है ।
जो है, अभी है ।
उसे जी लेना है ।
क्षण को जी लेना है ।
क्षण ही सत्य है ।
और, जो क्षण को जीने में समर्थ हो जाता है, वह शाश्वत को उपलब्ध हो जाता है ।
जिया क्षण शाश्वत बन जाता है ।
और अन-जियी शाश्वता भी क्षणभगुर ही रह जाती है ।

रजनीश के प्रणाम
१२-११-१९७०

[प्रति . मा योग प्रिया, विश्वनीड़, आजोल, जिला-महेसाणा, गुजरात]

३० / जीवन के तथ्यों का आलिंगन

प्रिय योग प्रेम,

प्रेम। भय छोड़।
क्योंकि, भय को पकड़ा कि वह बढ़ा।
उसे पकड़ना ही उसे पानी देना है।
लेकिन, भय छोड़ने का अर्थ उससे लड़ना नहीं है।
लड़ना भी उसे पकड़ना ही है।
भय है—ऐसा जान।
उससे भाग मत।
पलायन मत कर।
जीवन में भय है।
असुरक्षा है।
मृत्यु है।
ऐसा जान।
ऐसा है।
यह सब जीवन का तथ्य है।
भागेंगे कहाँ ?
बचेंगे कैसे ?
जीवन ऐसा है ही।
इसकी स्वीकृति—इसका सहज अंगीकार ही भय से मुक्ति है।
भय स्वीकृत है, तो फिर भय कहाँ है ?
मृत्यु स्वीकृत है, तो फिर मृत्यु कहाँ है ?
असुरक्षा स्वीकृत है, तो फिर असुरक्षा कहाँ है ?
जीवन की समग्रता के स्वीकार को ही मैं संन्यास कहता हूँ।

रजनीश के प्रणाम
१२-११-१९७०

[प्रति : मा योग प्रेम, विश्वनीड, आजोल, गुजरात]

३१ / काँटों में ही फूल छिपे हैं

प्रिय आनन्द मूर्ति,

प्रेम । संकल्प के मार्ग में आती बाधाओ को प्रभु-प्रसाद समझना, क्योकि उनके बिना संकल्प के प्रगाढ़ होने का और कोई उपाय नही है ।

राह के पत्थर प्रज्ञावान् के लिए, अवरोध नही, सीढ़ियाँ ही सिद्ध होते है ।

अतत', सब-कुछ स्वय पर ही निर्भर है ।

अमृत जहर हो सकता है, और जहर अमृत हो सकता है ।

फूल कॉटो मे छिपे है ।

कॉटो को देख कर जो भाग जाता है, वह व्यर्थ ही फूलो से वचित रह जाता है ।

हीरे खदानो मे दवे है ।

उनकी खोज मे पहले तो ककड-पत्थर ही हाथ आते है ।

लेकिन, उनसे निराश होना हीरो को सदा के लिए ही खोना है ।

एक-एक पल कीमती है ।

समय लौट कर नही आता है ।

और, खोये अवसर खोया जीवन बन जाते है ।

अँधेरा जब घना हो, तो जानना कि सूर्योदय निकट है ।

रजनीश के प्रणाम

१७-११-१९७०

[प्रति स्वामी आनन्दमूर्ति, अहमदाबाद]

३२ / स्वयं में होना ही स्वस्थ होना है

प्रिय योग चिन्मय,

प्रेम । मनुष्य के व्यक्तित्व मे अनेक केंद्र है , लेकिन उलझे हुए सूत के धागों जैसा सब-कुछ उलझ गया है ।

मन काम-केंद्र का काम कर रहा है ।

इससे ही मस्तिष्कगत-यौन (Cerebral Sex) की विकृतियाँ पैदा हो गयी है ।

एक कहानी याद आती है

नेपोलियन के दरबार का एक सभ्रात व्यक्ति अपनी यात्रा के समय के पूर्व ही वापस आ गया था ।

लेकिन, अपने निवास पर पहुँच कर उसने देखा कि उसकी पत्नी राजधानी के प्रधान पुरोहित की बाहो मे है ।

एक क्षण को तो वह ठिठका और फिर अत्यत शालीनता से खिडकी के पास जाकर राह चलते लोगो के प्रति आशीर्वाद देने की मुद्रा मे खडा हो गया !

उसकी पत्नी ने घबडा कर पूछा कि यह क्या कर रहे हो ! तो उसने कहा : महामहिम पुरोहित जी मेरा कार्य कर रहे है, इसलिए मै उनका कार्य किये दे रहा हूँ ! (Monseigneur is performing my functions, so I am performing his !)

लेकिन, ऐसा चित्त के केंद्रो पर नही चल सकता है ।

यद्यपि, ऐसा ही चल रहा है !

सो परिणाम प्रकट है ।

चित्त कम ही है, चेतना कम ही है, विक्षिप्तता ही ज्यादा है ।

मनुष्य एक विक्षिप्त-प्राणी हो गया है ।

मनस् के स्वास्थ्य के लिए यह अत्यत आवश्यक है कि चित्त का प्रत्येक केंद्र स्वय का ही कार्य करे, अन्य का नही ।

सब केंद्र स्वय मे हो, तो मनुष्य भी स्वय मे होता है ।

और, **स्वय में होना ही स्वस्थ होना है ।**

रजनीश के प्रणाम

१८-११-१९७०

[प्रति स्वामी योग चिन्मय, बम्बई]

३३ / प्रार्थना और प्रतीक्षा

प्रिय पद्मा,

प्रेम । सुबह होने के करीब है ।

अब रात्रि के स्वप्नो की बाते छोड और सूर्य के स्वागत की तैयारी कर ।

मोर का अंतिम तारा भी डूब रहा है ।

अतीत को भूल और भविष्य को देख ।

प्रार्थनाएँ सुन ली गयी है और प्रभु-मदिर के द्वार खुलने को ही है ।

उन्ही पर टकटकी लगा ।

आँखें यहाँ-वहाँ न भटके । कान और कुछ न सुने । हृदय और कुछ न माँगे ।

प्रतीक्षा और प्रार्थना ।

प्रार्थना और प्रतीक्षा ।

रजनीश के प्रणाम

२७-११-१९७०

[श्रीमती पद्मा इंजीनियर, द्वारा श्री ए० बी० इजीनियर, १५, सरस्वती महाल, पौड फाटा, उरडवणा, पूना-४]

३४/संकल्प की जागृति

मेरे प्रिय,

प्रेम। आगे बढे। लक्षण शुभ है।

ध्यान की गगा अभी गगोत्री मे है। लेकिन, पहुँचना चाहती है सागर तक।

फिर, सागर दूर भी नही है।

सकल्प पूर्ण है, तो गगोत्री ही सागर बन जाती है।

सकल्प की कमी ही सागर की दूरी है।

सकल्प को संगृहीत करें, क्योकि सकल्प का बिखराव ही सकल्प हीनता है।

जैसे, किरणे सगृहीत हो अग्नि बन जाती है, ऐसे ही सग्रहीत सकल्प शक्ति बन जाता है।

यह शक्ति सबमे है।

यह शक्ति स्वरूपसिद्ध अधिकार है।

इसे जगायें और इकट्ठा करें।

उसका सोया होना ही ससार है।

उसका जागना ही मुक्ति है।

रजनीश के प्रणाम

२७-११-१९७०

प्रति श्री कान्तिलाल एम० नायक, द्वारा—ब्रुक बांड इंडिया लि०, इडस्ट्री हाउस, आश्रम रोड, अहमदाबाद।

३५ / जीना ही एकमात्र जानना है

प्रिय अंसु,

प्रेम। नहीं—**कुछ भी मनुष्य के वश में नहीं है।**

क्योंकि, मनुष्य सागर की एक लहर है—सागर से अभिन्न।

इसलिए, **सोचो मत—बस, जियो।**

क्षण में—अभी और यहीं।

और, तुलना मत करो।

दो क्षणों की तुलना ही पागलपन है।

क्षण आणविक (Atomic) है।

उन्हें एक-दूसरे से तौलने का कोई भी उपाय नहीं है।

जीने का उपाय है—जीने से अलग जानने का कोई उपाय नहीं है।

बस, जानो कि जीना ही एकमात्र जानना है (Living is the only knowing)

और फिर, आनन्द ही आनन्द है।

क्योंकि, **तुलना करनेवाले मन के अतिरिक्त और कहीं आनन्द का अभाव नहीं है।**

रजनीश के प्रणाम

१४-१२-१९७०

[प्रति सुश्री अमुबेन जानी, गडडा (स्वामीना), गुजरात]

३६ / जीवन-रस का सूत्र

प्रिय कमलेश,

प्रेम। रस को उलीचो—फेंको—बिखेरो—चारो ओर।
उसे रखो मत—बाँटो।
क्योकि, बाँटना ही उसके बढने का नियम है।
ओर, रोका कि वह मरा।
रस-दान की इस अनिवार्यता से ही जन्मी हैं समस्त कलाएँ।
रस ही अभिव्यक्ति होने की आतुरता मे कला बन जाता है।
वही बनता है गीत।
वही मूर्ति।
वही बनता है बुद्ध।
वही कबीर।
वही कृष्ण।
रस को उलीचो—फेंको—बिखेरो।
उठते—बैठते।
सोते—जागते।
उसे बाँटो।
रोको तो वही रस जहर हो जाता है।
बाँटो तो वही अमृत है।

रजनीश के प्रणाम
१४-१२-१९७०

[प्रति श्री कमलेश शर्मा, (स्वामी चैतन्य वीतराग), रायपुर, म० प्र०]

३७ / प्रभु-लीला अद्भुत है

मेरे प्रिय,

प्रेम । प्रभु-लीला अद्भुत है ।

विरोध से भी कार्य ही होता है ।

और, शायद उसके बिना हो ही नही सकता है ।

इसलिए, जो मेरा विरोध करते है, मैं उनका अनुगृहीत ही होता हूँ ।

जीसस को जिन्होने सूली दी---उनके साथ न्याय नही हुआ है ।

क्योकि, उनके बिना जीसस को कोई जानता भी नही ।

जीसस का मदिर जिस सूली को आधार बना कर खडा हुआ, उस सूली को जीसस के शत्रुओ ने निर्मित किया था ।

काश ! उन्हे यह पता होता ?

लेकिन, जीसस को यह जरूर ही पता था ।

जीसस ने कहा भी था "ये नही जानते कि ये क्या कर रहे है !"

सुकरात जैसो को जहर अकारण ही नही मिलता है---वे निश्चय ही उसके योग्य होते है---They deserve it

क्योकि, वह जहर ही उनके संदेशों के लिए अमृत बन जाता है ।

इसलिए कहता हूँ प्रभु-लीला अद्भुत है !

रजनीश के प्रणाम

१४-१२-१९७०

[प्रति श्री जयेन्द्र भट्ट, बडौदा-६]

३८ / चिंताओं की जड़ें—अहंकार में

प्रिय सुशीला,

प्रेम। प्रभु स्वय ही उनकी चिता करता है, जो कि अपनी चिता छोड देते है।

लेकिन, स्वय के रहते स्वय की चिंता नही छूटती है।

असल मे स्वय का होना ही वास्तविक चिना (Anxiety) है।

शेष सब चिताएँ उस मूल चिता की ही फीकी प्रतिध्वनियाँ है।

पर मनुष्य मूल को छोड़—स्रोत को छोड़—प्रतिछायाओ को ही मिटाने मे जीवन गंवा देता है।

और, इधर रावण का एक सिर गिरता है, उधर दूसरा पैदा हो जाता है।

शाखाओ से चलता है सघर्ष और मूल को—जड को हम स्वय ही जल देते रहते हैं।

ऐसी मूढता ही मनुष्य का अभिनय कर रही है।

लेकिन, शाखाएँ जिनके हाथ मे है, वे जडों को भी खोज सकते है।

शाखाओ से लडे न—वरन् शाखाओ के सहारे भूगर्भ मे उतरे—जडो की खोज मे।

और, वहाँ चिंताएँ नही है।

वहाँ है अस्मिता (Ego)—वहाँ है स्व।

और, वह स्व, देखते ही—दर्शन मात्र से ही खो जाता है।

क्योकि अधकार ही उनका जीवन है।

रजनीश के प्रणाम

१४-१२-१९७०

[प्रति श्री सुशीला सिन्हा, पटना]

३९ / सत्य प्रेम की कसौटी

मेरे प्रिय,

प्रेम। सत्य के मार्ग मे काँटे है—थोड़े नही, बहुत।
लेकिन, उनमे ही सत्य प्रेम की परीक्षा भी है।
सत्य के फूल जिन्हे पाना है, उन्हे काँटो से गुजरना ही पड़ता है।
सत्य सस्ता नही है।
कभी नही था, और कभी होगा भी नही।
मूल्य चुकाओ—और घबडाओ नही।
सूली के पार सिंहासन है।

रजनीश के प्रणाम
१४-१२-१९७०

[प्रति श्री अखिलानद तिवारी, धनबाद, बिहार]

४१/ जीवन के तथ्यों की आग का साक्षात्कार कर

प्यारी गुणा,

प्रेम । दैनंदिन जीवन की व्यस्तता को ही जीवन मत समझ लेना ।

वह जीवन के लिए जरूरी है, लेकिन जीवन ही नहीं है ।

साधना को जो साध्य समझ लेता है, वह व्यर्थ ही जीवन के केंद्र से च्युत हो जाता है ।

फिर, जो खाली न रह सके—अव्यस्त (Unoccupied) क्षण जिसे बोझिल और उबाने वाले हो जावे, उसकी व्यस्तता तो मात्र भुलावा है ।

भुलावा—स्वय का—सत्य का ।
भुलावा—जीवन की असारता का ।
भुलावा—जो है—उसका ।

और ऐसे **भुलावे में सोये रहना रुग्ण है ।**

स्वस्थ तो वही है, जो अव्यस्त क्षणो मे आनन्दित है ।

स्वस्थ तो वही है, जो स्वय से पलायन (Escape) मे नही है ।

स्वस्थ तो वही है, जो निपट स्वयं के साथ ही सुखी और संतुष्ट है ।

●

क्रोध है, तो पश्चात्ताप से कुछ भी न होगा ।

क्रोध है, तो उसे जियो और जानो ।

उसे भोगो—उसके जहर को पियो और उसकी आग में जलो ।

क्रोधाग्नि की समग्रानुभूति (Total Experiencing) ही उसके बाहर छलाँग बन जाती है ।

पश्चात्तापादि क्रोध को सदा-सदा के लिए चलाये रखने की योजनाएँ है ।

क्योकि, पश्चात्ताप के बाद पुन क्रोध करने की पूर्वास्थिति के अतिरिक्त और क्या उपलब्ध होता है !

पश्चात्ताप अहंकार की पुनर्स्थापना है ।

पश्चात्ताप मे बहते आँसू मन की चालाकियो के जाल से जन्मते है ।

अन्यथा, फिर क्रोध असभव हो जाता न ?

स्वर्ग का मार्ग अनिवार्यत नरक से होकर गुजरता है ।

लेकिन, जो नरक मे भी आँखे बद करके जीने मे कुशल है, वे नरक मे ही अटक जाते हैं ।

आँखें खोलो—धोखा न दो स्वय को ।

क्रोध है, तो जानो कि **मैं क्रोध हूँ ।**

और, यहाँ-वहाँ भागो मत ।

तथ्य में ठहरो ।

आग में रुको ।

और, फिर छलाँग लग जाती है—आग के बाहर—नरक के बाहर ।

लेकिन, मनुष्य का कुशल मन कहता है मै बुरा नही हूँ और यदि बुराई आती है, तो मेरे बावजूद आती है। बुराई मुझमें नही है। बुराई परिस्थिति में है। या, दूसरे में है।

ऐसी होशियारियों को समझना ।

ऐसी होशियारियाँ अत्यत महँगी है ।

क्योकि, नरक उनकी आधारशिला पर ही निर्मित होता है ।

क्रोध को ही देखो—उसके कारण खोजने मे मत लग जाओ ।

वह क्रोध के दर्शन से बचना है ।

और, क्रोध के दर्शन के अतिरिक्त क्रोध से और कोई नही बचा सकता है ।

●

व्यक्ति अकेला है—बिलकुल अकेला ।

इसीलिए, प्रेम है ।

इसीलिए, प्रार्थना है ।

लेकिन, यह खोज असफल होने को आबद्ध है ।

वह असफल होगी ही ।

क्योंकि, व्यक्ति स्वयं के अतिरिक्त और किसी को नहीं पा सकता है ।

ऐसी ही नियति है ।

ऐसा ही नियम है ।

इसलिए, जो प्रेम, जो प्रार्थना, दूसरे की खोज की वासना से उत्पन्न होते हैं, वे दुख के अतिरिक्त और कही नही ले जाते हैं ।

इसमे किसी का कसूर नही है ।

सिर्फ नियम का अज्ञान है ।

और, जीवन के नियमो के अज्ञान का फल भोगना ही पडता है ।

हाँ—एक और प्रेम भी है—एक और प्रार्थना भी है ।

लेकिन, वे स्वय की खोज और उपलब्धि से निष्पन्न होते हैं ।

तब प्रेम माँग नही, दान है ।

तब प्रार्थना आकांक्षा नहीं, अनुगृहीत चित्त का अहोभाव है ।

रजनीश के प्रणाम

१४-१२-१९७०

[प्रति . सुश्री गुणा शाह, बम्बई]

४१ / मैं नहीं—अब तो वही है

प्रिय कमलेश,

प्रेम। मैंने नही—स्वीकारा है तुम्हे स्वय प्रभु ने।

अब मै हूँ भी ?

देखो—कही भी दिखाई पडता हूँ ?

पारदर्शी (Transparent) भी हो गया हूँ, स्वयं को खोकर।

इसलिए, जिसके पास भी आँखे है, वह मेरे आर-पार देख सकता है।

और, तुम्हारे पास आँखे है।

देखो—सकोच छोडो—कही भी मै दिखाई पड़ता हूँ ?

मैं नहीं——अब तो वही है।

और जब मैं कहता हूँ 'मैं'—तब वही कहता है।

इसलिए, बहुत बार मेरा 'मै' विनम्र भी नही मालूम पडता है।

क्योकि, वह मेरा है ही नही।

और, जिसका है, उसके लिए क्या विनम्रता—क्या अहकार ?

रजनीश के प्रणाम

१५-१२-१९७०

[प्रति श्री कमलेश शर्मा, (स्वामी चैतन्य वीतराग), रायपुर, म० प्र०]

४२ / अन्त अनुभवों के साक्षी बनें

मेरे प्रिय,

प्रेम। लक्षण अति शुभ है।

मंजिल ज्यादा दूर नही है।

प्रार्थना पूर्वक आगे बढते रहे।

जो हो रहा है—जो-जो अनुभव हो रहे है, वे बहुमूल्य है, लेकिन उनके सबध मे सोच-विचार न करे—बस, उनके साक्षी रहे।

ऐसी अवस्था मे विचार बाधा है। विश्लेषण घातक है। व्याख्या विनाश है।

राह पर और भी अनूठे दृश्य आवेगे—पर उन्हे देखे और आगे बढें।

एक पल भी उनके पास रुकना नही है।

अब उन पर न रुकना ही साधना होगी।

उनके सबध मे बस, द्रष्टा से ज्यादा कुछ भी नही होना है।

ये क्षण परीक्षा के है।

और, ध्यान रहे कि **हजार मे एक व्यक्ति इस दिशा में चलता है और हजार चलने वालो मे एक आगे बढ़ता है और हजार बढ़ने वालो में एक पहुँचता है।**

लेकिन, तुम्हारे सबध मे मै पूर्णतया आशान्वित हूँ।

रजनीश के प्रणाम

१५-१२-१९७०

[प्रति श्री प्रेमसिंह, कपूरथला, पजाब]

४३ / विचार, निर्विचार और सत्य

प्रिय अरुण,

प्रेम। विचार सम्मोहक (Hypnotic) शक्ति है।

इसलिए, **जैसा सोचोगे, वैसा हो जाओगे।**

विचार के बीज सम्हल कर बोना।

क्योकि, फिर वैसी ही फसल उपलब्ध होती है।

स्वय को साहसहीन समझोगे, तो हो जाओगे।

लेकिन, ध्यान रखना कि समझना 'होने' के कारण नही है; **विपरीत, 'होना' ही समझने के कारण है।**

मनुष्य वही है, जो सोचता है कि है।

समस्त आकृतियाँ—स्वय को दिये गये समस्त रूप विचार-प्रक्षेपण (Thought Projection) हैं।

इसलिए ही तो, जहाँ विचार नही है, वही मनुष्य भी नही है।

इसलिए ही तो, जहाँ विचार नही है, वहीं निराकार है।

इसलिए ही तो, जहाँ विचार नही है, वही निर्गुण है।

निर्विचार चेतना अर्थात् परमात्मा।

आकार देना है, तो विवेक से दो।

अन्यथा दो ही नही।

विचार करना है, तो सम्हलकर।

अन्यथा बिना सम्हले ही निर्विचार मे कूदो।

कुछ बनना है, तो सोचकर बनो।

हाँ—मिटना है, तब सोच-विचार की कोई जगह नही है।

लेकिन, बिना सोचे-विचारे बनना घातक है।

क्योकि, तब आकृतियाँ विकृत और कुरूप हो जाती है।

सत्य को नही खोज सकते हो अभी, तो **कम से कम 'सुदर' को तो खोजो।**

यद्यपि, 'सुदर' की खोज अतत सत्य की खोज मे ले जाती है।

क्योकि, सत्य ही परम सोदर्य है।

और, निराकार ही पूर्णाकार है।

रजनीश के प्रणाम

१५-१२-१९७०

[प्रति श्री अरुणकुमार, पटना]

४४/ संकल्प के बिना जीवन स्वप्न है

प्यारी अरुण,

प्रेम। **अब देर न कर और ध्यान में डूब।**
बहुत देर तो वैसे ही हो चुकी है।
स्मरण कर—कितने जन्मो की तेरी आकांक्षा है ?
अब स्मरण कर—अब सकल्प कर।
साहस के बिना जीवन पर जीवन ऐसे ही बीत जाते है।
सकल्प के बिना अवसर पर अवसर ऐसे ही खो जाते है।
संकल्प के बिना जीवन स्वप्न है।
और, सकल्प हो, तो स्वप्न भी सत्य हो जाते है।
और, सकल्प न हो, तो सत्य भी स्वप्न रह जाते है।
सकल्प ही वह कीमिया है, जो कि कंकड-पत्थरो को हीरों मे बदल देती है।

रजनीश के प्रणाम

१५-१२-१९७०

[प्रति सुश्री अरुण, अमृतसर पजाब]

४५ / अज्ञान का बोध

प्रिय राज,

प्रेम। **अज्ञान का बोध बड़ी उपलब्धि है।**

क्योकि, ज्ञान के मंदिर मे प्रवेश की वह अनिवार्य शर्त है।

तेरा ज्ञान जा रहा है, सो अच्छा है।

जो ज्ञान उधार है, वह ऐसा ही व्यर्थ हो जाता है।

वह व्यर्थ सिद्ध न हो तो ही खतरा है।

अज्ञान को ढँकना ज्ञान नही है।

अज्ञान को भूलना ज्ञान नही है।

लेकिन, साधारणत जिसे मनुष्य ज्ञान कहता है, वह ऐसा ही ज्ञान है।

ऐसे ज्ञान से वास्तविक ज्ञान के आगमन का द्वार ही अवरुद्ध हो जाता है।

निर्मम होकर ऐसे ज्ञान को फेंक दे।

कचरे की भाँति।

और, उसे लौट-लौटकर भी मत देख।

आगे बढ—आगे, जहाँ कि ज्ञान का सूर्य है।

स्व-ज्ञान मे।

स्वानुभूति मे।

ध्यान मे।

समाधि मे।

रजनीश के प्रणाम

१५-१२-१९७०

[प्रति श्रीमती राजशर्मा, अमृतसर, पंजाब]

४६ / तीसरी आँख

प्रिय योग समाधि,

प्रेम। तेरे लिए जो भी संभव है, वह करूँगा।

और, वह भी, जो असंभव है।

क्योंकि, असंभव तो कुछ भी नहीं है।

मदद तुझे दी जा रही है।

अनेक रूपों में।

दृश्य भी—अदृश्य भी।

उसका अनुभव भी तुझे होता है।

धीरे-धीरे अनुभव और भी स्पष्ट होगा।

अदृश्य को पकड़ने के लिए चित्त को समायोजित (Adjust) होने में थोड़ा समय लगता है।

लेकिन, जो भी अनुभव हो, उसे **ध्यानपूर्वक देखना।**

आँखों को बंद करके।

तो धीरे-धीरे तेरी तीसरी आँख (Third Eye) सक्रिय हो उठेगी।

जिन इंद्रियों से तू अभी परिचित है, अदृश्य में उनका उपयोग नहीं है।

उनकी अपनी सीमा है।

वे दृश्य—सूक्ष्म और अशरीरी हैं।

उनसे तेरा पहला और धुँधला परिचय शुरू हो गया है।

यह शुभ है और मैं प्रसन्न हूँ।

रजनीश के प्रणाम

१५-१२-१९७०

[प्रति मा योग समाधि, राजकोट, सौराष्ट्र]

४७ / खोजो—स्वयं को

प्रिय राजेन्द्र,

प्रेम। **जीवन है एक स्वप्न।**

जन्म और मृत्यु के बीच फैला हुआ एक इंद्रधनुष।

है, तो भी नही है।

और, नही है, तो भी अतर नही पडता है।

इसलिए, शरीर की चिंता छोडो।

और, **खोजो स्वयं को।**

स्वयं की चेतना को।

उसे जो शरीर मे है और शरीर नही है।

उस अशरीरी के प्रति जागते ही सब बदल जाता है।

जैसे आधी रात हो और अचानक सूर्य निकल आये।

या जैसे मरुस्थल मे अचानक गगा का आगमन हो जाये।

बस, ऐसे ही सब बदल जाता है।

व्यर्थ चिंताओ मे समय न खोओ।

और, व्यर्थ आशाओं में भी नही।

क्योंकि, जीवन मे आत्मा के अतिरिक्त और कोई आशा नही है।

रजनीश के प्रणाम

१६-१२-१९७०

[प्रति . श्री राजेन्द्र आकुल, जबलपुर]

४८ / मन से तादात्म्य तोड़

प्रिय योग प्रेम,

प्रेम । हवा के झोको मे कंपती दीये की ज्योति की भाँति है मन ।

कँपेगा ।

दुविधा मे पडेगा ।

खड-खड होता रहेगा ।

तू उसके पार हो ।

उससे दूर हो ।

उससे ऊपर उठ ।

उसे पीछे छोड—नीचे छोड ।

तू मन नहीं है ।

तू तो वही है, जो कि मन को भी जानता है ।

उसके कम्पनो को जानता है ।

उसकी दुविधाओ को जानता है ।

इस जानने (Knowing) मे ही ठहर ।

इस द्रष्टा-भाव मे ही रमण कर ।

तू तो यह साक्षी (Witness) ही बन ।

और फिर, इस अतिक्रमण से मन शात हो जाता है ।

ऐसे ही जैसे कि हवा के झोके बद हो गये हो, तो दीये की लौ नही कपती है ।

मन से स्वय का तादात्म्य (Identity) ही हवा के झोको का काम करता है ।

इधर टूटा तादात्म्य—उधर हुई आँधियाँ बद ।

और, जहाँ आँधियाँ नही है, वही आनन्द है ।

रजनीश के प्रणाम

१६-१२-१९७०

[प्रति मा योग प्रेम, आजोल]

४९ / प्रेम के मार्ग पर काँटे भी फूल बन जाते हैं

प्यारी मधु,

प्रेम । मीरा ने ऐसे ही नही गाया है 'सूली ऊपर सेज पिया की ।'
सच मे ही सेज सूली के ऊपर ही है ।
या कि सूली ही सेज है ?
लेकिन, **पिया की खोज का आनन्द सूलियों की चिंता नहीं करता है ।**
प्रेम के मार्ग पर पडे काँटे अनायास ही फूल बन जाते हैं ।
वहाँ अँधेरा भी प्रकाश है ।
और, विष भी अमृत है ।
और, वे अभागे हैं, जो कि ऐसे विष को नही जानते हैं, जो कि अमृत है ।
लेकिन, तू तो जान रही है ।
और भी जानेगी ।
और इसलिए, जो जानते है, वे तुझसे ईर्ष्या करे, तो आश्चर्य तो नही है ।

रजनीश के प्रणाम

१६-१२-१९७०

[प्रति मा आनद मधु, आजोल]

५० / संन्यास सबसे बड़ा विद्रोह है

प्रिय कृष्ण कबीर,

प्रेम। सन्यास बडा से बडा विद्रोह है—ससार से, समाज से, सभ्यता से।

वह मूल्यो का मूल्यातरण है।

वह स्वयं से, स्वयं में और स्वयं के द्वारा क्रांति है।

इसलिए, अनेक प्रकार की कठिनाइयाँ सहनी होगी।

विरोध होगा।

हँसी होगी।

लेकिन, उस सबके साक्षी बनना।

वह परीक्षा है।

और, उससे तुम निखरोगे और उज्ज्वल बनोगे।

उनका अनुग्रह मानना, जो तुम्हें सतावें।

क्योकि वे ही तुम्हारे लिए परीक्षा का अवसर देगे।

विनम्रता से सब सहना।

सतोष से सब स्वीकार करना।

और, तब तुम पाओगे कि **इस जगत् में शत्रु कोई भी नहीं है।**

सिवाय स्वय के अहकार के।

रजनीश के प्रणाम

१६-१२-१९७०

[प्रति. स्वामी कृष्ण कबीर, अहमदाबाद]

५१ / जीवन है चुनौती—अनंत आयामी

प्रिय कमलेश,

प्रेम । **जीवन चुनौती है ही ।**

अनंत आयामी (Multi-Dimensional) ।

इसलिए ही तो जीवन ठहराव नही, गति है ।

अतहीन ।

इसलिए, जो जीवन को चुनौती की भांति नही लेते हैं, वे जीते नही, बस मरते ही हैं ।

पूरे जीवन ।

जन्म से मृत्यु तक उनकी, बस, एक ही गति है—मृत्यु की ओर ।

उनकी मजिल सुनिश्चित है, क्योकि उनका मुकाम मृत्यु है ।

जीवन है अनिश्चित ।

प्रतिपल नया ।

अनायोजित ।

अनपेक्षित ।

जीवन की भविष्यवाणी नही हो सकती है ।

जीवन का ज्योतिष नहीं है ।

सब ज्योतिष मृत्यु के ही हैं ।

इसलिए ही जीवन चुनौती (Challenge) है ।

मृत्यु है विश्राम ।

जीवन है सघर्ष ।

लेकिन, विश्राम भी उन्ही के लिए है मृत्यु, जिन्होंने जीवन का सघर्ष किया है ।

जो जिये ही नही, उनके लिए मृत्यु भी, बस, भय के अतिरिक्त और कुछ भी नही है ।

इसलिए, जो जितना भयभीत है मृत्यु से, वह उतना ही कम जीवित है ।

जो जीवित है, उसके लिए तो जैसे मृत्यु है ही नही ।

जीवन के सघर्ष से ही मृत्यु का विश्राम-रूप अर्जित होता है ।

वह जीवन की कमाई है।

इसलिए, **जो मृत्यु को कमाकर मरता है,** वह अमृत को उपलब्ध हो जाता है।

जैसे कोई जीसस।

जैसे कोई सुकरात।

कमाओ मृत्यु को--जीवन की सारभूत चुनौती यही है।

रजनीश के प्रणाम

१६-१२-१९७०

[प्रति . श्री कमलेश शर्मा, (स्वामी चैतन्य वीतराग), रायपुर, म० प्र०]

५२ / मन का रेचन—ध्यान में

प्रिय कुसुम,

प्रेम। भय न करो।

ध्यान मे जो भी हो—होने दो।

मन रेचन (Catharis) मे है, तो उसे रोको मत।

चित्त-शुद्धि का यही मार्ग है।

अचेतन (Unconscious) मे जो भी दबा है, वह उभरेगा।

उसे मार्ग दो, ताकि उससे मुक्ति हो सके।

उसे दबाया कि ध्यान व्यर्थ हुआ।

और, उससे मुक्ति हुई नही कि ध्यान सार्थक हुआ।

इसलिए, **समस्त उभार का स्वागत करो।**

और, उसे सहयोग भी दो।

क्योकि, अपने आप जो कार्य बहुत समय लेगा, वह सहयोग से अल्पकाल मे ही हो जाता है।

रजनीश के प्रणाम

१७-१२-१९७०

[प्रति कुसुम, पूना]

५३/स्वयं को प्रभु-पूजा का नैवेद्य बना

प्यारी विमल,

प्रेम। स्वीकृत है—तू सदा से ही स्वीकृत है।

जैसी है, वैसी ही।

प्रभु-मंदिर के द्वार सदा ही **बेशर्त खुले** हैं।

स्वयं को ही जो स्वयं स्वीकार नहीं कर पाते हैं, उनके अतिरिक्त प्रभु-मंदिर में कोई भी अस्वीकृत नहीं होता है।

लेकिन, उसकी जिम्मेवारी स्वयं उन पर ही है।

आत्म-निंदा अधर्म है—शायद वही एकमात्र अधर्म है।

आत्म-निंदा ही मूल पाप (Original Sin) है।

क्योंकि, आत्म-निंदक स्वयं को प्रभु-पूजा का नैवेद्य नहीं बना पाता है।

स्वयं को पूर्ण स्वीकृति (Total Acceptance) से जीवन में जो फूल खिलता है, वही तो प्रभु-चरणों में रखा जा सकता है।

रजनीश के प्रणाम

१७-१२-१९७०

पुनश्च: सूदजी को प्रेम। उनका स्वास्थ्य अब कैसा है? उनकी सेवा ही तेरी साधना है।

[प्रति : श्रीमती विमल सूद, पूना]

५४/ ध्यान आया कि मन गया

प्रिय ललिता,

प्रेम । ध्यानोपलब्धि **समय** का सवाल नही है।
सकल्प (Will) का है।
सकल्प पूर्ण हो, तो क्षण मे भी ध्यान घटित होता है।
और, सकल्पहीन चित्त जन्मो-जन्मो तक भी भटक सकता है।
सकल्प को प्रगाढ कर।
सकल्प को केंद्रित कर।
संकल्प को पूर्ण कर।
और फिर, ध्यान स्वत: ही तेरे द्वार खटखटाएगा।
और, मन तब तक सताता ही है, जब तक ध्यान नही है।
मन (Mind) **ध्यान** (Meditation) **के अभाव का ही नाम है।**
जैसे अधकार प्रकाश के अभाव का नाम है—ऐसे ही।
प्रकाश आया कि अधकार गया।
ध्यान आया कि मन गया।
इसलिए, अब ध्यान मे डूब।
शेष सब पीछे स्वय ही चला आता है।

रजनीश के प्रणाम

१७-१२-१९७०

[प्रति सुश्री ललिता राठौर, चन्द्रावतीगज, फतेहाबाद]

५५ / जो है—है, फिर द्वन्द्व कहाँ !

प्रिय गीतगोविन्द,

प्रेम। निराश क्यों होते हो ?
क्या निराशा अति-आशा का ही परिणाम नहीं है ?
उदास क्यो होते हो ?
क्या उदासी अति-अपेक्षा (Expectation) की ही छाया नही है ?
निराशा पूर्ण हो, तो फिर निराश होने का उपाय नहीं रहता है।
उदासी पूर्ण हो, तो वह भी उत्सव बन जाती है।
इसलिए कहता हूँ : द्वन्द्व छोडो।
यह धूप-छाँव का खेल छोडो।
जागो और जानो कि जो है—है।
अधकार तो अधकार।
मृत्यु तो मृत्यु।
जहर तो जहर।
और फिर देखो अधकार कहाँ है !
और फिर खोजो मृत्यु कहाँ है ?
अधकार है—आलोक की आकाक्षा मे।
मृत्यु है—अनत जीवेषणा मे।
और, जहर अमृत की माँग के अतिरिक्त और कुछ नही है।

रजनीश के प्रणाम
१७-१२-१९७०

[प्रति स्वामी गीतगोविन्द, द्वारा इडियन टुवैको कं० लि०, पोस्ट-नवरगपुरा अहमदाबाद-९]

५६/कारण स्वयं में खोज

प्रिय चन्दन,

प्रेम। जगत् न दुःख है, न सुख।

जगत् वैसा ही हो जाता है, जैसी कि हमारी दृष्टि है।

दृष्टि ही सृष्टि है।

प्रत्येक स्वय अपने जगत् का निर्माता है।

यदि, तुझे जीवन का प्रत्येक क्षण दुःख देता है, तो कही न कही तेरी दृष्टि मे भूल है।

और यदि, तुझे सब ओर अधकार ही अधकार दिखाई पडता है, तो निश्चय ही तूने आलोक को देखने वाली आँखे बद कर रखी है।

स्वय पर **पुर्नविचार** कर।

स्वय को नये सिरे से देख।

दूसरो को दोष दिया, तो स्वय की भूल न खोज पायेगी।

परिस्थितियो को दोष दिया, तो मन स्थिति की जडो मे प्रवेश न हो सकेगा।

इसलिए, जो स्थिति है, उसके कारणो को स्वय मे खोजने निकल।

कारण सदा स्वय में ही होते हैं।

लेकिन सदा ही दूसरो मे **दिखाई** पडते है।

इस मूल से बचना और फिर दुःख को बचाये रखना मुश्किल होगा।

दूसरे तो सिर्फ दर्पण (Mirror) का काम करते हैं।

चेहरा तो सदा हमारा अपना ही होता है।

जीवन महोत्सव हो सकता है।

लेकिन, स्वय को नये सिरे से सृजन करना आवश्यक है।

और, वह कार्य कठिन नही है।

क्योकि, स्वय की दृष्टि की भूलो के **दर्शन** से ही उन भूलो के प्राणात शुरू हो जाते है और नये व्यक्ति का जन्म होने लगता है।

रजनीश के प्रणाम

१७-१२-१९७०

[प्रति सुश्री चन्दन वी० पन्ड्या, द्वारा श्री बी आई पन्ड्या, बडौदा-१, गुजरात]

५७ / खिलना—संन्यास के फूल का

मेरे प्रिय,

प्रेम । जीवन मे जो भी शुभ है, सुदर है, सत्य है, सन्यास उन सबका समवेत सगीत है ।

सन्यास के बिना जीवन मे सुवास असमव है ।

जीवन अपने आप मे जडो से ज्यादा नही है ।

संन्यास का फूल—जब तक न खिले, तब तक जीवन—अर्थ और आनन्द और अहोभाव को उपलब्ध नही होता है ।

और, मैं यह जानकर अत्यधिक आनन्दित हूँ कि आत्म-क्राति का वह अमूल्य क्षण तुम्हारे जीवन मे आकर उपस्थित हो गया है ।

तुम्हारी आँखो मे उस क्षण को मैंने देखा है ।

वैसे ही जैसे भोर मे सूर्योदय के पूर्व आकाश लालिमा से भर जाता है, ऐसे ही सन्यास के पूर्व की लालिमा को मैंने तुम्हारे हृदय पर फैलते देखा है ।

पक्षी स्वागत-गीत गा रहे हैं और सोये पौधे जाग रहे हैं ।

अब देर उचित नही है ।

ऐसे भी क्या काफी देर नही हो चुकी है ?

रजनीश के प्रणाम

१७-१२-१९७०

[प्रति . अनूपचन्द एम० शाह, सुरेन्द्रनगर, गुजरात]

५८/ तेरी मर्जी पूरी हो (Thy Will Be Done)

मेरे प्रिय,

प्रेम । समर्पण—पूर्ण समर्पण (Total surrender) के अतिरिक्त प्रभु के मंदिर तक पहुँचने का और कोई भी मार्ग नही है।

छोडें—सब उस पर छोडे ।

नाहक स्वय के लिए सिर पर बोझ न ढोवे ।

जो उसकी मर्जी—इस सूत्र को सदा स्मरण रखे ।

जीसस ने कहा है 'तेरी मर्जी पूरी हो—Thy Will Be Done.'

इसे स्वय से कहते रहे।

चेतन से अचेतन तक यही स्वर गूँजने लगे ।

जागते—सोते—यही धुन बजने लगे ।

और फिर, किसी भी क्षण **जैसे ही समर्पण पूर्ण होता है, समाधि घटित हो जाती है ।**

समर्पण की पूर्णता ही समाधि है ।

और, स्वयं का विसर्जन ही समर्पण है ।

कहे : 'जो उसकी मर्जी'—और भीतर देखें ।

क्या कुछ टूटता और खोता हुआ नही मालूम पडता है ?

क्या कुछ नया और अपरिचित जन्म लेता हुआ नही मालूम पडता है ?

रजनीश के प्रणाम

१७-१२-१९७०

[प्रति . श्री काशीनाथ सोमण, पूना]

५९ / स्वयं का समग्र स्वीकार

प्रिय समीर,

प्रेम। स्वय से लडो मत।

व्यर्थ है वैसी लडाई।

क्योकि, उससे जीत कभी भी फलित नही होती है।

स्वय से लडना क्रमिक आत्मघात (Gradual Suicide) के अतिरिक्त और कुछ भी नही है।

स्वय को स्वीकारो।

प्रसन्नता से।

अनुग्रह से।

जो भी शुभ है।

काम भी, क्रोध भी।

क्योकि, जो भी है—प्रभु से है।

उसे स्वीकारो और समझो।

उसमे छुपी सभावनाओ को खोजो और खोलो।

फिर तो, काम (Sex) भी राम का ही बीज मालूम होता है।

और, क्रोध ही क्षमा का द्वार बन जाता है।

अशुभ (Evil) शुभ (Good) का शत्रु नही है।

वरन् **अशुभ मात्र अवरुद्ध शुभ है।**

रजनीश के प्रणाम

१७-१२-१९७०

[प्रति श्री समीर कुमार, अकोला, महा०]

६० / सत्य खोजे बिना, जीवन असार है

प्यारी कौमुदी,

प्रेम। ससार स्वप्न ही है।
खुली आँखो देखा गया स्वप्न।
जन्म और मृत्यु के बीच जो है, वह सत्य नही है।
क्योंकि, सत्य का न कोई जन्म है और न कोई मृत्यु है।
सब जन्म स्वप्न के हैं—सब मृत्युएँ भी स्वप्न की हैं।
जिसका आरम है और अत है—वही स्वप्न है।
जिसका न आदि है, न अत—वही सत्य है।
ऐसे, **सत्य को खोजे बिना जीवन असार है।**
और, मजा तो यह है कि वह सत्य स्वय मे ही है।
उसे खोजने कही भी नही जाना है—न काशी, न काबा।
और, न ही उसे खोजने के लिए भविष्य की या अवसर की ही प्रतीक्षा करनी है।
क्योंकि, वह अभी और यही उपलब्ध है।
लेकिन, **मनुष्य स्वयं को छोड़कर और सब कहीं जाता है।**
स्वय को छोड कर और सब कुछ खोजता है।
परिणामत, स्वय को छोड कर वह सब कही पहुँच जाता है।
और, स्वय को खोकर वह शेष सब पा लेता है।
और, ऐसे जो सम्राट् हो सकता है, वह अपने ही हाथो भिखारी हो जाता है।
पर, ऐसी भूल मे अब तू न पडना।
ध्यान में गहरे उतर—ताकि स्वयं को जान सके।
संसार के स्वप्न को समझ—ताकि स्वयं के सत्य को जान सके।
उसे खोज, जो कि अजन्मा है, अज्ञात है—ताकि उसे पा सके, जो कि अमृत है।

रजनीश के प्रणाम
१७-१२-१९७०

[प्रति सुश्री कौमुदी नटवर लाल, अफ्रीका]

६१/ध्यान की अनुपस्थिति है मन

मेरे प्रिय,

प्रेम। ध्यान के लिए श्रम करो।

मन की सब समस्याएँ तिरोहित हो जावेगी।

असल मे तो **मन ही समस्या है** (Mind is the problem)।

शेष सारी समस्याएँ तो मन की प्रतिध्वनियाँ मात्र है।

एक-एक समस्या से अलग-अलग लडने से कुछ भी न होगा।

प्रतिध्वनियो से संघर्ष व्यर्थ है।

पराजय के अतिरिक्त उसका और कोई परिणाम नही है।

शाखाओ को मत काटो।

क्योकि, एक शाखा के स्थान पर चार शाखाएँ पैदा हो जावेगी।

शाखाओ को काटने से वृक्ष और भी बढता है।

और, समस्याएँ शाखाएँ है।

काटना ही है, तो जड़ को काटो।

क्योकि, जड के कटने से शाखाएँ अपने आप ही विदा हो जाती है।

और, **मन** है जड।

इस जड़ को काटो ध्यान से।

मन है समस्या।

ध्यान है समाधान।

मन मे समाधान नही है।

ध्यान मे समस्या नही है।

क्योकि, मन मे ध्यान नही है।

क्योकि, ध्यान मे मन नही है।

ध्यान की अनुपस्थिति है मन।

मन का अभाव है ध्यान।

इसलिए कहता हूँ. ध्यान के लिए श्रम करो।

रजनीश के प्रणाम

१८-१२-१९७०

[प्रति श्री भोगीलाल मोदी, आजोल, गुजरात]

६२ / विराट् अदृश्य का स्पर्श

प्रिय योग करुणा,

प्रेम । मै सदा साथ हूँ ।

साधना में जब भी तेरे पैर डगमगायें, स्मरण करना मुझे ।

और, तू पायेगी कि अदृश्य हाथो से सहायता पहुँच गयी है ।

दृश्य शक्तियाँ ही सब कुछ नही है ।

वस्तुत तो अदृश्य शक्तियो के सागर के समक्ष वे छोटे-मोटे झरनो से ज्यादा नही हैं ।

और, उनका मूल स्रोत भी अदृश्य मे ही है ।

लेकिन, **अदृश्य से सहायता लेना** भी एक कला है ।

और, शायद वही **श्रेष्ठतम कला है ।**

मौन होकर असहाय होकर, अदृश्य के हाथो मे स्वय को छोडते ही **विराट्** से सबध निर्मित हो जाते है ।

मैं तो अभी, बस, **एक सीढ़ी** का काम कर रहा हूँ ।

जैसे ही तेरा सीधा सबध स्थापित हो जाये, वैसे ही सीढी को हटा देना है ।

सीढियो पर चढना भी होता है और फिर सीढियो से उतरना भी होता है ।

अभी मुझे स्मरण रखो, फिर मुझे विस्मरण भी करना ।

लेकिन, विस्मरण तो वही कर सकेगा न, जिसने कि स्मरण किया है !

रजनीश के प्रणाम

१८-१२-१९७०

[प्रति . मा योग करुणा, विश्वनीड, आजोल, गुजरात]

६३ / बस, स्मरण कर स्वयं का

प्यारी निर्मल,

प्रेम । काश ! तू अयोग्य होती तो योग्य बनाना आसान था ।
सोये को जगाना क्या कठिन है ।
लेकिन, जागे को जगाने की कठिनाई भारी है !
है न ?
कोई भी अयोग्य नही है--यही कठिनाई है ।
कोई भी अपात्र नहीं है—यही कठिनाई है ।
प्रभु कण-कण मे मौजूद है, तो आयोग्यता कैसी ?
वही है, और कोई नही है, तो अपात्रता कहाँ ?
इसलिए, बस, स्मरण कर स्वय का ।
स्मरण कर ।
स्मरण कर ।
और, स्मरण रख कि मैं सदा साथ हूँ ।
घर मे नही, तेरे हृदय मे ही उपस्थित हूँ ।
आँखे बद कर और देख--क्या नही हूँ ?

रजनीश के प्रणाम
१९-१२-१९७०

[प्रति सुश्री निर्मल, अहमदाबाद]

६४ / ध्यान में घटी मृत्यु के पार ही समाधि है

मेरे प्रिय,

प्रेम । ध्यान के वृक्ष पर फूल आने शुरू हो गये है ।
नाचो ।
खुशी मनाओ ।
और, प्रभु को धन्यवाद दो ।
जन्मो की प्यास पूरी होने के करीब है ।
जो सदा-सदा चाहा था, वह होने के निकट है ।
भय न करना ।
चाहे कुछ भी हो ।
मृत्यु भी घटित होती मालूम हो, तो भी आनन्द से साक्षी बने रहना ।
क्योंकि, ध्यान मे घटी मृत्यु के पार ही समाधि है ।
और, समाधि अमृत है ।
अब कठिन होगी चढाई ।
क्योंकि, शिखर निकट है ।
लेकिन, धैर्य से और प्रार्थना पूर्वक आगे बढते रहो ।
जब भी उलझ जाओ,
या मार्ग खोता मालूम पडे ,
या साहस न जुटा पाओ,
या दुविधा घेर ले,
तभी मेरा स्मरण करना ।
लेकिन, जहाँ तक बन सके **साधारणतः मुझे मत पुकारना ।**
स्वय ही जूझना ।
स्वय ही लडना ।

जब और कोई उपाय ही न रहे, और पाओ कि असहाय हो, तभी मुझे स्मरण करना ।

वैसे तुम्हारे स्मरण के बिना भी जो जरूरी है, वह मैं करता ही रहता हूँ ।

रजनीश के प्रणाम

१९-१२-१९७०

[प्रति श्री चद्रकान्त सोलकी, सुरेन्द्रनगर, सौराष्ट्र]

६५ / स्वप्न में डूबना ही दुःख है

प्रिय नीला,

प्रेम । चिंता न लो ।

इस जीवन मे चिंता जैसा कुछ है ही नही ।

समझो कि सब स्वप्न है ।

है भी ।

जो आज है और कल नही है—वह स्वप्न ही है ।

उसमें इतना मत डूबो ।

डूबने से ही चिंता जन्मती है ।

स्वप्न से बाहर निकलो ।

जरा दूर खड़े होकर सब देखो ।

थोडा द्रष्टा बनो ।

स्वप्न मे डूबना ही दुःख है और स्वप्न मे जागते ही स्वप्न बिखर जाता है ।

और, वही आनन्द भी है ।

रजनीश के प्रणाम

१९-१२-१९७०

[प्रति सुश्री नीला, विलेपारले, बम्बई-५७]

६६ / शुभ है बोध—अभाव, खालीपन और अधूरेपन का

मेरे प्रिय,

प्रेम । प्रभु के बिना जीवन अधूरा है ही ।

इसलिए, अधूरा लगता है ।

वैसे, यह बोध—**अभाव—अधूरेपन की यह प्रतीति शुभ है ।**

क्योंकि, इस बोध से और इस बोध के कारण ही ब्रह्म की जिज्ञासा शुरू होती है ।

'अथातो ब्रह्म जिज्ञासा ।'

इस बोध से बचना भर नही ।

इस अभाव से भागना भर नही ।

इस प्रतीति से पलायन भर नही करना ।

वैसे मन पलायन ही सुझाएगा ।

वह पलायन ही ससार है ।

ससार पलायन (Escape) है ।

ससार की सारी व्यस्तता पलायन है ।

वह अभाव को भरने की निष्फल कोशिश है ।

इसलिए, उस दौड के फलस्वरूप सिवाय विषाद के और कुछ भी हाथ नही लगता है ।

क्योंकि, चाहिए प्रभु—और भरते है पदार्थ मे ।

क्योंकि, चाहिए धर्म—और भरते है धन से ।

क्योंकि, चाहिए 'स्व'—और भरते है 'पर' से ।

फिर, सब मिल भी जाता है और फिर भी कुछ नही मिलता है ।

फिर, अभाव—और गहन होकर प्रकट होता है ।

ऐसे क्षण बहुमूल्य है , क्योकि ऐसे क्षण चुनाव और निर्णय के क्षण है ।

या तो, फिर पलायन चुना जा सकता है ।

या, पलायन के चुनाव से इनकार किया जा सकता है ।

पलायन चुना, तो फिर वही परिणाम है ।

जन्मो-जन्मो तक फिर वही परिणाम है ।

अब रुको और पलायन मत चुनो ।

अभाव से भागो मत—अभाव मे ठहरो ।

खालीपन को भरो मत, वरन् स्वयं में खालीपन को ही पूर्णतया भर जाने दो ।
और, वह क्रांति हो जायेगी, जिसका कि नाम संन्यास है ।
और, वह मिल जायेगा, जो कि समस्त अभावों को वाष्पीभूत कर देता है ।
लेकिन, ध्यान रहे कि यह मात्र बुद्धि मे नहीं घटती है ।
सोचो मत—**अब जानो—अब अनुभव करो ।**
ऐसे भी क्या सोच-विचार कुछ कम किया है !

रजनीश के प्रणाम

२०-१२-१९७०

[प्रति श्री आर के नन्दानी, राजकोट, सौराष्ट्र]

६७ / ध्यान में पूरा डूबना ही फल का जन्म है

मेरे प्रिय,

प्रेम। जल्दी न करें।
धैर्य रखे।
धैर्य ध्यान के लिए खाद है।
ध्यान को सम्हालते रहें।
फल आयेगा ही।
आना ही है।
लेकिन, फल के लिए चिंतित न हो।
क्योंकि, वैसी चिंता ही फल के आने मे बाधा बन जाती है।
क्योंकि, वैसी **चिता ही ध्यान से ध्यान को बँटा लेती है।**
ध्यान (Meditation) पूरा ध्यान (Attention) माँगता है।
बँटाव नही चलेगा।
आंशिकता नही चलेगी।
ध्यान तुम्हारी समग्रता (Totality) के बिना सभव नही है।
इसलिए, ध्यान के कर्म पर ही लगो और ध्यान के फल को प्रभु पर छोडो।
और, फल आ जाता है।
क्योंकि, ध्यान मे पूरा डूबना ही फल का जन्म है।

रजनीश के प्रणाम

२०-१२-१९७०

[प्रति श्री रजनीकात, पोरबदर, गुजरात]

६८ / बीज के अंकुरित होने में समय लगता है

प्रिय कृष्ण चैतन्य,

प्रेम। देखता हूँ—देख रहा हूँ, तुम्हारे धूप-छाँव मन को।

डगमगाते पैर और बार-बार खोता-मिलता मार्ग—सब देख रहा हूँ।

करुणा आती है।

जो कर सकता हूँ—जो किया जा सकता है, वह सब कर भी रहा हूँ। फिर भी जल्दी नहीं कर सकता हूँ।

क्योंकि, **प्रत्येक बीज के फूटने का अपना समय है।**

उसके लिए प्रतीक्षा करनी ही होती है।

और फिर, मनुष्य का मन स्व-विरोधी सभावनाओं को एक ही साथ सम्हालने मे भी लग सकता है।

तब तो, स्थिति और भी जटिल हो जाती है।

क्या तुम स्वय को दो नावों मे एक ही साथ सवार हुआ नही देख पा रहे हो ?

रजनीश के प्रणाम

२०-१२-१९७०

[प्रति स्वामी कृष्ण चैतन्य, आजोल]

६९ / जीवन का सत्य अनेकांत है

मेरे प्रिय,

प्रेम । जीवन खण्डित नही है—न काल (Time) मे, न आकाश (Space) मे ।

जीवन कुछ है, तो अखण्डता है—अखण्ड प्रवाह है ।

अतीत, वर्तमान, भविष्य—अखण्ड काल-प्रवाह मे खीची गयी मानवीय रेखाएँ हैं ।

वे वस्तुत कही हैं नही, सिवाय मनुष्य के मन को छोड़कर ।

मन ही समय है (Mind is Time)।

वैसे ही आकाश भी अखण्ड है ।

मै शरीर पर समाप्त नही होता हूँ—वस्तुत. तो, समग्रता की सीमा या असीमा ही मेरी सीमा है ।

किंतु, मन खण्ड किये बिना नही मानता है ।

वह है प्रिज्म की भाँति और खण्डन ही उसका कार्य है ।

उससे गुजर कर अस्तित्व की किरण अनेक किरणो और रगो मे विभाजित हो जाती है ।

मूल में जो एक है, वही शाखाओं में अनेक हो जाता है ।

मूल सनातन है—अनादि—अनत है ।

शाखाएँ सामयिक है—उनका आदि भी है और अत भी है ।

शाखाएँ परिवर्तन हैं ।

मूल नित्य है ।

मूल न बदलता है, न बदला जा सकता है ।

हाँ—बदलने की आकांक्षा की जा सकती है और तब ऐसी आकांक्षा अनिवार्यत. विफलता और विषाद मे ले जाती है ।

शाखाएँ बदलती ही रहती हैं ।

उन्हें बदलने से नही रोका जा सकता है ।

लेकिन, वे न बदलें, ऐसी आकाक्षा जरूर की जा सकती है और तब ऐसी आकाक्षा अनिवार्यरूपेण विफलता और विषाद मे रूपातरित होती है ।

पश्चिम पहले प्रकार की विफलता और विषाद में है ।

पूर्व दूसरे प्रकार की विफलता और विषाद मे है ।

और अभी तक ऐसी संस्कृति को मनुष्य जन्म नहीं दे पाया है, जो सफल ही न हो सुफल भी हो ।

जिन दो सत्यों की बात मैंने ऊपर कही है—मूल का सत्य और शाखाओं का सत्य—नित्य का नियम और अनित्य का नियम—उन दोनो के समवेत सतुलन पर ही वह संस्कृति पैदा हो सकती है, जो कि ध्रुवीय (Polar) नही होगी और एकागी भी नही होगी—जो कि विरोधी ध्रुवो के तनाव का उपयोग करेगी, वैसे ही जैसे कि स्थापत्य-कला अर्धवर्तुल द्वार के निर्माण मे विरोधी ईंटो का करती है।

जीवन का सत्य अनेकात है।

और, जीवन की धारा सदा विरोधी ध्रुवो को तट मान कर बहती है।

रजनीश के प्रणाम

२२-१२-१९७०

[प्रति श्री रामकिशोर शर्मा, अध्यापक, डालमिया हा० से० स्कूल, चिड़ावा, राज०]

७० / बहुत देखे सपने—अब तो जाग

प्यारी राधा,

प्रेम । निकटता और दूरी सब स्वप्न है ।
सत्य तो है एकता ।
इसीलिए तो निकट से निकट होकर भी निकट कहाँ हो पाते है ?
और दूर से दूर होकर भी दूर कहाँ हो पाते है ?
स्वप्न मे सब होता है और फिर भी नही होता है, इसीलिए तो वह स्वप्न है ।
स्वप्न (Dreaming) को तोड अब ।
बहुत देखे है स्वप्न ।
जन्मो-जन्मो मे ।
अब जाग ।
सुख भी देखे—दुःख भी देखे ।
जन्म भी पाये—मृत्युएँ भी ।
लेकिन, अब **जीवन** मे जाग ।
अब **आनंद** मे प्रतिष्ठित हो ।
निकटता छोड—दूरी छोड ।
अब तो **एकता** (Unity) खोज ।

रजनीश के प्रणाम
२५-१२-१९७०

[प्रति : सुश्री राधा बहन, पोस्ट बॉक्स-२३२१, जकार्ता, इण्डोनेशिया]

७१ / स्वयं मे ठहरते ही विश्राम है, शांति है

प्रिय योगशांति,

प्रेम। यह जानकर आनंदित हूँ कि तू आनंदित है।

आनंद स्वभाव है।

इसलिए, उसकी अभीप्सा है।

दुःख विभाव है।

वह स्वय से विच्युति है।

इसलिए ही, उससे मुक्ति की चेष्टा है।

जो हम नही है, वह होने मे ही पीडा है।

जो हम हैं, वह न होने में ही तनाव है।

स्वय मे होते ही स्वास्थ्य है।

स्वय मे ठहरते ही विश्राम है।

स्वयं मे आते ही शाति है।

परिधि पर भटकाव है।

केंद्र पर ठहराव है।

उस ठहराव की ही पहली झलक तुझे मिली है।

केंद्र की ही पहली किरण तुझ पर उतरी है।

अब और गहरे मे उतरना है।

क्योंकि, जब स्व का केंद्र भी खो जाता है, तभी स्वय की पूर्ण गहराई उपलब्ध होती है।

रजनीश के प्रणाम

२६-१२-१९७०

[प्रति: मा योगशांति, विश्वनीड, आजोल, जि० महेसाणा, गुजरात]

७२ / धर्म और सम्प्रदाय के अन्तर्विरोध का रहस्य

प्रिय विमल,

प्रेम। जीने के लिए आज **काफी** है।

कल क्या होगा—यह चिन्ता सिर्फ आज को **नष्ट** करती है।

सम्प्रदाय बनेंगे, तो तोड़ने वाले भी पैदा होते रहेंगे।

क्या मेरे जैसे तोड़ने वालो को काम बिलकुल ही बद कर देना है!

बनाना भी पड़ता है और तोड़ना भी पड़ता है।

तोड़ना भी पड़ता है और बनाना भी पड़ता है।

और, जो दोनो को एक ही सिक्के के दो पहलू की भाँति देख पाते हैं, वे **दोनों से** ही मुक्त हो जाते हैं।

और, धर्म को, सत्य को, अस्तित्व को जानने के लिए समस्त द्वैतो का अतिक्रमण आवश्यक है।

रूढि—मृत सत्यों का नाम है।

लेकिन, जिसका जन्म है, उसकी मृत्यु भी है।

इस डर से कि कल कब्र बनानी होगी, जन्म देना तो बद नही किया जा सकता है?

और, न ही मृत शवो को जीवित ही माना जा सकता है, क्योकि वे कभी जीवित थे।

जन्म भी होगा और मृत्यु भी होगी।

धर्म जन्मता है और फिर मर कर संप्रदाय भी बनता है।

सम्प्रदायो को मरघट भी पहुँचाना होता है।

और, फिर धर्म जन्मता है और फिर सम्प्रदाय बनता है।

जो धर्म के लिए सम्प्रदायो से लडते है, वे ही अतत नये सम्प्रदायों के जनक हो जाते हैं।

और फिर, **जिन्हें धर्म की अवतारणा करनी है, उन्हें अतीत के स्वजातीय व्यक्तियो से ही लड़ने का नाटक करना होता है!**

उपनिषद् वेद से लड़ने का नाटक करते हैं।

इसीलिए, उनका नाम है: वेदान्त-अर्थात् वेद का अत करनेवाला!

कैसा मज़ा है!

वेद को ही वे पुनर्प्रतिष्ठित करते हैं और वेद से ही लड़ते हैं !
बुद्ध उपनिषदों से लड़ते हैं !
और, बुद्ध से बड़ा वेदान्ती नहीं हुआ है !
और, शंकर बुद्ध से लड़ते हैं; और शंकर से बड़ा बौद्ध कौन है ?

रजनीश के प्रणाम
२७-१२-१९७०

[प्रति सुश्री विमला मेहता, द्वारा श्री के० के० मेहता, (डी १९३), डिफेंस कालोनी, नयी दिल्ली -१]

७३ / प्रेम असुरक्षा में छलांग है

मेरे प्रिय,

प्रेम । प्रेम है, तो प्रश्न नही है ।

क्योंकि, प्रेम सदा ही सब कुछ खोने को तैयार होता है ।

लेकिन, यदि प्रेम नही है, तो फिर प्रश्न ही प्रश्न है ।

ऐसा हो तो ही सात्वनादि की आवश्यकता है ।

प्रेम तो है पागल ।

या कहे है अधा ।

लेकिन, प्रेमरिक्त समझदारी से प्रेम का पागलपन अनतगुना शुभ है।

और, प्रेमरिक्त आँखो से प्रेम का अधापन अनतगुना वरणीय है ।

लेकिन, **वह है, तो है और नहीं है, तो नहीं है ।**

उस सबध मे स्पष्ट समझ लेना चाहिए कि वैसा पागलपन—वैसा अधापन है या नही है ।

क्योकि, प्रेम न हो और सिर्फ पागलपन हो या प्रेम न हो और सिर्फ अधापन हो, तो समाज की बात ध्यानपूर्वक सुननी चाहिए, क्योकि फिर अन्तत समाज ही सही सिद्ध होता है ।

और, ध्यान रहे कि प्रेम इतने सोच-विचार मे नही पडता है ।

प्रेम है कुछ, तो जोखिम है ।

वह अज्ञात के हाथों में स्वयं को समर्पित करता है ।

प्रेम असुरक्षा (Insecurity) **मे छलाँग है ।**

समाज है सुरक्षा की व्यवस्था (Security System) ।

इसलिए, सघर्ष स्वाभाविक है ।

लेकिन, जैसा दिखाई पडता है, वैसा सघर्ष **स्वय और समाज के बीच** नही है ।

सघर्ष है : स्वयं की ही सुरक्षा-असुरक्षा के बीच ।

प्रेम है, तो समाज कहाँ है ?

प्रेम नही है, तो समाज के अतिरिक्त और क्या है ?

रजनीश के प्रणाम

२७-१२-१९७०

[प्रति श्री पी० गुप्ता, असिस्टेंट इजीनियर, १७४, वल्लभवाड़ी, कोटा, राज०]

७४ / प्रेम और ध्यान--एक ही सत्य के दो छोर

प्रिय कचु,

प्रेम। **ध्यान का जल सींचते रहो।**

संन्यास का फूल तो खिलेगा ही।

लेकिन सतत प्रयास चाहिए।

हृदय की धडकन-धडकन मे ध्यान का नाद भरना है।

संन्यास सरल है, लेकिन सस्ता नहीं है।

और सरल है, इसीलिए सस्ता नही है।

क्योकि, जीवन मे सरलतम को पाना ही कठिनतम है।

मीरा ने कहा है 'असुअन जल सीचि-सीचि प्रेम बेलि बोई।'

मीरा के लिए प्रेम ही ध्यान है।

तुम्हारे लिए ध्यान ही प्रेम होगा।

ऐसे दोनो ही, एक ही सत्य के दो छोर है।

रजनीश के प्रणाम

२७-१२-१९७०

[प्रति श्री बी० व्ही० तुरखिया, ३८१, रविवार पेठ, पूना, महाराष्ट्र]

७५ / सफलता और असफलता—एक ही सिक्के के दो पहलू

मेरे प्रिय,

प्रेम । असफलता के प्राण स्वय मे नही होते है ।

इसलिए, असफलता को मार-मार कर भी आदमी असफलता को नही मार पाता है।

न तुम ही मार पाओगे ।

ऐसी कहानियाँ तो जरूर पढी होगी न, जिसमे कोई राक्षस अपने प्राण किसी तोते मे या कही और रख देता है और फिर, तब तक नही मारा जा सकता है, जब तक कि उसके प्राण को सुरक्षित रखने वाला पशु या पक्षी नही मारा जाता है ।

असफलता भी ऐसे ही सुरक्षित है ।

उसके प्राण उसमे स्वय मे नही है ।

उसके प्राण है **सफलता की अभीप्सा में ।**

इसलिए, जो भी सफलता चाहता है, वह असफलताओ से मुक्त नही हो सकता है ।

क्योकि, असफलता मे तो केवल वे ही मुक्त होते है, **जो कि सफलता से ही मुक्त हो जाते हैं ।**

और, तुमने लिखा है कि असफलताओ के कारण हीन-भाव (Inferiority Complex) बढ रहा है ।

नही, बधु ! तुम्हारा विश्लेषण **बैलो को गाडी के पीछे** जोत रहा है ।

असफलताओ के कारण हीनता नही बढती है, विपरीत, **हीनता के कारण ही सफलता चाही जाती है और असफलता बनती है ।**

लेकिन, हीन क्यो अनुभव करते हो ?

प्रत्येक, प्रत्येक है ।

अद्वितीय, बेजोड, अतुलनीय (Incomparable) ।

तुलना ही असभव है ।

पर तुलना सिखायी जाती है ।

तुलना (Comparison) सस्कारित की जाती है ।

इस गलत, घातक और अज्ञानपूर्ण सस्कार (Conditioning) को समझो ।

क्योकि, गलत को गलत जान लेना ही उससे मुक्त हो जाना है ।

रजनीश के प्रणाम

२७-१२-१९७०

[प्रति श्रीयुत् आत्म विजय, २-४, नव अभियन्ता छात्रावास, पटना-५]

७६ / अनेकता में एकता

मेरे प्रिय,

प्रेम। सागर तो एक ही है।

और इसलिए, अनेक दिखाई पडने वाली लहरे भी अनेक नही हो सकती है।

प्रत्येक लहर में एक ही सागर है।

वही आता है, वही जाता है।

लहरों से तो बस उसके इस आने-जाने की पगध्वनि ही दिखाई पड़ती है।

लहरे नही ही हैं।

सागर ही है।

लेकिन, लहरे दिखाई पडती हैं और सागर अदृश्य हे।

शब्द दिखाई पडते हैं, सत्य अदृश्य है।

शरीर दिखाई पडते हैं, अस्तित्व अदृश्य है।

रजनीश के प्रणाम

२७-१२-१९७०

[प्रति . श्री लाल प्रताप, गॉव–भुडहा, पोस्ट–सागीपुर, जिला–प्रतापगढ़, अवध, उ० प्र०]

७७ / स्वयं को सम्हालने की पागल-चिंता

मेरे प्रिय,

प्रेम । सागर सम्हालता है लहरों को ।

और, लहरें सदा निश्चिन्त हैं ।

आकाश सम्हालता है तारों को ।

और, तारे सदा आनंदित हैं ।

लेकिन, मनुष्य चिंतित होता है ।

दुःख में डूबता है ।

संताप में घिरता है ।

क्योंकि, मनुष्य स्वयं को स्वयं ही सम्हालने के पागलपन में पड़ता है ।

रजनीश के प्रणाम

२७-१२-१९७०

[प्रति : श्री नारायण के० भट्ट, सेठ गो० ने० स्मा० महाशाला, कोठारा, कच्छ]

७८ / स्वयं को खो देना ही सब-कुछ पा लेना है

प्यारी रमा,

प्रेम। स्वय को खो देना ही सब-कुछ पा लेना है।

लेकिन, वह खोना होना चाहिए **समग्र** (Total)।

क्योंकि, स्व-अश भी बचा तो पूर्ण ही बच जाता है।

या तो वह होता है शून्य, या होता है पूर्ण।

बीच में कोई मार्ग नहीं है।

स्वय के लिए कोई मज्झिम निकाय (Middle Way) नहीं है।

रजनीश के प्रणाम

२७-१२-१९७०

[प्रति सुश्री रमा पटेल, ३, न्यू अमृत कुज फ्लैट्स, दूसरी मजिल, पचवटी, अहमदाबाद-६]

७९ / संसार को लीला मात्र जानना संन्यास है

प्यारी हसा,

प्रेम। **संसार आनंदपूर्ण अभिनय बन जाये, तो संन्यास फलित होता है।**

ससार को बोझ रूप ढोना गार्हस्थ्य है।

संसार को लीला मात्र जानना संन्यास है।

सन्यास ससार का विरोध नही है।

वरन्, ससार के प्रति दृष्टि का रूपान्तरण है।

और सब कुछ—सुख-दुख, राग-द्वेष, यश-अपयश—सभी कुछ दृष्टि के बदलते ही बदल जाते हैं।

दृष्टि—जीवन को देखने का ढग ही जीवन का आकार बन जाता है।

सन्यास विवाद भी नही है।

मेरे देखे तो **ससार को संन्यास की दृष्टि से न देखने से ही विवाद उत्पन्न होता है।**

सन्यास तो परम रस है—परम भोग है।

क्योकि, सन्यास परमात्मा का साझीदार होना है।

लेकिन, बहुत बार ककड-पत्थरो का मोह हीरों की खदान तक ही नही पहुँचने देता है।

पर, तुझे मैं छोड़ूँगा नही।

हीरो की खदान निकट है और तुझे वहाँ तक पहुँचना ही है।

रजनीश के प्रणाम

२७-१२-१९७०

[प्रति सुश्री हसा मणिकात खोना, २६२।२७०, नरसी मेहता रोड, बम्बई-९]

८० / शरीर में रस कहां—रस तो है आत्मा में

प्यारे मणिकाल,

प्रेम। रस का तुम्हे शायद पता ही नही है!

लेकिन, प्यास है तो भी पर्याप्त है।

शरीर मे रस कहाँ—सिर्फ रस का प्रतिफलन ही है।

रस तो है आत्मा मे।

या कि उचित होगा कि कहे कि **आत्मा ही रस है।**

उसके रस की अनुगूँज ही शरीर मे सुनाई पडती है।

अनुगूँज को पकडो और मूल स्रोत को खोजो।

अन्यथा, क्रमश शरीर शिथिल होता है और फिर वह अनुगूँज सुनाई नही पडती है।

शरीर का यही **दुःख** है।

भोग को यही तो **पीड़ा** है।

इंद्रियों का यही तो **संताप** है।

इसलिए, समय रहते—शक्ति रहते उसे खोज ही लेना चाहिए, जो कि वास्तविक रस है।

अन्यथा, पीछे पछतावे के अतिरिक्त और कुछ भी शेष नही रह जाता है।

और, "फिर पछताये होत का, जब चिडिया चुग गई खेत।"

रजनीश के प्रणाम

२७-१२-१९७०

[प्रति : श्री मणिकान्त खोना, २६२।२७०, नरसी मेहता स्ट्रीट, बम्बई-९]

८१ / जो समय पर हो, वही शुभ है

मेरे प्रिय,

प्रेम। देरी जरा भी नही है।

प्रभु के द्वार पर देरी कहाँ।

लेकिन, प्रतीक्षा आवश्यक है--**तुम्हारे ही हित मे प्रतीक्षा आवश्यक है।**

आनद भी अनायास झेला नही जा सकता है।

और, शक्ति का अनायास अवतरण भी सम्हाला नही जा सकता है।

इसलिए, समय चाहिए।

प्रत्येक घटना के लिए समय चाहिए।

बीज टूटने मे समय लगता है।

अकुर फूटने मे समय लगता है।

वृक्ष बनने मे समय लगता है।

और, फलो के आने मे समय लगता है।

फिर, फलो के पकने मे भी समय लगता है।

और, जो समय पर हो, वही शुभ है।

रजनीश के प्रणाम

२७-१२-१९७०

[प्रति श्री आर० एन० ऐरन, ६ गणेश सोसायटी, शाहपुर दरवाजा के बाहर, अहमदाबाद-१]

८२ / जियें –आज,और अभी, और यहीं

मेरे प्रिय,

प्रेम । जीवन को हम जानते ही नही है, इसीलिए ऊब जाते है ।

जीवन को बना लेते है एक यात्रिकता, इसीलिए ऊब जाते है ।

जीवन को जीते कहाँ है—बस, ढोते है, इसीलिए ऊब जाते है ।

ऊब (Boredom) जीवन मे नही, वरन् हमारे जीने के भय से आती है ।

हम मृत्यु मे ही नही डरते—जीवन से भी डरते है !

वस्तुत तो, मृत्यु से भी इसीलिए डरते है, क्योकि जीवन से डरते है ।

अन्यथा, मृत्यु जीवन का अत नही—जीवन की पूर्णता है ।

इसलिए, मै कहता हूँ जियें—निर्भय होकर जियें ।

अतीत को बिदा करें—भय के कारण ही मनुष्य उसे सम्हाले रहता है ।

और, भविष्य के सपनो को आमत्रित न करें, क्योकि आज जीने से बचना है, इसलिए मनुष्य भविष्य मे जीने की योजना करता है ।

जियें आज, और अभी, और यहीं ।

कल धोखा है ।

बीता हुआ भी और आने वाला भी ।

क्षण ही सत्य है ।

और, क्षण ही शाश्वत है ।

रजनीश के प्रणाम

२८-१२-१९७०

[प्रति श्री गिरधर आर० उकाजी, द्वारा—भारतीय औषध निर्माणशाला, भक्ति नगर, स्टेशन रोड, राजकोट–२, गुज०]

८३ / प्रभु के लिए पागल होना एक कला है

मेरे प्रिय,

प्रेम। प्रभु के लिए पागल होना एक कला है।

वह विधिपूर्वक पागलपन है।

इसलिए, पागल बनो जरूर—लेकिन विधि न भूलो।

उस विधि को ही मैं **ध्यान** कहता हूँ।

मीरा उसे **प्रेम** कहती है।

महावीर **तप** कहते हैं।

नाम दो कुछ भी—लेकिन, उसे भूलो भर मत।

क्योंकि, मन उसे भूलना चाहता है।

वह मन की मृत्यु जो है।

और, पता है कि मन की ध्यान को भूलने की सरलतम, लेकिन सबसे चालाक (Cunning) विधि क्या है ?

ध्यान के संबंध में सोचना (To think ABOUT meditation)।

इसलिए, ध्यान रखना कि ध्यान के संबंध में सोचना नहीं है, ध्यान करना है।

रजनीश के प्रणाम

२८-१२-१९७०

[प्रति श्री पी० ओ० इंगले, सिद्धार्थ विद्यालय, संगमनेर, अहमदनगर, महा०]

८४ / जीवन-रहस्य जीकर ही जाना जा सकता है

मेरे प्रिय,

प्रेम । जीवन है रहस्य (Mystery) ।

उसे जिया जा सकता है ।

और, **जीकर** जाना भी जा सकता है ।

लेकिन, गणित के सवालो की भाँति उसे हल नही किया जा सकता है ।

वह सवाल नही है—वह है एक **चुनौती** (Challenge) ।

वह प्रश्न नही है—वह है एक **अभियान** (Auventure) ।

इसलिए, जो जीवन के सबध मे मात्र प्रश्न ही पूछते रहते है, वे उत्तर से सदा के लिए अपने ही हाथो वचित रह जाते है ।

या कि ऐसे उत्तर पा लेते है, जो कि उत्तर नही है ।

शास्त्रों से ऐसे ही उत्तर मिल जाते है ।

असल मे दूसरे से मिला उत्तर, उत्तर नही हो सकता है ।

क्योकि, जीवन-सत्य **उधार** नही मिलता है ।

या फिर मात्र प्रश्न पूछने वाले अपने ही उत्तर गढ़ लेते है ।

ऐसे उन्हे **सांत्वना** (Consolation) तो मिल जाती है, लेकिन समाधानन हीं मिलता है ।

क्योकि, गढ़े हुए उत्तर उत्तर ही नही है ।

उत्तर तो केवल **जाने** हुए उत्तर ही हो सकते है ।

इसलिए कहता हूँ . पूछो नही—**जियो और जानो ।**

दर्शन (philosophy) और धर्म (Religion) का यही भेद है ।

दर्शन पूछना है और धर्म जीना है ।

और, मजा तो यह है कि दर्शन पूछता जरूर है, लेकिन उत्तर कभी नही पाता है और धर्म पूछता बिलकुल नही है और फिर भी उत्तर पा लेता है ।

रजनीश के प्रणाम

२८-१२-१९७०

[प्रति श्री हरीश के० राज, बी-३, मोहल्ला क्वाजियन, पुराना बाजार, लुधियाना, पजाब]

८५ / प्रभु-प्रेम की धुन हृदय-हृदय में गुँजा देनी है

प्यारी मीरा,

प्रेम। प्रभु-प्रेम की धुन हृदय-हृदय मे गुंजा देनी है।
मनुष्य का हृदय-मंदिर रिक्त और सूना होकर पडा है।
तर्क की राख के अतिरिक्त वहाँ और कुछ भी नही है।
और, हृदय कोई ऐश-ट्रे तो है नही कि इस राख से प्रफुल्लित हो उठे।
हृदय को चाहिए फूल—प्रेम के—प्रार्थना के—परमात्मा के।
हृदय को चाहिए संगीत—आत्मा का—अदृश्य का—अमृतत्व का।
हृदय को चाहिए सोम—आलोक का—आनद का—अनुग्रह का।
जा—प्यासो के पास।
गा—और उनके हृदयो पर प्रभु-प्रार्थना की वर्षा कर।
नाच—और उन्हे भी उस नृत्य मे निमंत्रित कर ले।
स्वय मे मीरा को पुनर्जन्म दे।
वही है तेरी नियति।
उसी के लिए तुझे मैंने पुकारा है।
डॉ० को प्रेम।

रजनीश के प्रणाम

२८-१२-१९७०

[प्रति मा योग मीरा (सुश्री जयवन्ती), द्वारा—डॉ० हेमन्त शुक्ल, जूनागढ़, गुजरात]

८६ / आता रहूँगा—तुम्हारी नींद जो तोड़नी है

मेरे प्रिय,

प्रेम । आऊँगा—नींद मे भी आऊँगा ।
क्योकि, तुम्हारी नींद जो तोडनी है ।
स्वप्न मे भी प्रवेश करूँगा, क्योकि तुम्हे स्वप्नो से मुक्त जो करना है ।
वैसे—जिसे तुम जागना कहते हो, क्या वह जागना है ?
या कि नींद का ही एक और रूप मात्र ?
आँखे खुली होने से ही तो जागना नहीं होता है ?
काश ! जागना इतनी सरल बात होती !
और, आँखे खुली होने से ही तो स्वप्न बंद नही होते है ?
साधारणतः तो हमारा जागना जागने का भ्रम मात्र ही है ।
और, हमारी तथाकथित विचारणा स्वप्नो का शब्दो मे अनुवाद है ।
लेकिन, नींद को पहचानो, तो नींद टूटनी शुरू हो जाती है ।
और, **स्वप्नो के प्रति सजग बनो, तो स्वप्न तिरोहित होने लगते है ।**
और, जहाँ स्वप्न नही है—जहाँ निद्रा न ही है, वही माया नही है ।
और, जहाँ माया नही है, वही वह है—जिसकी कि खोज है ।

रजनीश के प्रणाम

२८-१२-१९७०

[प्रति श्री सरदारीलाल सहगल, न्यू मिस्त्री बाजार, अमृतसर, पंजाब]

८७/ विचार नहीं—ध्यान है द्वार

मेरे प्रिय,

प्रेम। तत्त्व-चिंतन (Philosophy) मे समय न गँवाओ।

अस्तित्व की गहराइयो मे है समाधान।

और, विचार की तरगे सतह से गहरी नही जाती है।

हीरे है सागर की गहराइयों मे, और इसलिए, जो उन्हे लहरो के भाग मे खोजता है, वह व्यर्थ ही खोजता है।

दर्शन-शास्त्र विचार की लहरो पर उठे झाग से ज्यादा नही है।

मान कि कभी सूर्य की किरणो मे चमकता सफेद झाग भी बहुत सुन्दर मालूम होता है, लेकिन फिर भी वह झाग ही है और मुट्ठी मे लेते ही खो जाता है।

इसलिए कहता हूँ **विचार नहीं—ध्यान है द्वार।**

शब्द नही—शून्य है द्वार।

अस्तित्व क्यो है, यह मत पूछो।

अस्तित्व क्या है, यह खोजो।

रजनीश के प्रणाम

२८-१२-१९७०

[प्रति श्री दिनेश आर० शाह, जूना बाजार मिया गाँव, करजन, जि० बड़ौदा, गुजरात]

८८ / जन्मों-जन्मों की खोज

प्रिय भानु,

प्रेम । जन्मो-जन्मो की खोज के बाद प्रभु-मदिर का मार्ग मिलता है ।
लेकिन, अनेक बार मार्ग पाकर भी हम उसे खो देते हैं ।
आज तू उसी उसी मार्ग के द्वार पर आकर खडी हो गयी है ।
अब भटक मत जाना ।
सकल्प कर और आगे बढ ।
अनेक प्रलोभन रोकेंगे ।
अनेक सस्कार रोकेंगे ।
आलस्य रोकेगा ।
मन, और विकल्प सुझायेगा ।
इन सबसे सावधान रहना ।
क्योकि, **जिस द्वार को जन्मों में पाया, उसे क्षण में खोया जा सकता है ।**
अज्ञात का भय घेरेगा ।
अनजान मे उतरने असुरक्षा मालूम होगी ।
लेकिन, **साहस कर और अपरिचित को आलिंगन कर ।**
क्योंकि, यह अपरिचित ही--यह अज्ञात ही उसका द्वार है ।

रजनीश के प्रणाम
२८-१२-१९७०

[प्रति सुश्री भानुमति पी० कटारिया, ए ८।३११, नेहरू नगर, कुर्ला, (ईस्ट) बम्बई-७०]

८९ / प्रेम के अतिरिक्त और कोई धर्म नहीं है

प्रिय शिव,

प्रेम । प्रेम सदा ही अकारण है ।
और इसलिए, जिस प्रेम में कारण होता है, वह प्रेम नहीं रह जाता है ।
प्रेम सौदा नहीं है ।
वह लेन-देन के व्यवसाय-जगत् के बाहर है ।
और, यही उसका सौंदर्य है ।
इस पार्थिव पृथ्वी पर **प्रेम अपार्थिव की किरण है ।**
इसलिए प्रेम के सहारे प्रार्थना तक पहुँचा जा सकता है ।
और, प्रार्थना के सहारे प्रभु तक ।
इसीलिए, मैं कहता हूँ कि प्रेम के अतिरिक्त और कोई धर्म नहीं है ।

रजनीश के प्रणाम
२८-१२-१९७०

[प्रति श्री शिव (स्वामी अगेह भारती), जे-२१७/सी, अपर लाइन्स, जबलपुर, म० प्र०]

९० / चेतना चाहिए--खुली, उन्मुक्त, प्रतिपल नवीन

मेरे प्रिय,

प्रेम । सिद्धान्तों का अन्त मूल्य नहीं है ।

मूल्य है--अनुभूतियो का ।

और, अकसर ही सिद्धान्त अनुभूति-प्रवेश में बाधा बनजाते हैं ।

क्योंकि, सिद्धान्त मात्र चेतना को बंद करते हैं ।

और, चेतना चाहिए खुली--उन्मुक्त--नये के लिए उन्मुख ।

चेतना चाहिए अज्ञात का स्वागत करती--अनजान, अपरिचित सत्य के आलि-गन को तत्पर ।

और, यह जान कर आनंदित हूँ कि ऐसी चेतना आपके पास है ।

यह बडी संपदा है और सत्य के खोजी के लिए अनिवार्य पाथेय है ।

सत्य वाद में न है--न हो सकता है ।

सत्य और शास्त्र का कभी मिलन ही नहीं हो पाता है ।

वाद होते हैं--अति सकरे ।

शास्त्र होते हैं--अति सीमित ।

और, शब्दों में सत्य के लिए स्थान (Space) ही कहाँ है ?

रजनीश के प्रणाम

२९-१२-१९७०

[प्रति श्री एम० टी० शाह, ह्यूमैनिस्ट सेन्टर जेकोर बिल्डिंग, सेन्ट झेवियर कॉलेज के सामने, जीमखाना गेट, परेल, बम्बई-१२ डी० डी०]

९१ / फूटा बबूला (Bubble) अहंकार का

मेरे प्रिय,

प्रेम। न जन्म है, न मृत्यु है।

बस, जीवन है।

अनादि, अनत।

वह जन्म के पूर्व भी है।

अन्यथा, जन्मता कौन ?

वह मृत्यु के बाद भी है।

अन्यथा, मरता कौन ?

जन्म जीवन का आरंभ नहीं है।

मृत्यु जीवन का अंत नहीं है।

जन्म और मृत्यु **जीवन में** घटी घटनाएँ हैं।

जैसे, पानी का बबूला नदी मे बनता और मिटता है।

ऐसे ही, व्यक्ति का बबूला जीवन मे बनता और मिटता है।

इस बबूले का नाम ही अहंकार है।

निश्चय ही, इसका जन्म भी है और इसकी मृत्यु भी है।

जन्म और मृत्यु के बीच में जो घटता है, उसका ही नाम अहकार है।

इसलिए ही, जो अहकार (Ego) मे है, वह जीवन से अपरिचित ही रह जाता है।

जीवन को जानना है, तो अहकार से जागना होता है।

बबूला भूल ही जाता है कि वह नही है, बस सरिता ही है।

रजनीश के प्रणाम

२९-१२-१९७०

[प्रति श्री एन० सी० जैन, लेक्चरर, गव० सेकेण्डरी स्कूल, पृथ्वीपुर, टीकमगढ, म० प्र०]

९२ / पूर्ति—आत्मिक पुकार की

मेरे प्रिय,

प्रेम । जब भी जरूरत हो, मुझे पुकारना—मैं आ जाऊँगा ।

अब शरीर का ही संबंध नहीं—आत्मा का सीधा संबंध भी स्थापित हो गया है ।

प्रारंभ स्वप्न से होगा और फिर खुली आँखों और जागते हुए भी दिखाई पड़ने लगूँगा ।

लेकिन, **अकारण** मत पुकारना ।

न ही मात्र **कुतूहलवश** पुकारना ।

न ही **भौतिक कारणों** के लिए पुकारना ।

जहाँ सुई से काम हो सके, वहाँ तलवार नहीं उठानी चाहिए न ?

रजनीश के प्रणाम
२९-१२-१९७०

[प्रति : श्री दत्ताराम भाटिया, पार्टनर दत्ताराम रामलाल, ३६३, कन्था बाजार, बम्बई–९]

९३ / सत्य है—समझ के पार

प्रिय शिव,

प्रेम। जो समझ मे आ जाये, वह प्रेम नही है।

फिर, समझ सब-कुछ तो नही है!

समझ के बाहर भी बहुत-कुछ है।

और, जो समझ के बाहर है, वही गहरा भी है।

समझ है सतह।

समझ सदा ही ऊपर-ऊपर है।

और इसलिए, जो समझ पर ही रुक जाते है, उनसे ज्यादा नासमझ और कोई भी नही है।

लहरे समझी जा सकती है।

सागर अबूझ है।

इसलिए, समझो जरूर—लेकिन समझ को स्वयं की सीमा न समझो।

उसके पार भी झाँकते रहो।

उसका अतिक्रमण भी करते रहो।

समझ का उल्लघन ही अन्तत सत्य की समझ बनना है।

रजनीश के प्रणाम

२९-१२-१९७०

[प्रति: श्री शिव (स्वामी अगेह भारती), जबलपुर (म० प्र०)]

९४ / प्रभु-समर्पित कर्म अकर्म है

प्रिय योग सिद्धि,

प्रेम । एक बार स्वयं को परमात्मा के हाथ में छोड़ते ही कुछ भी करने को शेष नही रह जाता है ।

फिर तो, सब जैसे स्वय ही होने लगता है ।

आनन्दित हो कि तेरे जीवन मे अब उसी का प्रारम्भ है ।

तैरना छूटा और बहना शुरू हुआ है ।

मैं इसी भाव-दशा को सन्यास कहता हूँ ।

सरिता स्वयं ही सागर में लिये जाती है—फिर तैरना किसलिए ?

प्रयत्न किसलिए—प्रयास किसलिए ?

अप्रयास (Effortlessness) मे ही प्रसाद (Grace) है ।

लेकिन, इसका अर्थ निष्क्रियता नही है ।

बहना भी सक्रियता है ।

लेकिन, उसमे कर्ता की अनुपस्थिति है ।

कर्म है और कर्ता नही है, तो अकर्म है ।

और, कर्म नही है और कर्ता है, तो भी अकर्म नही है ।

प्रभु-समर्पित कर्म अकर्म है ।

रजनीश के प्रणाम

२९-१२-१९७०

प्रति : मा योग सिद्धि, ४६।८, म्युनिसिपल स्टाफ क्वार्टर्स, शाहपुर, अहमदाबाद, गुजरात]

९५/ अहंकार निर्बलता है, आत्मा बल है

मेरे प्रिय,

स्वय ही स्वयं का आत्मबल नही बढाया जा सकता है।

वह तो वैसे ही है, जैसे कि कोई अपने ही जूतो के फीतो को पकड़ कर स्वय को ऊपर उठना चाहे!

आत्म-बल बढ़ता है : प्रभु के प्रति समर्पण से।

समर्पण के अतिरिक्त शक्ति का और कोई द्वार नहीं है।

मिटने के अतिरिक्त पाने की और कोई विधि नही है।

बीज मिट कर वृक्ष होता है।

अह की मृत्यु से आत्मा प्रकटती है।

और, अहकार निर्बलता है, आत्मा बल है।

आत्म-बल शब्द ठीक नही है, क्योकि आत्मा ही बल है।

रजनीश के प्रणाम

३०-१२-१९७०

[प्रति श्री मागीलाल भटनागर, प्रधानाध्यापक, शास० उ० मा० विद्यालय, पो० पीपल्या, जि०—झालावाड रोड, राजस्थान]

९६. जीने के लिए आज पर्याप्त है

मेरे प्रिय,

प्रेम। उद्देश्य से जीने वाला सदा ही भटक जाता है।

और, उद्देश्य से जीने वाले का जीवन बोझ भी बन जाता है।

क्योंकि, **उद्देश्य है कल और जीना है आज।**

व्यर्थ के तनाव न पालो।

व्यर्थ के विवाद न सींचो।

भविष्य से वर्तमान न निकालो।

क्योंकि, वह संभव ही नहीं है।

वर्तमान से ही भविष्य को निकलने दो।

सहज ही वह चला आता है।

उसके लिए तुम्हें कुछ भी नहीं करना है।

तुम तो जियो—आज।

जीने के लिये **आज पर्याप्त है।**

न्यूमैन ने गाया है: I do not long for the distant scene One step is ENOUGH for me" (दूर के दृश्य की आकांक्षा नहीं मुझे, और बस एक ही कदम काफी है)।

हाँ—मरने के लिए जरूर आज पर्याप्त नहीं है!

मृत्यु के लिए कल जरूरी है!

इसलिए, जो कल ((Tomorrow) में जीते हैं, वे जीते नहीं, बस, मरते ही हैं।

जियो आज—अभी—पूर्णता से—समग्रता से।

कल स्वयं ही अपनी चिंता कर लेगा।

रजनीश के प्रणाम

३०-१२-१९७०

[प्रति श्री राजेन्द्र सिंह, एम० ए०, एल-एल० बी०, पो० झिरिया, तह० जि०—जबलपुर, म० प्र०]

९७ / तैयार होकर आ

प्यारी रोशन,

प्रेम। दिखाई पड़ने वाली आँखों के अलावा और भी आँखें है।

उन्ही में मैने तुम्हे देखा।

और, दिखाई पडने वाले कानो के अलावा और भी कान है, उन्ही से मैने तुझे सुना।

शरीर से नही, पर हृदय से तुझे स्पर्श किया है।

ध्यान मे उतरेगी, तो यह सब तेरी समझ मे भी आ सकेगा।

इन्द्रियो के पार भी अस्तित्व है—विराट्, अनादि और अनंत।

उस सब का ही इकट्ठा नाम परमात्मा है।

उस परमात्मा की यात्रा पर ही तुझे ले चलना है।

तैयार होकर आ।

क्योंकि, मेरे पास आने का और तो कोई भी अर्थ नही है न ?

रजनीश के प्रणाम

३०-१२-१९७०

[प्रति कुमारी रोशन जाल, फीरोजशाह एण्ड क०, पंचवटी के पास, उदयपुर, राज०]

९८ / मार्ग के पत्थरों को सीढ़ियाँ बना

प्यारी पुष्पा,

प्रेम। आगे बढ़ो—भय न करो!
मैं साथ हूँ।
परमात्मा साथ है।
फिर, निष्पाप तेरा चित्त है।
और, ध्यान-विस्फोट का क्षण भी निकट है।
भीतर जो कुछ भी हो रहा है—वह सब उसी क्षण की पूर्व तैयारी है।
बाधाएँ जो प्रतीत होती हैं, वे बाधाएं नहीं हैं।
वे परीक्षाएँ हैं।
मार्ग पर जो पत्थर मिलते हैं, वे शत्रु नहीं, मित्र हैं।
उन्हीं को सीढियाँ बनाना है।
वे **सीढ़ियाँ बनने के लिए ही, मार्ग पर हैं।**
फिर, जरूरत होगी तो मैं धक्का भी दूँगा!
लेकिन, वह तू मुझ पर छोड।
उसकी चिंता तुझे नहीं लेनी है।

रजनीश के प्रणाम
३०-१२-१९७०

[प्रति : सुश्री पुष्पा, मकान न० एन० के० १८१, चरणजीतपुर, जालधर शहर, पंजाब]

९९ / व्यक्ति-चित्त के आमूल रूपान्तरण से ही समाज में शांति

मेरे प्रिय,

प्रेम । समाज केवल जोड है ।

व्यक्तियो का ।

इसलिए, अंततः **और मूलतः वह व्यक्तियो के चित्तों का ही प्रतिफल है ।**

व्यक्ति-चित्त अशात है, तो समाज शात नही हो सकता है ।

व्यक्ति-चित्त (Individual-Mind) **का आमूल रूपान्तरण** (Mutation) **ही समाज की शांति बन सकती है ।**

और कोई विकल्प नही है ।

और, न ही कोई शार्टकट (निकट का रास्ता) ही है ।

व्यक्ति-रूपान्तरण की विधि ध्यान है ।

अधिक-से-अधिक व्यक्ति ध्यान मे उतरे, तो ही कुछ हो सकता है ।

क्योकि, अधिक-से-अधिक व्यक्ति आनद मे प्रवेश करे, तो ही कुछ हो सकता है ।

प्रभु-शरण ही उपाय है ।

रजनीश के प्रणाम

३०-१२-१९७०

[प्रति श्री एल० एच० वैद्य, एम० बी० बी० एस०, द्वारा—श्री आर० जे० वाला, बी० ई० सघाडिया बाजार, मोची गली, जूनागढ, गुजरात]

१०० / एक मात्र उत्तर—हँसना और चुप रह जाना

मेरे प्रिय,

प्रेम। मुझे सबकी **याद रहती है—आती नहीं।**
न रहे, तब ही याद को आना पडता है।
आने मे पीडा है।
क्योकि, आने मे जाना भी छिपा है।
रहने में आनंद है।
क्योंकि, फिर न आना है, न जाना है।
शायद, यह बात समझ मे भी न आये।
मुझे भी कोई समझाता तो समझ मे न आती।
बहुत कुछ है, जो कि समझने से समझ में आता ही नहीं है।
उल्टे और भी उलझ जाता है।
लेकिन, जैसा है, वैसा मै कह रहा हूँ।
किसी को भी कभी याद नहीं करता हूँ; फिर भी याद बनी रहती है।
हृदय की धडकनो की भाँति।
जानूँ या न जानूँ, हृदय तो धडकता ही रहता है।
या श्वासो की भाँति।
लूँ या न लूँ, श्वासे तो चलती ही रहती है।
बस, ऐसी ही मेरी याद है।
इसलिए जब कोई पूछता है 'कभी मुझे याद करते है या नही ?'
तब मैं मुश्किल मे पड़ जाता हूँ।
सोचता हूँ कि क्या कहूँ ?
हाँ भी ठीक नहीं है।
ना भी ठीक नहीं है।
इसलिए हँसता हूँ और चुप रह जाता हूँ।
लेकिन, तुमने तो लिख कर पूछा है।
इसलिए, हँसने और चुप रह जाने का भी उपाय नही छोड़ा है।

रजनीश के प्रणाम
३०-१२-१९७०

[प्रति : श्री शिव (स्वामी अगेह भारती), जबलपुर, म० प्र०]

१०१ / उठो अब--और चलो

मेरे प्रिय,

प्रेम। वर्ष बीत गया, तब कही तुम पत्र लिखने का साहस जुटा पाये हो ?
स्वप्नो मे तुम्हे पुकारा था।
सुना तो तुमने, लेकिन अब तक समझ नही पाये क्या ?
जागने के लिए ही तो पुकारा है।
नीद तोडने के लिए ही तो आवाज दी है।
उठो अब और चलो।
न चलो, तो मंजिल बहुत दूर है--चलो, तो बहुत निकट।
निकट भी नही--क्योकि, निकटता भी तो दूरी (Distance) है।
वस्तुत तो, **तुम ही मंजिल हो।**
चलो और स्वयं को पा लो।

रजनीश के प्रणाम
१-१-१९७१

[प्रति, श्रीयुत् पृथ्वीराज जाडेजा, टागर मा योग समाधि, ४४ पकज प्रह्लाद प्लॉट, राजकोट, सौराष्ट्र]

१०२ | समय चूका कि सब चूका

मेरे प्रिय,

प्रेम । बगदाद का एक नाई बडी मुश्किल मे पडा था ।

जो भी व्यक्ति उसके नाई-बाडे मे आता, वही उस सुंदर राजकुमारी की चर्चा करता, जो कि किसी जादूगर ने किसी दुर्ग मे बद कर रखी थी ।

वह यह भी सुनता कि जो भी व्यक्ति उसे छुडाने मे सफल होगा, वह सु दरी तो उसे मिलेगी ही, साथ ही उसका पूरा राज्य भी उसे मिलेगा ।

लेकिन, उस सु दरी को कैद से छुडाना अति दुरूह था ।

दुर्ग एक घने जगल मे था और जगल के खतरनाक जानवर सौ मे से निन्यानवे मुक्तिदाताओ का भोजन कर लेते थे ।

फिर, दुर्ग एक पर्वत पर था और जो व्यक्ति जानवरो से बच जाते, उनमे सा मे से निन्यानबे राक्षसो द्वारा सरकाई गयी चट्टानो मे दब कर मर जाते थे ।

फिर, जो व्यक्ति इन राक्षसो से भी बच जाते, वे जब दुर्ग-द्वार मे प्रवेश करते, तो अचानक आग भडक उठती और उसमे जल कर राख हो जाते थे ।

कुछ भाग्यशालियो ने जगल पार किया था ।

उनमे से कुछ ने राक्षसो को भी पार किया था ।

लेकिन, अब तक कोई द्वार के भीतर प्रवेश नही कर पाया था ।

आखिर, नाई को और सहना कठिन हो गया ।

मनुष्य के धैर्य की भी तो सीमा है न ?

उसने अपना सब-कुछ बेच दिया और सु दरी की खोज मे निकल पडा ।

लेकिन, आश्चर्य कि जगल के जानवर उसे न मिले !

उसने **भगवान् को धन्यवाद** दिया और आगे बढा ।

लेकिन, आश्चर्य कि चट्टानो को गिराने वाले राक्षस कही भी न थे !

आशा और अभीप्सा से वह तेजी से द्वार की ओर दौड़ने लगा !

और, फिर वह द्वार भी पार कर गया !

लेकिन, आश्चर्य कि द्वार की आग भी न भडकी !

वह प्रभु के अनुग्रह के प्रति झुक-झुककर आभार प्रकट करने लगा ।

उसके सामने ही वह सिंहासन था—सिंहासन पर वह राजकुमारी थी, जिसकी कि उसने बचपन से कहानियाँ सुनी थी ।

वह डरता हुआ आगे बढ़ा—लेकिन दुर्ग किसी की हँसी से गूँजने लगा और आवाज आयी कि अब डरो मत—क्योंकि, अब पाने को ही क्या है?

वह सिंहासन के सामने पहुँच गया—लेकिन वहाँ कोई सुंदरी युवती नहीं थी।

सिंहासन पर एक बूढ़ी औरत थी और वह भी मृत।

असल मे वह यह भूल गया था कि कम-से-कम साठ वर्षों से तो वह स्वय ही इस कहानी को सुन रहा था।

रजनीश के प्रणाम

२-१-१९७१

[प्रति स्वामी कृष्ण चैतन्य, सस्कारतीर्थ, आजोल]

१०३ / होश (Awareness) ही ध्यान है

मेरे प्रिय,

प्रेम। आत्मा या परमात्मा या अनात्मा—जैन, हिन्दू या बौद्ध—सभी शब्द अंश-सत्य को प्रकट करते है।

और, पूर्ण सत्य अभिव्यक्त नही होता है।

क्योकि, शब्द उसके लिए अति छोटे और सकरे है।

इसलिए, **शब्दों में न उलझें** और जो भी शब्द ठीक लगे—रुचि-अनुकूल हो, उसे चुन ले।

और, कोई भी शब्द न चुने, तब भी साधना मे कोई बाधा नही पडती है।

वस्तुत तो, **बाधा शब्दो के आग्रह से ही पड़ती है।**

यहूदियो का जो परमात्मा के लिए शब्द है, वह है याहवेह (yahweh) या यहोबा (yahoba) और उसका अर्थ होता है अनाम (No name or Nameless)।

सिद्धान्तो, शास्त्रो और वादो से सत्य की खोज का दूर का भी सबध नही है।

इसलिए, शास्त्रों से बचे तो अच्छा है।

अन्यथा, साधना से बच जायेगे।

साधना करे—साक्षी-भाव की।

विचार हो या भाव, क्रियाएँ हो या प्रतिक्रियाएँ—सबके प्रति साक्षी (Witness) हो।

जीवन-धारा बेहोश (Unconscious) न रहे।

होश (Awareness) का ही ध्यान करे।

होश ही ध्यान है।

और, शेष प्रभु पर छोड दे या याहवेह पर—जिसका कि कोई भी नाम नही है।

शेष एक प्रश्न का उत्तर नही दूँगा—क्योकि वह साधना के लिए व्यर्थ है। यह नही कि वह प्रश्न ठीक नही है—न ही यह कि उसका उत्तर नही है। वरन् इसीलिए कि वह सत्य के साधक के लिए असगत (Irrelevant) है।

रजनीश के प्रणाम

२-१-१९७१

[प्रति श्री शशिवदन बी० देलीवाला, डॉ एम० जी० घोलकिया की बिल्डिग, ६-जगन्नाथ प्लॉट, राजकोट]

१०४ / स्वय में खाली जगह बनाओ

मेरे प्रिय,

प्रेम। सत्य को जरूर खोजो।

लेकिन, **सत्य को खोज वही पाता है, जो खोजते-खोजते स्वयं खो जाता है।**

'स्व' का पूर्णतया खो जाना ही सत्य का पूर्णतया आ जाना है।

सत्य के आगमन के लिए आतरिक अवकाश (Inner Space) चाहिए न?

स्वय मे जगह बनाओ

स्वय को स्वय से भरा रखा, तो सत्य आयेगा कहाँ?

रिक्त बनो।

शून्य बनो।

और फिर, **सत्य का सागर उस शून्य को सहज ही भर देता है।**

कबीर ने गाया है 'हेरत हेरत हे सखी, रह्या कबीर हेराइ।'

इसलिए, मै कहता हूँ **'जिन्होने स्वयं को खोया, उन्होंने ही सत्य को पाया।'**

रजनीश के प्रणाम

२-१-१९७१

[प्रति श्री जनकराय शकरलाल व्यास, सरकारी अध्यापन मदिर, ध्रोल, जि० जाम-नगर, गुजरात]

१०५ | पुरानों को दफनाओ और नयों को जन्माते रहो

मेरे प्रिय,

प्रेम । **जीवन है अतर्क्य ।**

इसलिए, तर्क की पकड मे मरे हुए के अतिरिक्त और कुछ भी नही आता है ।

जीवन हे रहस्य ।

इसलिए, विचार की सब सीमाओ का उल्लघन करके ही वह रहता है ।

फिर, जीवन ध्रुवीय (polar) भी है ।

जो भी जन्मता है, वह मरता भी है ।

और इसीलिए, जिसे मरने से बचना है, उसे जन्मना ही असंभव है ।

धर्म पैदा होते है और मरते भी है ।

सस्थाएँ जन्मती है और सडती भी है ।

लेकिन, यही है नियति—समय और क्षेत्र मे प्रत्येक वस्तु की यही नियति है ।

इसलिए, पुरानो को दफनाओ और नयो को जन्माते रहो ।

इसके अतिरिक्त और कोई उपाय ही नही है ।

निश्चय ही जो आज नया है, वही कल पुराना हो जायेगा ।

तब उसे भी दफना देना है ।

बच्चे बूढे हो जाते है, इसलिए तो उन्हे पैदा होने से रोकना उचित नही है ।

और, न ही बूढो को दफनाये जाने से बचाना ही उचित है, क्योंकि वे कभी बच्चे थे ।

रजनीश के प्रणाम

२-१-१९७१

[प्रति . श्री लहर सिह भाटी, भारत वस्तु भडार, दालुमोदी बाजार, रतलाम, म० प्र०]

१०६ / प्यास को जगा

प्यारी कमल,

प्रेम। जिसकी खोज है, वह जरूर ही मिलता है।

सरिता सागर को खोज लेती है।

प्यास सरोवर को खोज लेती है।

प्रार्थना प्रभु को खोज लेती है।

प्रभु तो निकट ही है, बस, हम ही प्यासे नहीं हैं।

प्यास को जगा।

बस, प्यास हो जा।

और फिर, उसके मिलने मे क्षण भर की भी देर नही होती है।

रजनीश के प्रणाम

२-१-१९७१

[प्रति श्रीमती कमला लखमीचद, ७५ सरपेन्टाइन रोड, फ्लैट न० १, के० पी० वेस्ट, बगलोर-२०]

१०७ / प्रश्न अधकार का नहीं—स्वयं के सोये होने का है

मेरे प्रिय,

प्रेम । अधकार दिखता है न ।
उसे ही उसकी समग्रता मे देखो ।
उससे भागना मत नही ।
उसमे ही जियो और उसमे ही जागो ।
भागे कि थके ।
अधकार से पलायन—आलोक मे नही, बस, और गहन अधकार मे ही ले जाता है ।
क्योकि, प्रश्न अधकार का हे ही नही ।
प्रश्न है—स्वयं के सोये होने का ।
इसलिए, जागे कि अधकार मिटा ।
जागना ही आलोक है ।
जागो—अधकार को ही विषय (Object) बना लो—और जागो ।
अधकार पर ही ध्यान (Meditation) करो—और जागो ।

रजनीश के प्रणाम
२-१-१९७१

[प्रति : स्वामी चैतन्य भारती, कमरा न० ९, INSDOC, दिल्ली-१२]

१०८/ विस्मरण का विष

प्रिय सावित्री,

प्रेम। साहस न किया तो **वापस** आना ही पड़ेगा।
उसमें **किंचित्** भी संदेह नहीं है।
आह! पूर्व में भी तो ऐसा ही हुआ है।
लेकिन, **तू** भुलाये बैठी है।
विस्मरण कैसा सुखद विष है!

रजनीश के प्रणाम

२-१-१९७१

[प्रति डॉ० सावित्री सी० पटेल, पोस्ट—किल्ला पारडी, जिला-बलसाड, गुजरात]

१०९ / स्वयं का रूपान्तरण—समाज को बदलने का एक मात्र उपाय

मेरे प्रिय,

प्रेम। समाज सीधा नही बदला जा सकता है।

क्योकि, समाज तो निष्प्राण ढाँचा है।

या, व्यक्तियो के अन्तर्संबधो का आककीय (Statistical) जोड़ है।

बदले तो व्यक्ति (Individual) ही जा सकते हैं।

क्योकि, व्यक्तियो के पास ही वह चेतना (Consciousness) है, जो कि स्वय का रूपातरण कर सकती है।

और, जो रूपातरण स्वय से नही है, वह रूपातरण ही नही है।

ऊपर से थोपे गये रूपांतरण न टिकते हैं, न टिक ही सकते हैं।

उस तरह की अवैज्ञानिक चेष्टा मनुष्य बहुत कर चुका है और परिणाम मे सदा ही विफलता मिली है।

व्यक्ति है मौलिक इकाई।

समस्त श्रम उस पर ही केंद्रित करना है।

और, इसमे एक सुविधा है कि **प्रत्येक स्वयं से** ही प्रारभ कर सकता है।

जहाँ भी **दूसरे से** प्रारभ है, वही हिंसा है।

फिर, वह प्रारभ चाहे कितना ही अहिंसक क्यो न दिखाई पडता हो।

इसलिए, मै सदा कहता हूँ **समाज को छोड़ो और स्वयं को पकड़ो।**

क्योकि, समाज को बदलने का इसके अतिरिक्त और कोई उपाय नही है।

रजनीश के प्रणाम

२-१-१९७१

[प्रति श्रीयुत् ओ० पी० बिल्ला, द्वारा : श्री गुरुदास राम जी, लाहोरी गेट, कपूरथला, पजाब]

११४ / धर्म तो प्रयोग है, अनुभव है— आस्था नहीं, विश्वास नहीं

मेरे प्रिय,

प्रेम। अनुभव गहरायेंगे।
बस, श्रम करें।
लगन पूर्वक।
संकल्प पूर्वक।
प्रभु की ओर उठाया गया गलत कदम भी व्यर्थ नहीं जाता है!
इसलिए, सही कदम का तो प्रश्न ही नहीं है।
चलें और देखें।
धर्म तो प्रयोग है।
मात्र आस्था नहीं।
धर्म तो अनुभव है।
मात्र विश्वास नहीं।

रजनीश के प्रणाम
२-१-१९७१

[प्रति श्री शोरीलाल भजाना, ११, डॉक्टर चाल, जोशी बाग, कल्याण, जि० थाना]

१११ / ध्यान में मिलन—मुझसे, सबसे, स्वयं से

मेरे प्रिय,

प्रेम। सागर जैसे सरिता को बुलाता है—ऐसे ही मैंने तुम्हे भी पुकारा है।
यही पुकार तुम्हारे प्राणो मे गूँजी है।
और, गूँज सकी, क्योकि वहाँ सदा-सदा से उसकी ही प्रतीक्षा थी—प्यास थी।
अब देर न करो।
ऐसे भी तो बहुत देर हो चुकी है!
ध्यान मे उतरो।
क्योकि, वही और केवल वही मुझसे मिलन हो सकता है।
और, मुझसे ही नही—सबसे भी।
और, सबसे ही नही—स्वय से भी।

रजनीश के प्रणाम
२-१-१९७१

[प्रति वीनस स्टुडियो, डलहौजी]

११२/प्रेम में, प्रार्थना में, प्रभु में डूबना ही मुक्ति है

प्यारी मानु,

प्रेम। प्रेम मे डूबना ही पडता है।
क्योकि, **जो डूबते हैं वहाँ, वे ही उबरते हैं।**
प्रेम मे, प्रार्थना मे, प्रभु मे डूबना ही किनारा है।
ऐसा समझ कि **बचे कि डूबे और डूबे कि बचे।**
वैसे तब तक समझ मे भी कैसे आयेगा, जब तक कि डूबेगी ही नही!

रजनीश के प्रणाम
२-१-१९७१

[प्रति सुश्री मानुमति पी० कटारिया, बम्बई]

११३ / प्राणों का पंछी—अज्ञात की यात्रा पर

प्यारी रमा,

प्रेम। तेरा दूसरा पत्र।
प्रेम मे—**प्रार्थना में** पगली ऐसा ही होता है।
प्राणो का पक्षी अज्ञात की यात्रा पर निकल जाता है।
और, वही यात्रा तो करने योग्य है।
शेष सब भटकाव है।
लेकिन, भटकाव मे सुरक्षा (Security) है।
क्योकि, वह जाने-माने रास्तो पर जो है।
अज्ञात मे है जोखिम।
अज्ञात मे है असुरक्षा।
आह! लेकिन **अज्ञात (Unknown) मे ही है जीवन।**
कब्र तो सदा ही खतरो के बाहर है!
इसीलिए तो, हम सब जीने के पहले ही मर जाते है।

रजनीश के प्रणाम
२-१-१९७१

[प्रति . सुश्री रमा पटेल, अहमदाबाद-६]

११४/क्षण में ही जियें

मेरे प्रिय,

प्रेम। कल की न सोचे।

भविष्य को ही फिक्र करने दे, भविष्य की।

ध्यानी के लिए तो आज काफी है—अभी (Now) ही बहुत है।

क्षण मे ही जिये।

क्षण के पार सिर्फ पागलपन है।

क्योकि, वस्तुत क्षण (Moment) ही अनतता (Eternity) है।

और एक-दूसरे को प्रेम दे।

मित्रता दे।

जीवन का प्रसाद दे।

पति-पत्नि का यही अर्थ है।

प्रेम बढे, तो काम अपने से ही तिरोहित होता है।

एक-दूसरे मे प्रभु को देखे, तो फिर शरीर दिखाई नही पडते है।

एक-दूसरे मे गहरा देखे, तो फिर मर्त्य नही दिखाई पडता है।

समोग के साथी यदि समाधि के साथी न बन पाये, तो जाने कि अवसर व्यर्थ ही गया है।

रजनीश के प्रणाम

३-१-१९७१

[प्रति डॉ० एम० बी० शाह, द्वारा रगबी होटल, माथेरान, महाराष्ट्र]

११५ / मृत्यु का ज्ञान ही अमृत का द्वारा है

प्रिय सावित्री,

प्रेम । मृत्यु का ध्यान कर।

मृत्यु पर ध्यान कर।

मृत्यु मे बचने मे भय है।

मृत्यु से पलायन मे भय है।

मृत्यु के साक्षात्कार में अभय है।

और, ध्यान मे ही मृत्यु का साक्षात्कार हो सकता है।

और, जो मृत्यु को जान लेता है, उसके लिए **अमृत** के द्वार खुल जाते हैं।

रजनीश के प्रणाम

३-१-१९७१

[प्रति : डॉ॰ सावित्री पटेल, पो॰ किल्ला पारडी, जि॰ बलसाड, गुजरात]

११६ / भय को पकड़ कर मत रख

प्रिय सावित्री,

प्रेम । भय थोडे ही तुझे पकडे है ।
तूने ही भय को पकडा हुआ है ।
इसलिए, **छोड़ेगी,** तो ही छूटेगा ।
और, तू असभव चाहती है तू चाहती है कि छोड़े बिना भय छूट जाये !
यह न कभी हुआ—न कभी हो सकता है ।
छोड और देख ।
और तू फिर हँसेगी ।

रजनीश के प्रणाम
४-१-१९७१

[प्रति डॉ० सावित्री पटेल, पो० किल्ला पारडी, जि० बलसाड, गुजरात]

११७/ साधना-संयोग अति दुर्लभ घटना है—चूकना मत

प्रिय सावित्री,

प्रेम। साधना-सयोग अति दुर्लभ घटना है।

कभी यात्री होता है, तो नाव नही होती।

कभी नाव और यात्री भी होता है, तो नदी नही होती।

कभी यात्री, नाव, नदी—सभी होते हैं, पर माझी नही होता।

और, कभी यात्री, नाव, नदी और माझी भी होता है और फिर भी यात्रा नही होती।

तू आखिरी स्थिति में ही है।

और देर न कर, क्योंकि संयोग के बिखर जाने मे देर नही लगती है।

रजनीश के प्रणाम

४-१-१९७१

[प्रति सुश्री सावित्री पटेल, पो० किल्ला पारडी, जि० बलसाड, गुजरात]

११८ / अनुभव के फूलों से ज्ञान का इत्र निचोड़

प्यारी प्रेम,

प्रेम। सीख—हर अनुभव से कुछ सीख।

कड़वे-मीठे—सभी अनुभव जीवन को समृद्ध करते हैं।

और अतत, अनुभव नही बचते, बस, ज्ञान ही बचता है।

इसलिए, जो अतत बचेगा हाथ मे, **उसी पर** ध्यान रख।

अनुभव के फूल तो खो जाते हैं, इसलिए जो उनसे समय रहते ज्ञान का इत्र नहीं निचोड लेता है, वह खाली हाथ ही रह जाता है।

रजनीश के प्रणाम

४-१-१९७१

[प्रति मा योग प्रेम, विश्वनीड, आजोल, जिला-महेसाणा गुज०]

११९ / स्वयं की फिक्र

मेरे प्रिय,

प्रेम। ससार की चिन्ता न करो।

क्योकि, **स्वयं** की चिन्ताएँ ही क्या कम है ?

और, दूसरो के सबध मे मत सोचो।

क्योंकि, अभी **स्वयं** के सबध मे ही सोचना कहाँ पूरा हुआ है ?

धर्म का क्या होगा—यह सवाल असली नहीं है।

स्वयं का क्या हो रहा है, यही सवाल असली है।

और, ऐसी बाते मत पूछो, जिनसे तुम्हारी साधना का सीधा सबध नही है।

क्योकि, ऐसी बातों का कोई अत ही नही है, जब कि **तुम्हारा** अत है।

और, इसके पूर्व कि **तुम्हारा** अत हो, उसे जान लेना जरूरी है, **जिसका कि कोई अंत नहीं है।**

रजनीश के प्रणाम

४-१-१९७१

[प्रति श्री स्वतन्त्र कुमार, कमरा न० १८६; मेहरचद होस्टल, डी० ए० वी० कॉलेज, जालन्धर शहर, पजाब]

१२० / परमात्मा की आग में जल जाना ही निर्वाण है

मेरे प्रिय,

प्रेम। निश्चय ही सब तैयार था।
बस, चिनगारी की जरूरत थी।
और, अब आग पकड़ गयी है।
वह आग अब बुझेगी नहीं।
यह बुझने वाली आग नहीं है।
क्योंकि, यह पदार्थ की नहीं, परमात्मा की आग है।
जलो ऐसे कि फिर कुछ भी न बचे।
राख भी खोजे से न मिले।
क्योंकि, ऐसे जल जाना ही निर्वाण है।

रजनीश के प्रणाम
४-१-१९७१

[प्रति श्री बलवंत राय बी० भट्ट, ब्रामीन सोसायटी, सुरेन्द्रनगर, गुजरात]

१२१ / बुद्धि का भिक्षा-पात्र—और जीवन का सागर

मेरे प्रिय,

प्रेम। जीवन मे सब-कुछ समझ मे नही आता है।

क्योकि, समझ बहुत छोटी और जीवन विराट् है।

और, यदि बुद्धि के भिक्षा-पात्र में सागर न समाये, तो कुसूर सागर का तो नहीं है न ?

समझ पर मत रुकना।

समझ आवश्यक है, पर पर्याप्त नही है।

बुद्धि के पास जरूर एक छोटा-सा द्वीप है प्रकाशित, लेकिन वह भी अर्ध-प्रकाशित सागर मे है, और वह सागर पूर्ण-अप्रकाशित महासागर मे है।

ज्ञात अज्ञात के समक्ष कुछ भी नही है।

और, **अज्ञात** (Unknown) भी **अज्ञेय** (Unknowable) के समक्ष कुछ भी नही है।

इस सबके जोड़ को ही मै परमात्मा कहता हूँ।

रजनीश के प्रणाम

४-१-१९७१

[प्रति : श्री मणिकान्त व्ही० कोठारी, वाडवा चोक, के० के० स्ट्रीट, भावनगर, गुजरात]

मेरे प्रिय,

प्रेम। विवाद बुद्धि मे है।

बुद्धि की सीमा मे विवाद का अंत नही है।

जहां तक विचार है, वहाँ तक विवाद है।

क्योंकि, विचार द्वैत है।

इसलिए, न वेद से विवाद का अत होगा, न बाइबिल से, न कुरान से।

शब्द से, शास्त्र से, सिद्धान्त से—किसी से भी विवाद का अत नही है।

विचारातीत ध्यान मे ही अद्वैत का साक्षात्कार होता है।

और, वही **संवाद** है।

उसके पूर्व नही।

इसलिए, ध्यान खोजे।

मौन खोजे।

समाधि खोजे।

रजनीश के प्रणाम

४-१-१९७१

[प्रति : श्री अर्जुनलाल तरेला, १४१७, नया बाजार, नीमच कैंट, म० प्र०]

१२३ / जहाँ प्यास है, वहाँ मार्ग है

मेरे प्रिय,

प्रेम। जहाँ प्यास है, वहाँ मार्ग है।

संकल्प से तो स्वप्न भी सत्य हो जाते हैं न ?

स्वप्न में और सत्य में संकल्प के अतिरिक्त और कोई दूरी कहाँ है ?

रजनीश के प्रणाम

४-१-१९७१

[प्रति श्री रमेश सोलकी, सोलकी ब्रदर्स, लक्ष्मण-मंदिर के सामने, भरतपुर, राज०]

१२४ / व्यक्ति धार्मिक होते हैं, ग्रंथ नहीं

प्रिय विमल,

प्रेम। धर्म निश्चय ही सनातन है—अनादि-अनत है।

लेकिन, धर्म-ग्रथ नही।

धर्म-ग्रथ सदा ही समय (Time) मे है।

अर्थात्, सामयिक है।

सत्य समयातीत है—शब्द नही।

और इसीलिए, धर्म को कहा जाता है, फिर भी कहा नही जा पाता है।

विट्गेंस्टीन ने सवाद के दो प्रकार कहे है 'कहना' (Saying) और 'बताना' (Showing)।

धर्म-सवाद दूसरे ही प्रकार का है।

धर्म को कहा नही जा सकता है, सिर्फ इशारा ही किया जा सकता है। (It can not be said, but only showed.)

और, बेचारे ग्रथ तो सिर्फ कह ही सकते हैं।

बताना शब्द की सामर्थ्य मे नही है।

हाँ—**व्यक्ति** बता सकते हैं।

इसलिए वस्तुत, **धार्मिक व्यक्ति तो होते हैं, धर्म-ग्रंथ नहीं।**

क्योंकि, **व्यक्ति समय में और समय के बाहर—दोनों एक ही साथ हो सकता है।**

लेकिन, शब्द की या शास्त्र की वह सामर्थ्य नही है।

पर, शब्द या शास्त्र व्यर्थ नही हैं।

उनसे ही शब्द की व्यर्थता का बोध होता है—इसलिए!

उनसे ही मुक्त होकर नि:शब्द की यात्रा शुरू होती है—इसलिए।

रजनीश के प्रणाम

७-१-१९७१

[प्रति सुश्री विमल मेहता, द्वारा—श्री के० के० मेहता, डी-१९३, डिफेंस कालोनी, नई दिल्ली-१]

१२५ / परम असहायावस्था (Helplessness) का स्वीकार

मेरे प्रिय,

प्रेम। स्वयं को प्रभु के हाथों मे छोड़े बिना और कोई उपाय नही है।
जीवन की चरम-समस्याओ के प्रति मनुष्य असहाय (Helpless) है।
इस असहायावस्था (Helplessness) को ठीक से समझे।
और, स्वीकारे।
यही समर्पण है।
और, समर्पण समाधान है।
जब तक लड़ेंगे, तब तक हारेंगे।
इसलिए हार जावें।
अपनी ओर से ही हार जावें।
मौत के द्वारा हराये जाने की प्रतीक्षा न करें।
स्वयं से ही हार जाना जीत का द्वार है।

रजनीश के प्रणाम

७-१-१९७१

[प्रति श्री लालचद जी० के०, द्वारा—मेसर्स श्याम सुन्दर मेटल इडस्ट्रीज, ५/२ फान-
मवाडी, थानावाला बिल्डिंग, फर्स्ट फ्लोर, बम्बई-२]

१२६ / गहरी नीद के लिए चोट भी गहरी चाहिए

प्यारी सुशीला,

प्रेम। चोट करनी ही हो तो गहरी ही करनी चाहिए न ?
छोटी-मोटी चोटो से तो नही चल सकता है।
आदमी की नींद गहरी है।
शायद, नीद कम है और **बेहोशी** ही ज्यादा है।
और फिर, वह **चोटों के भी** अन्यथा अर्थ निकालने मे भी कुशल है !
ऐसे अर्थ जो कि नीद को तोडते नही, वरन् और गहरा जाते है !
विष को औषधि की भाँति उपयोग किया जा सकता है।
तो औषधि को भी विष की भाँति उपयोग किया जा सकता है न ?

रजनीश के प्रणाम
७-१-१९७१

[प्रति श्रीमती सुशीला सिन्हा, पटना-१]

१२७ / सब मार्ग ध्यान के ही विविध रूप हैं

मेरे प्रिय,

प्रेम। ध्यान के अतिरिक्त और कोई मार्ग नहीं है।
या, **जो भी मार्ग हैं, वे सब ध्यान** (Meditation) **के ही रूप हैं।**
प्रार्थना भी ध्यान है।
पूजा भी।
उपासना भी।
योग भी ध्यान है।
सांख्य भी।
ज्ञान भी ध्यान है।
भक्ति भी।
कर्म भी ध्यान है।
संन्यास भी।
ध्यान का अर्थ है **चित्त की मौन, निर्विचार, शुद्धावस्था।**
कैसे पाते हो इस अवस्था को, यह महत्त्वपूर्ण नहीं है।
बस, पा लो, यही महत्त्वपूर्ण है।
किस चिकित्सा-पद्धति से स्वस्थ होते हो, यह गौण है।
बस, स्वस्थ हो जाओ, यही महत्त्वपूर्ण है।

रजनीश के प्रणाम
७-१-१९७१

[प्रति श्री राधाकान्त नागर, १७४०, रामगली, सब्जी मंडी, मोहन गंज, दिल्ली-७]

१२८ / परमात्मा निकटतम है--इसलिए ही विस्मृत है

मेरे प्रिय,

प्रेम। यात्रा है लम्बी।

क्योंकि, मंजिल निकट है।

दूर जो है, वह दिखाई पड़ता है।

और, निकट जो है, वह आँख से ओझल हो जाता है।

दूर जो है, उसका आमत्रण भी मिलता है।

वह बुलाता हुआ मालूम पडता है।

और, वह **अहंकार के लिए चुनौती** भी बन जाता है।

और, **निकट जो है, वह, बस, भूल ही जाता है।**

ऐसे ही आत्मा विस्मृत है।

ऐसे ही परमात्मा भूला है।

इसलिए, जो निकटतम है, उसकी ही यात्रा दूरतम हो गयी है।

इसे समझो—और फिर चलना ही नही पडता है।

इसे पहचानो—और फिर पाओगे कि जहाँ खडे हो, वही तो मजिल है।

रजनीश के प्रणाम

७-१-१९७१

[प्रति · श्री सरदारीलाल सहगल, न्यू मिसरी बाजार, अमृतसर, पंजाब]

१२९/ मैं तो पुकारता ही रहूँगा—तेरी घाटियों में उतर कर

प्यारी गुणा,

प्रेम। हाँ! मैं जरूर ही वापस लौटा हूँ।
शिखर से तुम्हें पुकारा।
लेकिन, शायद मेरी आवाज तुम तक नही पहुँची।
या, पहुँची भी, तो तुम्हारी समझ मे नही आयी।
फिर तो एक रास्ता था कि मैं **तुम्हारी घाटियों में वापस जाऊँ।**
और, **तुम्हारी ही भाषा** बोलूँ।
लेकिन, क्या तुम इसे भी न समझ पाओगी ?
या कि समझोगी भी तो गलत समझोगी ?
कृष्ण के साथ भी तुमने यही किया।
बुद्ध के साथ भी यही किया।
और, मैं जानता हूँ कि मेरे साथ भी अन्यथा नही होगा ?
लेकिन, जब तुम नही थकती हो, तो हम भी क्यो थके ?
हम भी, पुकारते ही रहेंगे।
और, मेरे शिखर पर तुम न आओ तो न आओ।
लेकिन, मैं तो तुम्हारी घाटियो मे आ ही सकता हूँ।
इसी आशा मे कि प्रकाशोज्ज्वल शिखरो की तुम्हे खबर दूँ।
और, घाटियो के अंधेरेपन से पैदा हुआ तुम्हारा अवाप्त तोडूँ।
और, मैं यह भी भली-भाँति जानता हूँ कि तुम मुझसे **लड़ोगी।**
क्योंकि, बीमारियाँ भी बहुत दिन साथ रहे, तो प्रीतिकर हो जाती है।
और फिर, जो प्रकाश तुम्हारा परिचित नही है, तुम उस पर भरोसा भी कैसे करो ?
और, मैं भी तो अपरिचित हूँ, मेरा भी भरोसा तुम्हे क्यो कर हो ?

रजनीश के प्रणाम

७-१-१९७१

[प्रति श्रीमती गुणा शाह, बम्बई]

१३० / बस बहें—आनंद से, शांति से, विश्राम से

मेरे प्रिय,

प्रेम। मैं आपकी गति से अत्यन्त प्रसन्न हूँ।

काम-ऊर्जा (Sex-Energy) ऊर्ध्वगामी होने के लिए मुक्त हो गयी है।

वही समस्या थी और उसका समाधान हो गया है।

अब ध्यान का आयाम (Dimension) ही और हो जायेगा।

अभी तक ध्यान भी एक संघर्ष था।

लेकिन, अब ध्यान **समर्पण** (Surrender) बनेगा।

अब तैरना नही है।

अब बहना है।

बहे—आनद से, शाति से, विश्राम से।

कही पहुँचना नही है जैसे—वरन्, जैसे जहाँ भी पहुँचें, **वहीं और वही मंजिल है।**

अब डूबें भी, तो वही किनारा है।

रजनीश के प्रणाम

७-१-१९७१

[प्रति लाला सुन्दरलाल जैन, मेसर्स मोतीलाल बनारसीदास, बंगलो रोड, जवाहरनगर, दिल्ली-७]

१३१ / ना-समझ बन कर भी देख लो

प्रिय अरुण,

प्रेम । प्रभु पर छोड़ा है, तो पूरा ही छोड़ दो ।

सुख-दुःख सभी उसे दे दो ।

और निर्भार हो जाओ ।

और, **समझ** को भी अपने पास मत बचाओ ।

उसे भी उसी के चरणों मे चढा दो ।

और, **ना-समझ** हो जाओ !

क्योंकि, अंतत समझ ही सबसे बडा भार है !

और अंततः, समझ ही समझ के आने में सबसे बड़ा अवरोध भी है ।

समझदार होकर बहुत देखा !

बहुत जन्मो देखा ।

और पाया क्या ?

अब ना-समझ होकर भी देखो ।

समझ के लिए जीवन-रहस्य के जो द्वार बद हैं, वे ही द्वार ना-समझ के लिए सदा-सदैव खुले है ।

नर्क के लिए जहाँ दीवार है,

प्रेम के लिए वहीं द्वार है ।

बुद्धि के लिए जहाँ पराजय है,

हृदय के लिए वहीं विजय है ।

रजनीश के प्रणाम

७-१-१९७१

[प्रति · श्री अरुण जे० पटेल, प्रागजी वृन्दावन बिल्डिंग, जामली गली, बोरीवली, बबई-९२]

१३२ / स्वयं में खोदो—निकट है स्रोत उसका

मेरे प्रिय,

प्रेम। धर्म (Religion) की जरूरत है, धर्मों (Religions) की नही। क्योकि, धर्म तो धार्मिक है; लेकिन धर्मों की सत्ता राजनैतिक हो जाती है।

धर्म है, प्रेम की भाँति।

वैयक्तिक।

निजी।

सगठन नही, साधना।

उसे पाना है, तो स्वय मे साधो।

और, खोना है, तो दूसरो पर ध्यान दो।

उसे पाना है, तो स्वयं मे खोदो।

ध्यान से।

प्रार्थना मे।

उपासना से।

निकट है स्रोत उसका।

अति-निकट।

लेकिन, जिनका चित्त ही स्वय के निकट नही आता है, वे उसके निकट कैसे आ सकते है?

रजनीश के प्रणाम

७-१-१९७१

[प्रति जसवन राय, द्वारा—श्री तुलसीरामजी ड्राइवर, रामनगर, मकबूल रोड' अमृतसर, पजाब]

१३३ / सम्बन्ध है—जन्मों-जन्मो का

मेरे प्रिय,

प्रेम । **संबंध तो है ही ।**
आज का नही ।
बहुत पुराना ।
जन्मों-जन्मों का ।
इसीलिए तो, पुकार तुम सुन सके ।
इसीलिए तो, भाषा तुम समझ सके ।
इसीलिए तो, **भरोसा** तुम कर सके ।
और, सब धीरे-धीरे याद भी आ जायेगा ।
आना शुरू भी हो गया है ।
स्मृति मरती नही, बस, विस्मृत ही होती है ।
जन्म-जन्म की स्मृति-परते अचेतन मे विश्राम करती हैं ।
वे उठेंगी और तुम्हे घेरेंगी ।
उनमे घबडाना नही ।
उनसे चिंतित न होना ।
उनका पुनर्जागरण हितकर है, मगलदायी है ।

रजनीश के प्रणाम
७-१-१९७१

[प्रति श्री ऐरन (स्वामी चैतन्य बोधिमत्व), ६, गणेश सोसायटी, शाहपुर दरवाजा बाहर, अहमदाबाद-१]

१३५/पागल सरिता का सागर से मिलन

प्रिय धर्मकीर्ति,

प्रेम। पागल हुए बिना प्रभु-मिलन कहाँ ?

पागल होना ही उसे पाने की शर्त है।

और, स्वयं को धन्यभागी समझ कि उसने तुझे पुकारा है।

वह पागल करेगा—वह मिटा ही डालेगा।

सरिता को जैसे सागर बुलाता है।

ऐसा ही उसका भी बुलावा है।

सरिता जैसी नाचती-गाती चलती है—अपने प्रिय-मिलन को, ऐसे ही चलना है तुझे भी।

सरिता जैसी अभय हो दौडती है—अज्ञात-अपरिचित मे ; ऐसे ही दौडना है तुझे भी।

और अंतत, सरिता जैसे तटो का मोह छोड खो जाती है सागर मे ; ऐसे ही लीन हो जाना है तुझे भी।

रजनीश के प्रणाम

७-१-१९७१

[प्रति मा धर्मकीर्ति, आजोल]

१३५ / वेदनाओं को बह कर पिघलने दे—झर-झर आँसुओं में

प्रिय योग शांति,

प्रेम। तेरे हृदय मे दबायी हुई वेदना है।

दबाये हुए आँसू है।

ध्यान मे वेदना फूटेगी—आँसू बहेंगे।

और, ऐसे ही, उस भार से मुक्ति होगी, जो कि तेरे प्राणो पर पत्थर जैसा जम गया है।

इसलिए, रोने मे कजूसी मत करना।

सकोच मत करना।

सोच-विचार मत करना।

रो—हृदय भर कर रो।

समग्र अस्तित्व से रो।

वेदना को पिघलने दे और बहने दे।

आँसुओं मे स्नान करके तो तू स्वस्थ होगी।

क्योंकि, उन्हे रोक कर ही तू अस्वस्थ है।

रजनीश के प्रणाम

७-१-१९७१

[प्रति मा योग शांति, आजोल (गुजरात)]

१३६/दुर्लभ पंछी उस—पार (Beyond) का

प्यारी गुणा,

प्रेम। गगा पास हो तो गगा नही रह जाती है।
दूरी दृष्टि देती है।
और, निकट के प्रति आँखे बद हो जाती है।
इसीलिए तो, परमात्मा दिखाई नही पडता है।
इसलिए नही, कि वह दूर है।
इसलिए भी नही, कि वह अदृश्य है।
वरन् इसलिए ही, क्योंकि वह **निकटतम से भी निकटतम है।**
और, मनुष्य अपने अधेपन को उसका अदृश्य होना मान कर सतुष्ट रहता है!
जल्दी ही मैं भी दूर जाऊँगा। जाना ही पडेगा।
क्योकि, **मेरा भी माँगा हुआ समय है।**
और, तब तू मुझे ठीक से देख पायेगी।
क्योकि, दूरी परिप्रेक्ष्य (Perspective) देती है।
जल्दी ही मुझे **उस पार** ले जाने वाली नौका तट मे आ लगेगी।
और, **जिसने** मुझे भेजा है, उसका बुलावा आ पहुँचेगा।
तब तू मुझे ठीक से पहचान पायेगी।
और, विदा के क्षणो मे फिर शकाएं भी मन को नही घेरती है।
और, जो अदृश्य मे खो जाता है, उसके प्रति श्रद्धा आ जाती है।
शंकाएँ मन के बचाव है।
अश्रद्धाएँ सुरक्षाएँ है।
शायद, जो तू मुझमे निकट होकर नही ले पायेगी, वह दूर होकर ले सकेगी।
लेकिन, मै चाहता हूँ कि निकट हूँ—तभी ले ले।
अन्यथा, तेरे मन को बहुत पछतावे होगे और बहुत आँसुओ मे व्यर्थ ही तुझे डूबना होगा।

रजनीश के प्रणाम
८-१-१९७१

[प्रति श्रीमती गुणा शाह, बम्बई]

१३७ / कुछ करो, कुछ चलो—स्वयं की खोज में

प्रिय मधुरी बहन,

प्रेम। नही—मै जल्दी नही जाऊँगा।

जिस काम से आया हूँ अर्थात् भेजा गया हूँ, उसे तो पूरा करके ही जाऊँगा।

लेकिन, मै जल्दी नही जाऊँगा, इसका **यह अर्थ नहीं है कि तुम्हे जल्दी करने की कोई जरूरत नहीं है।**

तुमने देरी की तो मेरी देरी-से-देरी भी जल्दी ही सिद्ध होगी।

और, तुमने जल्दी की तो मेरी जल्दी भी देरी ही है।

सोचो !

नही, सोचने से क्या होगा ?

कुछ करो—स्वय की खोज मे।

कुछ चलो—स्वय की दिशा मे।

रजनीश के प्रणाम

८-१-१९७१

[प्रति . सुश्री मधुरी बहन, द्वारा—श्री पुष्कर गोकाणी, एम० एस०, मेसर्स हरीदास कम्पनी, द्वारका, गुजरात]

१३८ / सत्योपलब्धि के मार्ग अनन्त हैं

मेरे प्रिय,

प्रेम । सत्योपलब्धि के मार्ग अनन्त है ।

और, व्यक्ति व्यक्ति पर निर्भर करता है कि उसके लिए क्या उपयुक्त है ।

और, इसलिए, जो एक के लिए सही है, वही दूसरे के लिए बिलकुल ही गलत हो सकता है ।

इसीलिए, **दूसरे के साथ** धैर्य की आवश्यकता है ।

और, स्वय को सबके लिए मापदंड मानना खतरनाक है ।

मैं अनेकात या स्याद्वाद मे इसी सत्य की अभिव्यक्ति देखता हूँ ।

विचार-प्रधान व्यक्ति के लिए जो मार्ग है, वह भाव-प्रधान व्यक्ति के लिए नही है ।

और बहिर्मुखी (Extrovert) के लिए जो द्वार है, वह अतर्मुखी ((Introvert)) के *लिए दीवार है ।*

ज्ञान का यात्री अंततः ध्यान को नाव बनाता है ।

प्रेम का यात्री प्रार्थना को ।

ध्यान और प्रार्थना पहुँचते है एक ही मजिल पर ।

लेकिन, उनके यात्रा-पथ **नितांत भिन्न** हैं ।

और, उचित यही है कि अपना यात्रा-पथ चुने और दूसरे की चिन्ता न करे ।

क्योकि, स्वय को ही समझना जब इतना कठिन है, तो दूसरे को समझना तो करीब-करीब असभव ही है ।

रजनीश के प्रणाम

८-१-१९७१

[प्रति डॉ० श्री वी० जी० शाह, हीराबाग धर्मशाला, बम्बई–४]

१३९/ अकेलेपन को जी, आलिंगन कर

प्रिय योग शांति,

प्रेम। अकेलापन जीवन का तथ्य है।

उससे जागा जा सकता है, **लेकिन बचा नहीं।**

वह छाया की भाँति सदा ही साथ है।

और, छाया तो कम-से-कम अँधेरे मे साथ छोड़ देती है, वह तो अँधेरे मे और भी प्रगाढ होकर प्रकट होता है।

शायद, अँधेरे मे आदमी अँधेरे मे कम और अपने अकेलेपन से ही ज्यादा डरता है।

इसलिए, तू अकेलेपन से न भाग, न बच।

वरन् **उसे जी।**

वह है। उसे आलिगन कर।

जो है, उसे इनकार करने मे सिवाय दुख के और कुछ भी हाथ नही लगता है।

और, जो है, उसकी स्वीकृति ही आनंद है।

और, वही आस्तिकता भी है।

रजनीश के प्रणाम

८-१-१९७१

[प्रति . मा योग शांति, आजोल (गुजरात)]

१४०/ ध्यान के प्रकाश में वासना का सर्प पाया ही नहीं जाता

प्यारी योग प्रिया,

प्रेम। साँझ घिरी। सूर्य डूबा। गुरु ने शिष्य से कहा, "शास्त्र को अंदर जाकर आले में रख आओ।"

शिष्य गया भी।

पर, तत्काल ही भयभीत वापस लौटा और बोला "गुरुदेव! आले में सर्प बैठा है!"

गुरु ने कहा "यह रहा सर्प भगाने का मंत्र—जा और पढ, सर्प चला जायेगा।"

शिष्य गया।

उसने मंत्र भी पढा।

पर और भी भयभीत वापस लौटा और बोला "गुरुदेव! सर्प मंत्र से शक्तिशाली है। मंत्र पढा, लेकिन वह अपनी जगह ही बैठा है?"

गुरु ने कहा "तूने श्रद्धा से नहीं पढा होगा?"

शिष्य फिर गया।

फिर उसने मंत्र पढा।

लेकिन, और भी भयभीत भागा हुआ वापस लौटा और बोला "गुरुदेव! श्रद्धा से भी मंत्र पढा, लेकिन सर्प टस-से-मस नहीं हो रहा है!"

गुरु ने कहा "फिर मंत्र को छोड और दिया ले जा।"

शिष्य हँसता हुआ वापस लौटा—उसके हाथ में एक रस्सी थी।

काम-वासना से लडना नहीं।

किसी भी वासना से मत लडना।

लड़ने का मंत्र काम नहीं आयेगा।

दिया—ध्यान का दिया ही भीतर ले जाना—उसके अतिरिक्त और कुछ भी काम नहीं पडता है।

वासना अर्थात् अँधेरे में देखी गयी जीवन-ऊर्जा।

वासना अर्थात् अँधेरे में, अज्ञान में देखी गयी आत्मा।

ध्यान के प्रकाश में वासना का सर्प पाया ही नहीं जाता है।

ध्यान के प्रकाश मे वही मिलता है, **जो है।**

और, अज्ञान के अधकार मे—या ध्यानाभाव के अंधेपन में वह दिखाई पड़ता है, जो कि वस्तुत. नही है।

ध्यान का दिया जला और भीतर जा।

और, मैं प्रतीक्षा करूँगा, उस क्षण की. जब तू हँसती हुई बाहर आयेगी और कहेगी : "सर्प तो है ही नही।"

रजनीश के प्रणाम

९-१-१९७१

[प्रति मा योग प्रिया, आजोल (गुजरात)]

प्रिय योग प्रेम,

प्रेम। नासमझी से वरदान भी अभिशाप हो जाते हैं।

और, समझ से—अभिशाप भी वरदान।

इसलिए, असली सवाल अभिशाप या वरदान का नही है, असली सवाल है उस कीमिया (Alchemy) को जानने का, जो कि काँटो को फूल मे रूपान्तरित कर देती है।

कोयला ही रासायनिक प्रक्रिया से गुजर कर हीरा हो जाता है।

संन्यास कोयले जैसी चेतना को, हीरे जैसी बनाने की ही प्रक्रिया है।

सन्यास के रसायन-शास्त्र का मूल-सूत्र तुझे कहता हूँ।

सीधा नही कहूंगा।

कहूँगा जरूर—लेकिन फिर भी तुझे उसे खोजना भी होगा।

क्योकि, परोक्ष-इशारा भी उस सूत्र की अभिव्यक्ति का अनिवार्य अग है।

कुछ महामंत्र हैं, जो कि सीधे कहे ही नही जा सकते हैं।

या कहे जावे, तो समझे नहीं जा सकते हैं।

या समझे भी जावे, तो उनमे निहित काव्य खो जाता है।

और, वह काव्य ही उनकी आत्मा है।

●

एकनाथ रोज भोर मे गोदावरी मे स्नान करने जाते थे।

वे स्नान करके लौटते, तो एक व्यक्ति उन पर थूक देता। वे हँसते और पुनः स्नान कर आते।

धर्म के ठेकेदारो ने उस व्यक्ति को किराये पर रखा था।

लेकिन, एक शर्त थी कि एकनाथ क्रोधित हों, तो ही उसे पुरस्कार मिल सकता था।

एक दिन—दो दिन—सप्ताह—दो सप्ताह—और उस व्यक्ति की मेहनत व्यर्थ ही जा रही थी।

अततः, उसने आखिरी कोशिश की।

और, एक दिन एकनाथ पर १०७ बार थूका।

एकनाथ बार-बार हँसते और पुन: स्नान कर आते।

फिर, उसने १०८वी बार भी थूका।

एकनाथ हँसे और पुन: स्नान कर आये।

और फिर, उसके पास आकर खडे हो गये—इस आशा और प्रतीक्षा मे कि शायद वह और भी थूके।

लेकिन, वह गरीब बुरी तरह थक गया था।

थूकते-थूकते उसका मुँह भी सूख गया था।

एकनाथ ने थोडी देर प्रार्थनापूर्ण मन से प्रतीक्षा की और फिर बोले "किन शब्दो मे तुम्हारा धन्यवाद करूँ ? मै पहले गोदावरी की गोद का आनद एक ही बार लेता था, फिर तुम्हारी सत्प्रेरणा से दो बार लेने लगा। और, आज का तो कहना ही क्या है—१०८ बार गोदावरी-स्नान का पुण्य मिला है ! श्रम तुम्हारा है, और फल मै ले रहा हूँ !"

रजनीश के प्रणाम

९-१-१९७१

[प्रति मा योग प्रेम, आजोल (गुजरात)]

१४२ / आत्म-श्रद्धा युक्त शक्ति से ही सृजन संभव

प्रिय कृष्ण चैतन्य,

प्रेम। शक्ति मे श्रद्धा—स्वय शक्ति से भी ज्यादा शक्तिशाली है।

शक्ति अकेली निष्प्राण है।

उसमें प्राण तो पड़ते हैं—स्वयं मे श्रद्धा से।

शक्ति मात्र देह है—उसमें आत्मा तो आती है—आत्मश्रद्धा से।

और, इतना ही नही कि श्रद्धाहीन शक्ति निर्जीव है, वरन् यह भी कि **श्रद्धा-विहीन शक्ति आत्मघाती** (Suicidal) **भी है।**

क्योकि, जो शक्ति सृजनात्मक (Creative) नही है, वह ध्वस मे लग जाती है।

और, सबसे पहले आत्म-ध्वंस मे।

क्योकि, अनुपयोगी शक्ति स्वय मे ही बदला लेती है।

और, **आत्म-अश्रद्धा शक्ति को उपयोग की सृजन-दिशाओ मे प्रवाहित नहीं होने देती।**

तुम्हें देखता हूँ, तो महाभारत की एक घटना सदा ही याद आती है।

कर्ण और अर्जुन की लडाई बडी बेमेल थी।

क्योकि, यह सूर्य और इन्द्र की लडाई थी।

कहाँ सूर्य और कहाँ बेचारा इन्द्र!

पर जो होना था, वह नही हुआ और जो नही होने जैसा लगता था, वह हुआ!

कर्ण को मुँह की खानी पडी! और ऐसा हुआ शल्य का सारथी बना कर!

शल्य का अर्थ है शका, शल्य का अर्थ है सशय।

और, कर्ण का अर्थ है, कान।

सारे शक कान के द्वारा ही तो अदर पहुँचते है, वही तो द्वार है शकाओ का!

शल्य बार-बार कर्ण से यही कहता रहा 'अरे! **तू अर्जुन को क्या जीतेगा!'**

और, कर्ण हारा, क्योकि शल्य जीता। **शल्य से बचना।**

उसे सारथी बनाने की कोई भी तो जरूरत नही है!

रजनीश के प्रणाम

९-१-१९७१

[प्रति स्वामी कृष्ण चैतन्य, मस्कारतीर्थ, आजोल (गुजरात)]

१४३. सदा ही एक बार और प्रयास करो

प्रिय कृष्ण चैतन्य,

प्रेम ! बहुत समय पूर्व अरब मे एक अद्‌भुत व्यापारी था।

वह असफलता से अपरिचित था।

वह जो भी छूता वही स्वर्ण हो जाता था।

लोग उसे किसी-न-किसी प्रकार का जादूगर ही समझते थे।

और, वह था भी।

क्योंकि, जब भी वह थोडे दिनो के लिए अपने विलास-भवन को छोड कर कही यात्रा पर जाता, तभी उसके ऊँटो को नये खजानो के बोझ मे दबना पडता।

कभी वे हीरे-मोतियो के भार से दबे लोटते।

कभी स्वर्ण-अशर्फियो से।

और, कभी सुन्दरतम युवतियो से।

और, फिर एक दिन अफवाह उडी कि उस अद्‌भुत व्यापारी ने अपनी सफलता का रहस्य एक किताब मे प्रकट कर दिया है।

स्वभावत, उसके द्वार पर हजारो व्यक्तियो की भीड इकट्ठी हो गयी।

उस व्यापारी ने न केवल यही स्वीकार किया कि उसने अपनी सफलता का राज एक किताब मे लिख दिया है, वरन् यह भी कहा कि उस जादुई-पुस्तक को उसने स्वय विगत पचास वर्षो से नियमित पढा भी है।

और, अत मे उसने यह भी कहा कि यदि तुम मेरी सलाह मानोगे, तो तुम्हारा जीवन भी उतना ही चमत्कारपूर्ण हो जायेगा, जैसा कि मेरा है।

लेकिन, उसने जब उत्सुकता से पागल भीड को दिखाने के लिए पुस्तक खोली तो उस बडी पुस्तक मे केवल **सात शब्द ही पुनः-पुनः** लिखे हुए थे।

वे सात शब्द मैं तुमसे भी कहना चाहता हूँ।

वे सात शब्द है "Whatever happens, always act just once more—कुछ भी घटित हो, सदा ही एक बार और प्रयास करो।"

रजनीश के प्रणाम

९-१-१९७१

[प्रति स्वामी कृष्ण चैतन्य, आजोल]

१४४ / समय और दूरी के पार—आयाम-शून्य-आयाम में प्रवेश

प्यारी मधु,

प्रेम। अब तू हो कही भी—होगी तो यही।
स्थान अब भेद न करेगा।
समय अब दीवार न बनेगा।
शरीर की दूरी अब न दूरी होगी—न शरीर की निकटता निकटता।
एक और ही आयाम मे—आयाम-शून्य आयाम (Dimensionless Dimension) मे अब तेरा प्रवेश हो रहा है।
वहाँ अनेकता नही है।
वहाँ द्वैत नही है।
और, वहाँ ही मै है।
वह नही, जो 'मै' बाहर मे दिखाई पड़ता है।
वह भी नही, जो कि 'तू' की सीमा-रेखा है।
वरन् वह, जो कि तू भी है।
'तत्त्वमसि श्वेतकेतु।'

रजनीश के प्रणाम
९-१-१९७१

[प्रति मा आनद मधु, विश्वनीड, आजोल]

१४५ / भय के कुहासों मे साहस का सूर्योदय

प्यारी गुणा,

प्रेम । साहस कर ।

और, **साहस पहले से नहीं होता है ।**

वरन्, **करने से ही** पैदा होता है ।

और, **भय भी पहले से ही** नही है ।

वह साहस न करने से पैदा हुई ग्रथि है ।

साहस न करके तो तूने देख ही लिया है—प्राणो पर कुहासे की भाँति छाया हुआ भय उसका **पर्याप्त** प्रमाण है ।

अब साहस करके भी देख ।

इधर साहस का सूर्य निकला कि उधर भय का कुहासा हटा ।

और, ध्यान रख कि **अभय ही आत्मा है ।**

रजनीश के प्रणाम

९-१-१९७१

[प्रति : सुश्री गुणा शाह, बम्बई]

१४६ / अदृश्य के दृश्य और ज्ञात के अज्ञात होने का उपाय—ध्यान

मेरे प्रिय,

प्रेम। अदृश्य को दृश्य करने का उपाय पूछते हैं ?

दृश्य पर ध्यान दें।

मात्र देखें नहीं, ध्यान दें।

अर्थात्, जब फूल को देखें, तो स्वयं का सारा अस्तित्व आँख बन जाये।

पक्षियों को सुनें, तो सारा तन-प्राण कान बन जाये।

फूल देखें, तो सोचें नहीं।

पक्षियों को सुनें, तो विचारें नहीं।

समग्र चेतना (Total Consciousness) देखे या सुने या सूँघे या स्वाद ले या स्पर्श करे।

क्योंकि, संवेदनशीलता (Sensitivity) के उथलेपन के कारण ही अदृश्य दृश्य नहीं हो पाता है, और अज्ञात अज्ञात ही रह जाता है।

संवेदना को गहरायें।

संवेदना में तैरें नहीं, डूबें।

इसे ही मैं ध्यान (Meditation) कहता हूँ।

और, ध्यान में दृश्य भी खो जाता है और अन्ततः द्रष्टा भी।

बचता है—केवल दर्शन।

उस दर्शन में ही अदृश्य दृश्य होता है और अज्ञात ज्ञात होता है।

यही नहीं—अज्ञेय (Unknowable) भी ज्ञेय हो जाता है।

और, ध्यान रखें कि जो भी मैं लिख रहा हूँ—उसे भी सोचें न, वरन् करें।

'**कागज लेखी**' से न कभी कुछ हुआ है, न हो ही सकता है।

'आँखन देखी' के अतिरिक्त और कोई द्वार नहीं है।

रजनीश के प्रणाम

१२-१-१९७१

[प्रति श्री लाल प्रताप, गाँव—मुड़ाह, पो० मगीपुर, जिला—प्रतापगढ़, अवध]

१४७ / आत्मज्ञान के दिये, समाधि के फूल—मौन में, शून्य में

प्रिय योग प्रेम,

प्रेम। एक अद्‌भुत गुरु था—सोईची (Shoichi)। उसने जिस दिन से तोफुकु (Tofuku) मंदिर मे शिक्षण देना शुरू किया, उसी दिन से मंदिर का रूपांतरण हो गया।

दिन आता—दिन जाता। रात आती—रात जाती।

लेकिन, तोफुकु मंदिर सदा मौन ही खड़ा रहता।

वह मंदिर एक गहन सन्नाटा हो गया।

उस मंदिर मे जरा-सी भी आवाज न उठती।

शास्त्रो मे सूत्रो का पाठ भी बंद हो गया, प्रार्थना-पूजा बद हो गयी।

यहाँ तक कि मंदिर के घंटे भी सदा सोये रहते—उन्हे भी कोई न छेड़ता।

क्योंकि, सोईची के शिष्यो को **सिवाय ध्यान** के और कुछ भी न करना था।

बरसो तक ऐसा ही रहा। लोग भी भूल गये कि पडोस मे कोई मंदिर है।

सैकडो सन्यासी थे वहाँ, और बड़ी गति विधि थी।

लेकिन, मौन और शून्य।

बड़ी-बड़ी घटनाएँ वहाँ घटती थी।

आत्मज्ञान के दिये जलते थे, समाधि के फूल खिलते थे।

लेकिन, मौन और शून्य।

और, फिर एक दिन लोगो ने सुना कि मंदिर के घंटे बज रहे हैं और शास्त्रो से सूत्र पढ़े जा रहे हैं—यह कैसी अनहोनी?

लोग भागे मंदिर की ओर। सारा नगर द्वार पर इकट्ठा हो गया।

सोईची ने संसार छोड़ दिया था।

उसके शव के पास ही शास्त्रो से सूत्र पढ़े जा रहे थे!

और, उसके शव के ऊपर ही घंटे बजाये जा रहे थे!

लोग चकित थे, लेकिन मैं सोचता हूँ कि यह ठीक ही है, **क्योंकि जब तक कोई मंदिर जीवित होता है, तो मौन होता है।**

रजनीश के प्रणाम

१३-१-१९७१

[प्रति . मा योग प्रेम, आजोल]

प्रिय प्रेम कृष्ण,

प्रेम । ध्यान अक्रिया भी है और क्रिया भी ।

अक्रिया ऐसी कि जो क्रिया की विरोधी न हो ।

और, क्रिया ऐसी कि जिसके केन्द्र पर अक्रिया हो ।

और, भीतर कर्ता का भाव न हो, तो यह चमत्कारपूर्ण स्थिति स्वत ही फलित होती है ।

और, **साक्षी की उपस्थिति कर्ता की अनुपस्थिति है ।**

●

एक फकीर था होटेई (Hotei) ।

पर अपने ही ढग का—वैसे भी फकीर कभी किसी और के ढग के होते ही कब है ?

उसका न कोई आश्रम था, न मदिर, न विहार ।

और न ही उसके कोई शिष्य थे ।

सडके ही उसका निवास थी ।

सडके ही आश्रम—मदिर—विहार ।

कधे पर एक झोला लटकाये वह दिन भर सडको पर घूमता रहता । उसके झोले मे फल होते, मिठाइयाँ होती और खिलौने होते । बच्चो को वह उन्हे बाँटता रहता और **बच्चो** के साथ नाचता, गाता, हँसता—और उन्हे कहानियाँ सुनाता और ऐसे वह **उनमें अपरोक्ष ध्यान के बीज बोता ।** सडको पर ही बच्चे उसके साथ ध्यान मे खो जाते । **सड़कों के वे कोने पवित्र हो जाते** और राहगीर वहाँ से मौन और शात होकर निकलते ।

होटेई जीवित ध्यान था, और वह जहाँ खड़ा होता, वहीं मदिर था ।

ध्यान के प्रेमी राहगीरो से वह कहता "एक पैसा ध्यान के लिए भी ।" और उसका झोला पैसो से भर जाता । कभी-कभी कोई उससे कहता कि वह मदिर मे चले और लोगो को धर्म शिक्षा दे, तो वह हँसता और कहता "एक पैसा और, मदिर के लिए ।"

वह जिस गाँव से गुजरता—वही उसकी खबर घर-घर पहुँच जाती ।

बच्चे उसके सदेशवाहक बन जाते, क्योकि उनके चेहरो पर अलौकिक का आलोक छा जाता और उनकी आँखो मे अपूर्व आनद के फूल खिल जाते । **होटेई का कहीं**

से गुजरना, हंसते हुए ध्यान का ही गुजरना था। धीरे-धीरे लोग उसका नाम ही भूल गये **और** उसे 'हँसता हुआ बुद्ध' (The Laughing Buddha) **करके** ही जानने लगे थे।

एक दिन किसी गाँव मे एक धर्म-पण्डित ने राह मे उसे रोका और उसने पूछा : "ध्यान क्या है ?"

निश्चय ही उसने सोचा होगा कि होटेई शास्त्रो का उल्लेख करेगा और ध्यान की परिभाषा बताएगा , लेकिन होटेई उसके प्रश्न पर खिलखिलाकर हँसा और फिर उसने अपना झोला जमीन पर गिरा दिया, आँखे बद कर ली **और ध्यान में खो गया।** उसकी आँखो से आनदाश्रु बहने लगे और उसका शरीर ही वहाँ रहा—वह स्वय तो कही और ही चला गया !

आह ! ठीक जो उत्तर हो सकता था, वही उसने दिया ! लेकिन, पण्डित नही समझा—पण्डितो से ज्यादा ना-समझ व्यक्ति ऐसे भी खोजना कठिन है !

पण्डित ने होटेई को हिला कर उसका ध्यान तोड दिया और पुन पूछा "ध्यान का व्यावहारिक रूप क्या है ?"

जैसे कि होटेई ने जो उत्तर दिया था, वह अव्यावहारिक था।

होटेई पुन हँसा और उसने अपना झोला **पुनः कंधे पर रख लिया—पण्डित को झुक कर अभिवादन किया और अपनी यात्रा पर चल पड़ा !**

उसके पैरो की ध्वनि मे वही शाति थी, जो कि उसके मौन मे थी। यह उसका दूसरे प्रश्न का उत्तर था !

रजनीश के प्रणाम

१४-१-१९७१

[प्रति · स्वामी प्रेम कृष्ण, विश्वनीड, आजोल]

१४९ / अन्तर्संगीत

मेरे प्रिय,

प्रेम । शुभ है लक्षण ।

अमूल्य है अवसर ।

प्रभु समर्पण करें और आगे बढ़े ।

आलोक निरन्तर बढ़ेगा और अन्तत आलोक ही आलोक शेष रह जाता है ।

अधकार बचता ही नही है ।

अधकार हमारे अज्ञान के अतिरिक्त और कही भी नही है ।

और जहाँ अज्ञान नही—अधकार नही, **वहाँ अहकार भी नही ।**

फिर तो, बूँद नही, सागर ही है ।

फूलो के बिना ही सुगध बरस रही है न ?

वाद्य बिना संगीत भी बरसेगा ।

अनाहत नाद निकट है ।

बढ़े ।

प्रार्थनापूर्ण हृदय से आगे बढ़े ।

शुभ है लक्षण ।

और अमूल्य है अवसर ।

रजनीश के प्रणाम

७-१-१९७१

[प्रति श्री हरिकृष्ण भट्ट, ४।८८७, सेंट्रल बैंक के सामने, पो० नवसारी, बलसाड, गु०]

प्यारी धमकीर्ति

प्रम । अपूव है आनद—ध्यान का ।
अलौकिक है अनुभति—आनद की
जैसे सदा से बद द्वार खलते हैं ।
या जैसे अपरिचित अधकार म सदा से परिचित सूय का आगमन होता है ।
हृदय की कली अचानक फूल बन जाती है ।
और प्राणो की अन्तर्वीणा पर अनाहत नाद बजता है ।
नृत्य करती है—श्वास-श्वास ।
और गीत गाता है—तन मन का अणु अणु ।
अनगहीत हो ।
आह्लाद से भर ।
प्रम को धन्यवाद दे ।
और कहने दे तेरे समस्त अस्तित्व को प्रभु की अनुकम्पा अपार है ।

रजनीश के प्रणाम
४ १ १९७१

[प्रति मा धमकीर्ति विश्वनीड आजोल]

४

घूँघट के पट खोल

घूँघट के पट खोल

भगवान् श्री रजनीश द्वारा अपने विभिन्न प्रेमिजनो, साधको,
शिष्यो एव सन्यासियो को लिखे गये १५० अमृत-पत्र

पत्र शीर्षक

क्रम

—:o:—

१/जन्म-दिवस संदेश—'द्विज बनो'

प्रिय विजयबाबू,

स्नेह। यह जानकर बहुत प्रसन्न हूँ कि जीवन-यात्रा के तेईस वर्ष तुम्हारे पूरे हो रहे है।

इस तरह बहुत वर्ष तुम पूरे करो, यह कामना करता हूँ।
जीवन एक बहुमूल्य अवसर है।
पर उसका मूल्य जीने वाले पर निर्भर होता है।
व्यक्ति जो अपने को बनाता है, वही बन पाता है।
प्रत्येक स्वयं अपना निर्माण है।
ईश्वर और शैतान दोनो की सभावनाएँ हममे होती है।
मनुष्य तो केवल बीच का सेतु-मात्र है।
हम पीछे भी लौट सकते है, और आगे भी जा सकते है।
पीछे लौटना जीवन को व्यर्थ खो देना है।
आगे बढने मे ही सार्थकता है।
आगे बढने के इस संकल्प को ही मैं सच्चा जन्म कहता हूँ।
उस दिन ही मनुष्य 'द्विज' बनता है।
एक जन्म माँ-बाप से मिलता है। वह शरीर का जन्म है।
दूसरा जन्म—आत्मा का जन्म—स्वयं को देना पड़ता है।
सकल्प और साधनापूर्ण जीवन-योजना से यह होता है।
यह तुम करो, ऐसी मेरी भावना है।
तुम्हारी वर्षगाँठ पर यही मेरा सदेश है।
शरीर नही आत्मा को जगाओ—वही सच्चा जन्म और जीवन का आरम्भ है।
उसे पाकर ही शान्ति और आनन्द के द्वार खुलते है और प्रभु निकट आता है।
सबको मेरे विनम्र प्रणाम।

रजनीश के शुभाशीष
१४-३-१९६१ (प्रभात)

[प्रति श्री विजयबाबू, देगलहरा, बुलढाना, महाराष्ट्र]

२ / सम्यक् विचार से जीवन में क्रान्ति

प्रिय कोठारी जी,

स्नेह। आपका पत्र मिला, मैं तो चादा मे लौटकर पत्र की बाट में ही था।
यह जानकर आनन्दित हूँ कि चादा मे हुई चर्चाओ पर विचार कर रहे है।
सम्यक् विचार से जीवन मे क्रान्ति हो जाना कठिन नही है।
विचार तो मनुष्य करता ही है। असली प्रश्न उसके विचारों की दिशा का है।
विचार अद्भुत शक्ति है।
विकार से सयुक्त हो जावे विचार, तो पशु तक पहुँचा देती है।
और, विवेक से सयुक्त हो, तो प्रभु भी बनाने का सामर्थ्य उसमे है।
ईश्वर सम्यक् विवेक-शक्ति दे, यह कामना करता हूँ।
नव-वर्ष के लिए यही मेरी शुभ-कामना है।

रजनीश के प्रणाम

१४-११-१९६१

[प्रति · श्री मीखमचन्द कोठारी, हिगोली, महाराष्ट्र]

३ / ज्वलन्त प्यास है द्वार—समाधि का

प्रिय कोठारी जी,

स्नेह। संध्या बीते अंधेरे मे बैठा हूँ। कल से आपका स्मरण है। पत्र मिला है, तब से आपके सम्बन्ध मे सोचता हूँ।

एक प्यास आपमे अनुभव करता हूँ।

आपमे जीवन के सत्य को जानने की उत्कट अभिलाषा है।

उस प्यास को और गहराना है।

इतना कि प्यास ही प्यास रह जाये।

फिर, द्वार अपने से खुल जाते हैं।

हम चाहना ही नही जानते, अन्यथा सत्य कितना निकट है!

सत्य पाने की चाह को श्वास-श्वास मे भर लेना है।

पूरा मन-प्राण उसके लिये ही जल उठता है।

भक्ति-योग मे इसे 'विरह' कहा है।

यह जलन पहुँचा देती है।

यह जलन समाधि मे ले जाती है।

यह हो जाने पर अचानक ध्यान घट जाता है।

चित्त स्थिर हो जाता है।

दौड छूट जाती है।

और, जो दिखता है, उसका शब्द मे कोई नाम नही है।

पर, वह अनाम, प्यास को सदा को ही मिटा जाता है।

इतना आश्वासन है कि प्यास है, तो प्यास मिटाने का मार्ग भी है।

और,वहाँ पहुँचना भी है, जहाँ कि पूर्ण तृप्ति है।

रजनीश के प्रणाम

७-१२-१९६१

[प्रति : श्री भीखमचन्द कोठारी, हिंगोली, महाराष्ट्र]

४ / प्रेम मुक्ति है और मोह—बन्धन

प्रिय कोठारी जी,

स्नेह। प्रेम व मोह मे भेद पूछा है।
मैं सब भेदो के पीछे एक ही भेद देखता हूँ।
वह एक मूल भेद ही सबमे प्रकट होता है।
वह भेद क्या है ?
मैं या तो अपने को जानता हूँ या नही जानता हूँ।
'मैं कौन हूँ ?' यह न जानने से जो प्रीति पैदा होती है, वह मोह है।
'मैं कौन हूँ'—यह जानने मे प्रेम आता है।
प्रेम ज्ञान है।
मोह अज्ञान है।
प्रेम निरपेक्ष है—सबके, समस्त के प्रति है।
वह 'पर' निर्भर नही है। वह स्वयं मे है।
वह 'किसी से' नही होता है। बस, होता है।
बुद्ध उसे करुणा कहते हैं।
महावीर उसे अहिंसा कहते है।
वह अकारण है, इसलिए नित्य है।
मोह अनित्य है।
कारण से होता है।
'पर' निर्भर है।
सापेक्ष है।
एक के प्रति है।
इसलिए, दुख का मूल है।
प्रेम आता है, जब मोह जाता है।
मोह-मुक्ति प्रेम से होती है।
इससे प्रेम पा लेना, सब कुछ पा लेना है।
प्रेम मुक्ति है।

रजनीश के प्रणाम
१४-२-१९६२

[प्रति श्री मोखमचन्द जी कोठारी, हिंगोली, महाराष्ट्र]

५ / भीतर छिपे अनन्त शान्ति और साम्राज्य की खोज

प्रिय कोठारी जी,

स्नेह। आपका प्रीतिपूर्ण पत्र मिला है।
जीवन में हो रहे परिवर्तन की बात आपने कही है।
यह तो प्रारम्भ है।
मनुष्य के भीतर अनन्त शान्ति की सम्भावना है।
द्वार भर खोलने की बात है।
और, एक साम्राज्य का स्वरूप से मालिक होते हुए मनुष्य कैसी दीनता और दरिद्रता और दुःख मे जीता है, यह देखकर बहुत दया आती है।
स्वरूप मे उतरने का जो प्रयोग शुरू किया है, उसे सतत जारी रखना है।
वह अभी छोटा-सा बीज-सा दिखनेवाला प्रयोग बृहत परिणाम लायेगा।
एक दिन अनायास अनपेक्षित जागकर देखेंगे कि सब बदल गया है।
दुःख कहीं है ही नहीं।
और, संसार ही मुक्ति हो गया है।

रजनीश के प्रणाम
१३-११-१९६२
(प्रभात)

[प्रति : श्री भीखमचन्द कोठारी, हिंगोली, महाराष्ट्र]

६ / प्रकाश किरण का अनुगमन—मूल स्रोत तक

प्रिय जया बहिन,

प्रणाम। एक अरसा हुआ आपको पत्र नही दिया हूँ, पर स्मरण तो सदा बना रहता है।

आपकी जीवन-ज्योति निरंतर प्रभु-चरणो को खोज रही है।

वह प्रयास सफल हो, इसकी प्रार्थना सदा बनी रहती है।

अंधेरा है, दुख है, बधन है।

पर, एक प्रकाश की किरण भी दीख जाये, तो उसके अनुगमन से इन सबके बाहर हुआ जा सकता है।

उसका अनुगमन प्रकाश के मूल-स्रोत तक पहुँचा देता है।

इस प्रकाश-अनुगमन का नाम ही साधना है।

समाधि-योग के जो आनद अनुभव प्रतीत हो, उन झलको के पीछे चलते चलना है। उनका पीछा करना है।

फिर, आज जो क्षण को मिलेगा, कल वही सदा को मिल जाता है।

मै आनद मे हूँ।

क्या मेरा आनद वही से आपको अनुभव नही होता है?

रजनीश के प्रणाम

४ जून, १९६३

[प्रति : सुश्री जया शाह, बम्बई]

७ / स्वयं से मिलन ही योग है

प्रिय आत्मन्,

मैं आनन्द मे हूँ।

प्रभु के सान्निध्य मे कितना आनन्द है !

ज़रा-सा मोड लेते ही कितने रहस्यमय लोक के दर्शन होते है !

इन्द्रियो के इस पार दुःख और पीड़ा है।

बन्धन के अतिरिक्त यहाँ और कुछ भी नही है।

पूरे जीवन उनकी मृग-मरीचिका मे दौड़कर अवसाद और पराजय के सिवाय और क्या मिलता है ?

और, इन्द्रियों के पीछे कौन छिपा बैठा है ?

उसका द्वार खोलते ही सब मिल जाता है—जिसकी खोज थी, जन्मो-जन्मो से।

तृष्णा मिट जाती है।

प्यास विलीन हो जाती है।

और, हो जाता है चैतन्य—परिपूर्ण।

इन्द्रियो के पीछे झाँकना है।

इसके सिवाय अशान्ति से जागने का और अशान्ति को जीतने का और कोई मार्ग नही है।

और, प्रत्येक झाँक सकता है।

जो इनके बाहर झाँक रहा है, वह इनके भीतर भी झाँक सकता है।

बाहर देखने पर, मिलन होता है 'पर' से।

भीतर देखने पर, मिलन होता है 'स्वय' से।

यह मिलन ही योग है।

और, यह मिलन कैसे नृत्य से, कैसे सगीत से भर देता है !

पर, मिलन हो, तब इस नृत्य की बात करनी है।

रजनीश के प्रणाम

१४-८-१९६३

[प्रति · श्री भीखमचन्द कोठारी हिंगोली, महाराष्ट्र]

८१ शून्यता है द्वार—अमृत का

प्रिय बहन,

स्नेह। दीखता है . साधना अच्छी चल रही है।

चित्त शात होता जा रहा है, शांति को प्रगाढ होने दे।

भय न करें, अपने को पूर्णतया शून्य मे छोड दे।

उसी भाँति सब खोकर स्व की उपलब्धि होती है।

एक अर्थ मे सबके प्रति मरकर ही जीवन प्राप्त होता है।

साधना मृत्यु का वरण ही है।

कैसा रहस्य है कि जो जीवन बचाना चाहते है, वे जीवन खो देते है! उनका पूरा जीवन ही मृत्यु जैसा हो जाता है।

और, वे, जो जीवन खोने को राजी हो जाते है, उनके लिए अमृत के द्वार प्रभु खोल देता है!

पूर्ण बिल्कुल निकट है हमे शून्य होने की शर्त भर पूरी करनी है।

मै आनन्द मे हूँ।

सबको परिवार मे मेरे प्रणाम कहे।

रजनीश के प्रणाम

७-११-१९६३

[प्रति . सुश्री जया शाह, बम्बई]

९ / शाश्वत आनन्द के राज्य में प्रतिष्ठा

प्रिय चिदात्मन्,

आपका प्रीतिपूर्ण पत्र मिला है।

आपने एक अभिशाप को वरदान अनुभव किया है, यह जानकर मैं अत्यन्त आनन्दित हुआ हूँ।

शरीर तो आज है, कल नहीं होगा।

पर, उसके भीतर कुछ है—जो कल भी था, आज भी है और कल भी होगा।

वस्तुत, उस अन्तस् के जगत् मे आज-कल नही है।

वहाँ समय नही है।

वह तो है : शाश्वत—और सनातन।

वह शुद्ध 'होना मात्र' है।

इस शाश्वत को अनुभव करना है।

उसके अनुभव के अभाव मे जीवन मे सब-कुछ भी हो, तो भी कुछ भी नही है।

क्योकि, उसके अतिरिक्त शेष सब जल पर खीची गई लकीरों की भाँति है।

और, उस अनुभव के सद्भाव मे यदि जीवन मे कुछ भी न हो, तब भी सब-कुछ है।

क्योकि, **उस अनुभव से ही वास्तविक जीवन का प्रारम्भ है।**

वही है जीवन, शेष सब मृत्यु है।

इसलिए ही, जिनके पास कुछ भी नही है, उनके लिये भी समृद्धि और सम्पदा का द्वार बद नही होता है।

सब-कुछ के अभाव मे भी बादशाह हुआ जा सकता है।

सच तो यह है कि जिनके पास कुछ था, उन्हे असली बादशाहत पाने के लिये उसे छोड़ देना पड़ा था।

मैने जब इस बादशाहत को अनुभव किया, तो मैने पाया कि दुख तो था ही नही, अधेरा तो था ही नही।

मै (उसके पहले) अपने प्रति ही पीठ किये था।

और, वही था दुख, वही था अधकार।

केवल 'स्व' को जानने की बात है और आनन्द के राज्य मे प्रतिष्ठा हो जाती है।

हम प्यासे है और आँखे दिशा-दिशा मे तृप्ति को खोज रही है।

पर, क्या हम प्यास के पीछे भी झाँककर देखेंगे ?
सागर वहाँ है ।
केवल मुडकर देखना है, और सब पा लिया जाता है ।

●

आशा है कि बम्बई से पूर्ण स्वस्थ होकर आप लौटेंगे ।
बहुत हुआ, अब बीमारी को छोड़िये भी !
सबको मेरे प्रणाम कहें ।

रजनीश के प्रणाम
१२-१-१९६४

[प्रति श्री भीखमचन्द देशलहरा, बुलढाना, महाराष्ट्र]

१० / अमृत-पाथेय

प्रिय विजय,

स्नेह । मैंने इस बीच कितनी बार सोचा कि दो-शब्द तुम्हे लिखूँ, पर वे दो-शब्द भी खोजे नहीं मिले ।

सान्त्वना दे सके, ऐसे शब्द है भी नहीं ।

इसलिए, चुप ही रह गया था ।

पर कभी-कभी मौन ही कुछ कहने का एकमात्र मार्ग होता है ।

श्री भीखमचन्द जी के शरीर-त्याग की खबर मुझे दो-तीन दिन बाद ही मिल गयी थी ।

मैं जानकर ही 'शरीर-त्याग' (शब्द का) प्रयोग कर रहा हूँ ।

जब भी उनसे मिला था, उनकी आँखो मे मुझे अनन्त और अमृत के लिये एक तीव्र प्यास अनुभव हुई थी ।

फिर, अनेक बार जब उनसे मिला, तो उनके कृश और दुबले हो गये शरीर को देखकर दुःख हुआ था ।

लेकिन, आँखो मे आ गयी शान्ति, शक्ति और ज्योति को देखकर आनन्द भी हुआ था ।

यह अनुभव मुझे हुआ था कि उन्होने कुछ '**पाया**' है ।

शरीर के पार जो है, उसकी किरण के दर्शन उन्हे हो रहे थे ।

इसलिए ही, मृत्यु का भी वे आनन्द से स्वागत कर सके ।

यह बहुत बडी बात है ।

शायद, जीवन मे इससे बडी कोई दूसरी बात ही नही है ।

आनन्द से मृत्यु का स्वागत, अमृत के अनुभव की सूचना है ।

जीवन की सार्थकता—मृत्यु के भी आनन्द मे परिणत हो जाने मे है ।

वस्तुतः, जिसे हम मृत्यु कहते है, वह जीवन का नही, केवल जन्म का अन्त है ।

जीवन—जन्म और मृत्यु दोनो के अतीत है ।

जो इस जीवन की हल्की-सी भी झलक पा लेता है, मृत्यु उसे मृत्यु नही रह जाती है ।

और, जिसे वैसी झलक का सौभाग्य मिलता है, वह अपने आगे की यात्रा पर सम्यक् पाथेय लेकर जा रहा है ।

(मैं देख रहा हूँ कि श्री भीखमचन्द जी के नाम से जो यात्री हमारे बीच था, वह ऐसा ही पाथेय लेकर अपनी अनन्त यात्रा पर गया है।

हम उस यात्री के लिये मंगल-यात्रा की कामना करें।

और, उनके जाने के दु:ख का कुछ कारण नही है।

हम जिस जगत् मे हैं, वह सच ही कोई स्थायी आवास नहीं है।

आज नही कल, हमे भी अनन्त की यात्रा पर जाना है।

यह दिख सके, तो दु:ख विलीन हो जाता है।

अज्ञान ही दु:ख है।)

रजनीश के प्रणाम

८-५-१९६५

[प्रति : श्री विजयबाबू देशलहरा, बुलढाना, महाराष्ट्र]

११. आनन्द है—निर्विचार स्व-प्रतिष्ठा में

प्रिय सोहन,

प्रेम। धूप घनी हो गयी है और मैं एक वृक्ष की छाया मे बैठा हूँ। मै अकेला हूँ और आकाश मे उडते बादलो को देख रहा हूँ।

बादलो की भाँति ही बेजड, विचार होते है।

और, जैसे बादल आकाश को घेर लेते हैं, ऐसे ही विचार आत्मा को।

बादलो को हटते ही आकाश के दर्शन होते हैं।

और, विचारो के हटते ही आत्मा के।

और, विचारशून्य हो, स्वय को जानना ही आनद है।

जब कोई इस भाँति स्वयं मे स्थित होता है, तभी आनद को उपलब्ध हो जाता है।

जिन्हे आनद खोजना हो, उन्हे निर्विचार को खोजना होता है।

माणिक बाबू को प्रेम। बच्चो को आशीष। जल्दी ही तुझसे मिलने की आशा मे।

रजनीश के प्रणाम

४–६–१९६५

गाडरवारा

[प्रति सुश्री सोहन बाफना, पूना]

१२। साधना की हवायें और मन की धूल

प्रिय सोहन,

प्रेम। जोर की हवाये बह रही है। बदलियाँ उड़ी जाती है और छिपा सूरज बाहर निकल आया है।

अभी-अभी आकाश कैसा ढँका था? ऐसा ही मनुष्य-मन है!

साधना की हवाये उसकी सारी धूल को उड़ा ले जाती है और दर्पण स्वच्छ हो जाता है।

दर्पण मिटता तो है नही, बस, ढँक जाता है।

मन के दर्पण की धूल से भरे होने की बात तूने लिखी है।

वह धूल हट जावेगी।

धूल कोई शक्ति नही है।

एक बार उसे हटाने का स्मरण भर आ जाने की बात है।

माणिक बाबू को मेरा स्मरण दिलाना और बच्चो को भी।

रजनीश के प्रणाम

१२ जून, १९६५

दोपहर

[प्रति सुश्री सोहन बाफना, पूना]

१३ / वर्तमान में जीना अद्भुत आनंद है

प्यारी सोहन,

सुबह हो गयी है। सूरज निकल रहा है और रात्रि की सारी छायाएँ विलीन हो गयी हैं।

कल बीत गया है और एक नये दिन का जन्म हो रहा है।

काश! इस नये दिन के साथ हम भी नये हो पावें ?

चित्त पुराना ही रह जाता है। वह बीते कल में ही रह जाता है। और इस कारण नये के स्वागत और स्वीकार मे वह समर्थ नही हो पाता।

चित्त का प्रतिक्षण पुराने के प्रति मर जाना बहुत आवश्यक है।

तभी वह वर्तमान मे जी पाता है।

और, वर्तमान मे जीना अद्भुत आनंद है!

वहाँ सबको मेरे प्रणाम कहना।

माणिक बाबू को प्रेम। बच्चों को आशीष।

रजनीश के प्रणाम

२६-६-१९६५

[प्रति: सुश्री बाफना, पूना]

१४९/ ध्यान से खुलना—अन्तस्-चक्षु का

प्रिय आत्मन्,

प्रेम। आपके दोनों पत्र मिले हैं।

बहुत विचार मे न पड़ें।

विचार मे सत्य तक जाने का कोई मार्ग नही है।

मार्ग है ध्यान।

उसकी ओर जितने बढ़ेगे, उसी मात्रा मे शान्ति, आनन्द और आत्मा की ओर गति होगी।

ध्यान जब पूर्ण होता है, तभी अन्तस्-चक्षु खुलते हैं।

और, सत्य का साक्षात् होता है।

सत्य तो सतत मौजूद है, लेकिन हम अंधे हैं।

रजनीश के प्रणाम

२–३–१९६६

जबलपुर

[प्रति : श्री आर० के० नन्दाणी, राजकोट गुजरात]

१५] आनन्द और संगीत—अकेलेपन का

प्यारी सोहन,

तेरा पत्र। पागल ! अकेला रहना तो बड़ा आनंद है।

सच्चाई भी यही है कि हम सब अकेले है।

भीड़-भाड़ में कब तक स्वय के सत्य को भुलाया जा सकता है ?

एक दिन तो अकेला—बिलकुल अकेला होना ही पडता है।

उसके पूर्व ही जो अकेला होने मे आनद अनुभव करने लगता है, उसकी जीवन-यात्रा बहुत सरल और शातिपूर्ण हो जाती है।

उस एकात घर मे—भीड का विचार न कर, मन को भी शात और शून्य मे ले जाया कर।

मौन बैठा कर।

आकाश को देखा कर।

फिर, धीरे-धीरे एक अभिनव आनद प्रकट होगा और तेरे प्राणों को स्वर्गीय संगीत से भर देगा।

शाति मे, मौन मे ही तो परमात्मा के सगीत की अनुभूति होती है।

माणिक बाबू को प्रेम।

बच्चो को शुभाशीष।

रजनीश के प्रणाम

३-५-१९६६

[प्रति सुश्री सोहन, पूना]

१६ / मिटना है मार्ग

प्रिय आत्मन्,

प्रेम। आपके पत्र।

धैर्य से अनुसन्धान करें।

सत्य तो निकट है, किन्तु अधैर्य के कारण हम उसे देख नही पाते हैं।

मन जब शात होता है—और धैर्य मे—तो मिट ही जाता है।

और, तब जो शेष है, वही है सत्य।

इसलिए, खोजना कम है, खोना ज्यादा है।

बीज स्वय को खोकर वृक्ष बनता है—और बूद सागर।

वही मार्ग है।

मिटना मार्ग है।

मृत्यु से जो राजी है, उसके लिए अमृत के द्वार खुल ही गये।

'मैं' के अतिरिक्त स्वय तक पहुँचने मे और कोई बाधा नही है।

वहाँ सबको प्रणाम।

रजनीश के प्रणाम

२४-६-१९६६

जबलपुर

[प्रति श्री आर० के० नन्दाणी, राजकोट]

१७ / ध्यान के बीज से सत्य-जीवन का अंकुरण

परम प्रिय,

प्रेम। पत्र मिले हैं।

धैर्य से समय की प्रतीक्षा करें।

बीज बो दिये गये हैं, निश्चय ही समय पाकर वे अंकुरित होंगे।

अति जल्दी मे हानि ही पहुँच सकती है।

ध्यान के बीज से सत्य जीवन का अंकुरण होगा ही।

लेकिन, अत्यन्त प्रेमपूर्ण प्रतीक्षा आवश्यक है।

और, मैं निश्चिन्त हूँ, क्योंकि मैं जानता हूँ कि आप अनन्त प्रतीक्षा के लिए भी समर्थ हैं।

रजनीश के प्रणाम

२-१२-१९६६

जबलपुर

[प्रति श्री आर० के० नन्दाणी, राजकोट]

१८ / जीवन-संघर्ष के बीच फलित—सम्यक् शान्ति

प्रिय नर्मदा (नीता),

प्रेम। तेरा पत्र।

हृदय मे जो हो रहा है, उसे जानकर आनन्दित हूँ।

ध्यान गहरी-से-गहरी शान्ति ले आयेगा।

अच्छे लक्षण प्रगट हो रहे है।

लेकिन, स्मरण रहे कि शान्ति भी दो प्रकार की होती है।

एक जीवित की और एक मृत की।

मै दूसरे प्रकार की शान्ति के पक्ष मे नही हूँ।

क्योंकि, वह वस्तुत शान्ति ही नही है।

जीवन से भागकर जो शान्ति मिलती है, वह झूठी है।

वह शान्ति नही, वरन् अशान्ति को प्रकट करने वाले अवसरों का अभाव मात्र है।

इसलिए, यदि वास्तविक शान्ति चाहती हो, तो जीवन से मुख मोडनेवाली भूल से बचना।

जीवन के संघर्ष में जो शान्ति सत्य है, बस, वही सत्य है।

जीवन-युद्ध को छोडकर भागना नही है।

वरन्, उसमे ही खड़े होकर स्वय को जीतना है।

भागना सन्यास नही, वरन् निपट कायरता है।

सन्यास तो स्वय का इतना आमूल परिवर्तन है कि फिर ससार रह ही नही जाता है।

भागने मे तो ससार का भय है।

और, सन्यास तो चित्त की वह दशा है, जब ससार स्वप्न की तरह रह जाता है।

न भोगने योग्य—न भागने योग्य।

संसार तो, बस, जागने योग्य है।

श्री नन्दाणी जी को मेरे प्रणाम।

रजनीश के प्रणाम

३–१२–१९६६

[प्रति . कुमारी एन० आर० नन्दाणी (मा योग गीता), एम० ए०, एल० एल० बी०, 'राजहस', रेसकोर्स, ए० जी० आफिस के पीछे, राजकोट—१]

१९ / निष्प्रश्न चित्त में सत्य का आविर्भाव

मेरे प्रिय,

प्रेम। आपका पत्र पाकर बहुत आनन्दित हूँ।
प्यास हो सत्य की, तो ऐसी हो।
आह ! प्रश्न भी नहीं है !
तब जान रखना कि उत्तर भी दूर नहीं है।
निष्प्रश्न चित्त में ही तो वह उपलब्ध होता है।
वहाँ सबको मेरे प्रणाम।

रजनीश के प्रणाम
२-१२-१९६७

[प्रति : श्री चन्द्रकान्त पी० सोलकी, हिम्मतलाल परमार रोड, वादी परा, स्ट्रीट न० ५, सुरेन्द्रनगर, गुजरात]

२० / उत्तर न खोज--प्रश्नों के साथ ही जी

प्यारी शोभना,

प्रेम। तेरा पत्र और तेरे प्रश्न।
लेकिन, क्या हर प्रश्न का उत्तर खोजना आवश्यक ही है ?
और, क्या उत्तर खोजना प्रश्न की हत्या करना नही है ?
नही—नही—ऐसी हिसा मे मत पड़।
प्रश्न ही इतने प्यारे हैं कि पर्याप्त हैं।
उनके साथ ही जी।
पागल ! उत्तरो के साथ जीना भी कोई जीना है ?
वह तो मर जाने का ही दूसरा नाम है।

रजनीश के प्रणाम
१८-४-१९६८

[प्रति सुश्री शोभना (मा योग शोभना), बम्बई]

२१ / सरोवर का किनारा—और जन्मों-जन्मों की प्यास

प्यारी शोभना,

प्रेम। तेरे पत्र मिले हैं। उनमे तूने अपना हृदय ही उँडेल दिया है।
मैं तेरी अनंत प्रतीक्षा को जानता हूँ।
जन्म-जन्म की वह प्यास ही तुझे मेरे इतने निकट ले आई है।
वह प्यास ही तो मेरे और तेरे बीच सेतु बन गई है।
आह! लेकिन क्या तू सरोवर के किनारे ही खडी रहेगी?
पगली! सरोवर के किनारे खड़े रहने से तो प्यास नहीं बुझती है?

रजनीश के प्रणाम

५-८-१९६८

[प्रति : सुश्री शोभना (मा योग शोभना), बम्बई]

२२ / जागरूकता से जन्म—प्रेम का

प्यारी सोनी,

प्रेम। वर्षों से प्रतीक्षित तेरा पत्र पाकर कितना खुश हूँ—कैसे कहूँ ?

जालन्धर से लौटते ही तेरा पत्र मिला है।

वहाँ तेरी याद रोज ही आती रही—राज को देखकर।

वह पागल भी मेरे प्रेम मे पड़ गई है।

(लेकिन, उसने कहा है कि तुझे बताऊँ नही—शायद तुझे चौकाना चाहती होगी !)

उसे स्टेशन पर पीछे रोते छोड़ आया हूँ।

उसके आँसुओ मे जो प्रार्थना थी, वह अब भी मेरे कानो मे गूँज रही है।

●

सावधान और सचेत जीने की कला का नाम ही ध्यान है।

यह सावधानी किसी एक के प्रति नही—स्वय मे होनी चाहिए—समग्र के प्रति

किसी वस्तु के प्रति नही—बस, सावधान होना है।

सचेतनता, जागरूकता चाहिए—जो भी है, उसके प्रति।

शून्य हो, तो शून्य के प्रति भी।

और, प्रेम इसी जागरूकता से जन्मता है।

प्रेम अन्धापन नही है।

सच तो यह है कि बस, प्रेम ही आँख है।

आह ! प्रभु को देख सकने वाली आँख वही है।

●

'मैं कौन हूँ ?' इसे तीव्रता से गुँजाना है।

उसके पीछे उत्कट जिज्ञासा चाहिए।

नही तो वह भी मन्त्र जैसा ही नीद लाने वाला हो सकता है।

उसे तो एक तीर की भाँति प्राणो मे प्रवेश कराना है।

ताकि, बस, वही शेष रहे और कुछ भी नहीं।

•

और, ध्यान में मैं सामने आ जाऊँ, तो चुपचाप साक्षी बनी रह।
जो भी हो--उसे बस, देख।

•

वहाँ सबको मेरे प्रणाम कहना।

रजनीश के प्रणाम

२३-१२-१९६८

(प्रभात)

[प्रति . सुश्री स्वर्णलता बत्रा, बम्बई]

२३/ ध्यान पाया, तो सब पा लिया

प्यारी सोनी,

प्रेम। तेरा पत्र मिला है।

ध्यान मे डूब।

क्योकि, उसी सागर मे डूबने मे वह मिलता है, जिसकी तलाश है।

ध्यान ही एकमात्र धन है।

इस सूत्र की मन मे गांठ बाँध ले।

ध्यान नही पाया, तो कुछ नही पाया।

ध्यान गँवाया, तो सब-कुछ गँवाया।

और, ध्यान पा लिया, तो सब पा लिया।

और, तू पा सकती है।

क्योकि, मै तो तेरी उन गहराइयो को भी जानता हूँ, जिन्हें तू नही जानती है।

मै तुझे पहचानता हूँ।

सबको वहाँ मेरे प्रणाम।

रजनीश के प्रणाम

९-१-१९६९

[प्रति सुश्री स्वर्णलता बत्रा, बम्बई]

२४ / जीत की आकांक्षा में ही छिपी है हार

मेरे प्रिय,

प्रेम। हार का अनुभव हुआ, यह शुभ है।

असल में जीत की आकांक्षा में ही हार छिपी हुई है।

हार और जीत एक ही सिक्के के दो पहलू हैं।

फिर, एक, दूसरे के बिना कैसे आ सकता है?

लाओत्से का वचन है कि 'धन्य हैं वे लोग, जो हारे हुए ही हैं, क्योंकि उन्हें हराया नहीं जा सकता।'

रजनीश के प्रणाम

(जबलपुर)

[प्रति: श्री मथुरा प्रसाद मिश्र (स्वामी आनन्द मैत्रेय), पटना]

२५ / 'मैं मन हूँ'—इस भ्रम से मुक्ति

मेरे प्रिय,

प्रेम। आपकी सबसे बडी भूल यही है कि मन को ही 'मैं' मान बैठे है।
और, इसी से आपका चित्त क्रमश: दु.खी, उदास और खिन्न होता गया।
लेकिन, वह जो दु:ख अनुभव करता है, निस्संदेह दु.ख से पृथक और परे है।
इसलिए, आप दु:ख नही है।
इस भ्रम को उसकी पूर्णता मे देख लेना ही उससे मुक्त हो जाना है।
कुछ होने के भाव को जाने दे और केवल जिये।

रजनीश के प्रणाम

[प्रति . श्री मथुरा प्रसाद मिश्र (स्वामी आनन्द मैत्रेय), पटना]

२६ / प्रत्येक स्थिति है—अतिक्रमण की संभावना

प्रिय मथुराबाबू,

प्रेम। पत्र मिला है। माथेरान (शिविर मे) जरूर आ जावे।
और, मन की जो स्थिति है, वह शुभ है।
लेकिन, शुभ है—उसे अतिक्रमण (transcend) करने के एक अवसर की भाँति।
वस्तुत तो, जो भी है, वह बस, अवसर है।
वह क्या है, यह महत्वपूर्ण नही है।
वह क्या हो सकता है, बस, यही महत्वपूर्ण है।
सत्य से पूर्व शेष सब, सम्भावना है।
और, प्रत्येक सम्भावना सत्य के लिए द्वार है।
ऐसी कोई सम्भावना नही है, जो सत्य के लिए अवसर न बन सके।
इसलिए, निराश होने का कोई भी कारण नही है।
क्योकि, निराशा भी आशा की अप्रगट दशा है।
रात्रि मे सुबह का आवास है।
और, मृत्यु मे जीवन का।
और, आत्म-घात के भाव मे आत्म-साधना का अकुर है।
शेष मिलने पर।
वहा सबको प्रणाम।

रजनीश के प्रणाम
२०-२-१९६९

[प्रति . श्री मथुराप्रसाद मिश्र, (स्वामी आनन्द मैत्रेय), पटना]

२७ / अनकहे शब्द और अनगाए गीत

प्यारी कुसुम,

प्रेम। तेरा पत्र। जानता हूँ कि कितना तू कहना चाहती है, और नही कह पाती है।

जीवन में जो भी सत्य है, सुंदर है—उसे कहना सदा ही कठिन है।

और, प्रेम से ज्यादा न तो कुछ और सत्य है, न सुंदर ही।

लेकिन, तेरे न कहने मे भी बहुत कुछ कह ही दिया जाता है।

मौन की भी अपनी भाषा है।

और सारी भाषाओं से ज्यादा समर्थ।

और तू उसमें अति-कुशल है।

तेरे अनकहे शब्द मुझ तक पहुँच जाते है।

और तेरे अनगाए गीत भी।

कपिल को प्रेम।

असंग को आशीष।

रजनीश के प्रणाम

३०-८-१९६९

[प्रति सुश्री कुसुम, लुधियाना, पंजाब]

२८ / निष्प्रयोजनता का सौन्दर्य

मेरे प्रिय,

प्रेम। आपका पत्र पाकर आनन्दित हूँ।

सार्त्र कहते है कि मनुष्य एक व्यर्थ वासना है।

लेकिन, व्यर्थता (uselessness) इतनी पूर्ण है कि उसे व्यर्थ कहना भी व्यर्थ ही है।

व्यर्थ का अर्थ भी अर्थ मे ही है।

ऐसा लगता है कि जो अर्थ खोजने निकलता है, उसके हाथ मे व्यर्थता के अतिरिक्त कुछ भी नही पडता है।

अर्थ (meaning) की खोज से यह अनर्थ घटित होता है।

इसलिए, मैं कहता हूँ अर्थ न खोजे, वरन् जो है, उसे जियें।

खोजे न, जियें।

विचारें न, जियें।

साधे न, जियें।

जीवन में डूबे और बहे।

तैरे भी न।

कही पहुँचना नही है।

और, तब जहाँ पहुँच जाते है, वही मंजिल हो जाती है।

जीवन फिर स्वयं ही अपना अर्थ है।

वह निष्प्रयोजन प्रयोजन (Purposeless Purpose) है।

और, यही उसका सौन्दर्य भी है।

रजनीश के प्रणाम

अक्टूबर, १९६९

[प्रति : श्री मथुराप्रसाद मिश्र (स्वामी आनन्द मैत्रेय), पटना]

२९ / समझौता न करें—विचार स्वातंत्र्य के लिए लड़ें

मेरे प्रिय,

प्रेम। 'अग्नि-परीक्षा' को लेकर उठे विवाद से आश्चर्यचकित हूँ।

उस पुस्तक मे विवादास्पद कुछ भी नही है।

होता तो अच्छा था।

क्योकि, विवाद विचार को जन्म देता है।

अगले संस्करण को विवादास्पद बनाने की कोशिश करे।

यह जानकर और भी आश्चर्यचकित हूँ कि आप रक्षात्मक (डिफेन्सिव) रुख ले रहे हैं।

यह तो बहुत घातक है।

विचार स्वातन्त्र्य और लोक-तात्रिक परम्पराओ के निर्माण मे इससे बाधा पड़ेगी।

जो आपको सत्य और उचित मालूम होता है, उसके लिए लड़ें।

शान्ति को नही, सत्य को ध्यान में रखे।

वैसे असत्य और अज्ञान के समक्ष झुकने से शान्ति आ सकती है, इस भूल में पडने से बडी भूल नही है।

राम और गीता सबके है।

वे किसी की बपौती नही है।

सारा जगत् उनके सम्बन्ध मे सोचने को स्वतत्र है।

यही उनकी महानता है।

उन्हे किसी धर्म या सम्प्रदाय के बाडे मे बंद किये जाने का विरोध किया जाना चाहिए।

इसके लिए अदालत मे जाना पडे, तो जावे।

अदालत मे बचने की कोशिश न करें।

साधु के पास खोने को ही कुछ नही है।

इसलिए, भय का सवाल ही कहा है?

रजनीश के प्रणाम

[प्रति आचार्य श्री तुलसी]

३० / कुण्डलिनी-ऊर्जा का ऊर्ध्वगमन

प्रिय पद्मा,

प्रेम। शरीर मे विद्युत्-ऊर्जा जैसा सचार शुभ है।

धीरे-धीरे शरीर-भान मिट जायेगा—और ऊर्जा का बोध ही बचेगा।

पोद्गलिक (Material) शरीर एक भ्राति है।

वस्तुत तो, जो है, वह ऊर्जा (Energy) ही है।

ऊर्जा (Life Energy) ही अज्ञान मे शरीर और ज्ञान मे आत्मा प्रतीत होती है।

मस्तिष्क मे धक्के लगेगे।

लगेगा कि जैसे अब फटा—अब फटा।

लेकिन, भय न लाना।

जीवन-ऊर्जा के हाथो मे स्वय को छोड़ दो।

यही भगवत-समर्पण है।

ऐसे ही ब्रह्मरन्ध्र सक्रिय होगा।

ऐसे ही सहस्त्र पखुरियो वाले कमल की कली टूटेगी और फूल बनेगी।

●

नाभि-केन्द्र पर अपूर्व शाति का जो अनुभव हो रहा है, उसमे रमण करो।

उसमे डूबो—उससे एक हो जाओ।

जीवन-ऊर्जा का मूल-स्रोत ध्यान मे आ रहा है—उसे पहचानो।

और, **अब किसी भी अनुभव के संबंध में सोच-विचार मत करो।**

अनुभव करो और अनुगृहीत होओ।

रजनीश के प्रणाम

१३-१२-१९७०

[प्रति . सुश्री पद्मा इंजीनियर, पूना]

३१ / पूर्ण होने का विज्ञान है--शून्य होना

प्यारी मधु,

प्रेम। झील मे जैसे वर्षा का पानी भर जाता है, ऐसे ही शात हुए मन मे विराट् की शक्ति भर जाती है।

ध्यान है स्वयं को झील बनाना और फिर अनंत-अनत स्रोतो से शक्ति उपलब्ध होने लगती है।

इस शक्ति की तरंगे ही तेरे अनुभव मे आ रही हैं।

शून्य होते ही पूर्ण सब कुछ स्वय के हाथो मे ले लेता है।

लेकिन, नासमझ मनुष्य शून्य हुए बिना ही पूर्ण होने की कोशिश करता है।

वैसा नही हो सकता है--इसलिए ही दुःख फलित होता है।

वैसा नही ही हो सकता है--क्योकि वह असभव है।

वह वैसे ही असभव है, जैसे कि झील बने बिना ही कोई वर्षा के पानी को आमत्रण दे! और, असभावना और भी असभव हो जाती है, क्योकि हम झील तो बनते ही नही, उल्टे और, अहकार के शैल-शिखर बनकर आमत्रण भेजते हैं।

पूर्ण होने का विज्ञान (Science) **है--शून्य होना।**

शून्य से शून्य होते जाना है।

शून्य से महाशून्य होना है।

महाशून्य अर्थात् जहाँ यह भी पता न रहे कि मै शून्य हूँ।

और बस, फिर स्वय को कुछ भी नही करना पडता है।

फिर तो सब, बस होता है।

वही है मंजिल।

महाशून्य है मंजिल।

धैर्य से--अत्यन्त धैर्य से उस ओर बढती रह।

मै आनदित हूँ कि महाशून्य के मदिर की घटियो के पहले स्वर तुझे सुनाई पड़ने लगे है।

रजनीश के प्रणाम

२८-१२-१९७०

[प्रति मा आनंद मधु, विश्वनीड, आजोल, गुजरात]

३२ / अलौकिक अनुभवों की वर्षा--कुण्डलिनी जागरण पर

मेरे प्रिय,

प्रेम। कुंडलिनी जागती है, तो ऐसा ही होता है।

विद्युत दौडती है शरीर मे।

मूलाधार पर आघात लगते है।

शरीर गुरुत्वाकर्षण (Gravitation) खोता मालूम पड़ता है।

और, **अलौकिक अनुभवों की वर्षा** शुरू हो जाती है।

प्राण अनमुने नाद से आपूरित हो उठते है।

रोयाँ-रोयाँ आनद की पुलक मे काँपने लगता है।

जगत् प्रकाश-पुज मात्र प्रतीत होता है।

इद्रियों के लिए बिलकुल अबूझ अनुभूतियो के द्वार खुल जाते हैं।

प्रकाश मे सुगंध आती है।

सुगध मे सगीत सुनाई पड़ता है।

सगीत मे स्वाद आता है।

स्वाद मे स्पर्श मालूम होता है।

तर्क की सभी कोटियाँ (Catagories) टूट जाती हैं।

और, बेचारे अरस्तू के सभी नियम उलट-पुलट हो जाते हैं।

कुछ भी समझ मे नही आता है और फिर भी सब सदा से जाना हुआ मालूम होता है।

कुछ भी कहा नही जाता है और फिर भी सब जीभ पर रखा प्रतीत होता है।

'गूगे के गुड' का अर्थ पहली बार समझ मे आता है।

आनंदित होओ कि ऐसा हुआ है।

अनुगृहीत होओ कि प्रभु की अनुकपा है।

रजनीश के प्रणाम

२९-१२-१९७०

[प्रति श्री राजेन्द्र आर० अन्जारिया, मणिनगर, अहमदाबाद-८]

३३ / मौन-प्रवचन

प्रिय, वेदान्त भारती,

प्रेम। बुद्ध का एक शिष्य था : सुभूति।
वह एक दिन वृक्ष के तले मौन बैठा था—ऐसे, जैसे हो ही नही।
शून्य मे डूबा—शून्यता से एक हुआ।
और, फिर अचानक उसके चारों ओर फूल बरसने लगे—फूल ही फूल !
वह फूलो से ही ढँक गया—तब उसे खयाल आया कि यह क्या हो रहा है !
फूलों की तो ऋतु भी नही थी और वृक्ष पर एक भी फूल न था।
उसने चारो ओर देखा—चकित—विस्मित !
और, तब देवो ने उसके कान मे कहा : "शून्यता पर आपके प्रवचन के लिए फूलों को बरसा हम अपना आभार प्रगट कर रहे है।"
पर, सुभूति इससे और भी आश्चर्य मे पडा।
उसने कहा : **"लेकिन, मै तो शून्यता के संबंध मे एक शब्द भी नहीं बोला हूँ।"**
देव खूब हँसे और बोले : **"निश्चय ही आप शून्यता के संबंध मे बोले नही, और हमने भी शून्यता के सबध मे सुना नही—लेकिन यही तो सच्ची शून्यता है।"**
और, सुभूति पर फूल बरसते ही रहे—वर्षा की भांति।
ऐसे ही फूल तुम पर भी बरसें—यही कामना करता हूँ।

रजनीश के प्रणाम

१४-१-१९७१

[प्रति : स्वामी वेदान्त भारती, विश्वनीड़, आजोल गुजरात]

३४ / शून्य के स्वर

प्यारे किरण,

प्रेम । निश्चय ही जब कुछ कहने जैसा होता है, तो वाणी ठिठक जाती है ।
और शब्दो की भीड की जगह **निःशब्द का शून्याकाश** उभर आता है ।
प्रेम के निकट ।
प्रार्थना के द्वार पर ।
परमात्मा के स्मरण मे ।
लेकिन, **तब मौन भी बोलता है और शून्य मे भी सवाद होता है ।**

जब भी तुम मेरे पास आये, तभी मैने जाना कि बादलो से भरे आये थे, लेकिन अचानक आकाश मे खाली हो गये हो ।

और, इसके अतिरिक्त मेरे पास भी तो नही आ सकते थे न ?
शून्य के पास शून्य होकर ही तो जाया जा सकता है न ?
शब्द से मेरे साथ सेतु नही बनता है ।
क्योकि, मै नि शब्द हूँ ।
बोलकर मुझसे कैसे बोलोगे ?
क्योकि, मै सदा से चुप हूँ ।
दिन रात बोलकर भी !

रजनीश के प्रणाम
२१-१-१९७१

[प्रति . श्री किरण, पूना, महाराष्ट्र]

३५ / शब्दहीन संवाद में दीक्षा

प्रिय ब्रह्मदत्त,

प्रेम। साथ ही हूँ तुम्हारे।
बोलता भी हूँ।
तुम सुनते भी हो।
लेकिन, निश्चय ही अभी समझ नहीं पाते हो।
यह द्वार है नया।
आयाम है अपरिचित।
भाषा है अनजान।
पर धैर्य रखो।
'धीरे-धीरे' सब समझ पाओगे।
शब्दहीन संवाद में दीक्षा दे रहा हूँ।
मौन हो सुनते रहो।
समझने की अभी चिन्ता ही न करो।
क्योंकि, उससे भी मौन भंग होता है।
और, मन गति करता है।
अभी तो, बस सुनो ही।
सुनने की गहराई ही समझने का जन्म बनती है।

रजनीश के प्रणाम

२२-१-१९७१

[प्रति श्री ब्रह्मदत्त, १२।३४६, बेलासिस ब्रिज, तारदेव, बम्बई-३४]

३६ / संसार और संन्यास में द्वैत नहीं है

प्रिय अगेह् भारती,

प्रेम। बाह्य और अतस् मे समस्वरता लाओ।
पदार्थ और परमात्मा मे विरोध नही है।
घर और मदिर को दो जाना कि उलझे।
ससार और सन्यास में द्वैत नही है।
एक को ही देखो—दसों दिशाओं मे।
एक को ही जिओ—श्वास-प्रश्वास मे।
क्योंकि, एक ही है।
लहरो की अनेकता भ्रम है।
सागर का ऐक्य ही सत्य है।

रजनीश के प्रणाम

८-३-१९७१

[प्रति . स्वामी अगेह् भारती, जबलपुर]

३७ / दिये की ज्योति का एक हो जाना—महासूर्य से

प्यारी शिरीष,

प्रेम। यौन केन्द्र (Sex Centre) प्रकृति से संबध का द्वार।

और, ठीक ऐसे ही सहस्रार परमात्मा से संबंध का।

ऊर्जा (Energy) एक ही है।

वही काम मे बहती है, वही राम मे।

लेकिन, यात्राये भिन्न हैं।

दिशाये भिन्न हैं।

परिणाम भिन्न हैं।

उपलब्धियाँ भिन्न है।

ध्यान प्रारंभ होता है—यौन-केन्द्र से ही।

क्योंकि, वही मनुष्य है।

पर, गहराई के साथ-साथ ऊर्ध्वगमन होता है।

चेतना पानी की जगह अग्नि बन जाती है।

नीचे की जगह ऊपर की ओर बहाव शुरू होता है।

और, अन्ततः सहस्रार पर समस्त ऊर्जा इकट्ठी हो जाती है।

यह छलाँग के पूर्व अनिवार्य तैयारी है।

और, जिस क्षण भी अविभाज्य रूप से समस्त जीवन-शक्ति (Elan Vital) स्रार पर संगृहीत होती है, **उसी क्षण छलाँग लग जाती है** और दिये की ज्योति महा-सूर्य से एक हो जाती है।

रजनीश के प्रणाम

८-३-१९७१

[प्रति सौ० शिरीष पै (साध्वी योग शिरीष), बम्बई]

३८ / अब अवसर आ गया है, इसलिए पुकारता हूँ

प्यारी मृणाल,

प्रेम । समय आ जाये अनुकूल ।

घडी हो परिपक्व ।

तभी तो पुकारा जा सकता है ।

कच्चे फलो को पृथ्वी पुकारे भी तो वे उसकी गोद मे नही गिरते है !

और, अब अवसर आ गया है, इसलिए पुकारता हूँ ।

और, इसलिए ही तो तू सुन भी पाती है !

अन्यथा, पुकारना तो सदा आसान, पर सुन पाना तो उतना आसान नही है।

रजनीश के प्रणाम

८-३-१९७१

[प्रति सौ० मृणाल जोशी, पूना]

३९ / जिसने स्वयं को जाना, वह आलोक से भर जाता है

प्यारी नीलम,

प्रेम। अधेरा है बहुत—निश्चय ही उदासी है।
मरघट-सी गहरी उदासी है।
लेकिन, उसका मूल-स्रोत स्वय का अज्ञान है।
जाना जिसने स्वय को, वह आलोक से भर जाता है।
नृत्य करते आनन्दमग्न उत्सव से भर जाता है।

रजनीश के प्रणाम

८-३-१९७१

[प्रति श्रीमती नीलम अमरजीत, लुधियाना, पजाब]

४० / एक-एक बूँद से सागर भर जाता है

प्यारी कुसुम,

प्रेम। यात्रा है अनत।

माना।

पर एक-एक बूँद से सागर भर जाता है।

यात्रा है कठिन।

माना।

पर मनुष्य के छोटे-से हृदय मे उठे सकल्प से हिमालय भी तो झुक जाता है!

रजनीश के प्रणाम

८-३-१९७१

[प्रति . श्रीमती कुसुम, लुधियाना]

४१ / मैं बौरी खोजन गयी, रही किनारे बैठ

प्रिय डॉक्टर,

प्रेम । काश ! इतना समय होता हाथो मे, जितना आप तट पर खडे-खड़े सोच कर गँवा रहे है ?

और, फिर समय भी बचे, लेकिन जरूरी कहाँ है **कि अवसर भी बचे ?**

कबीर की पक्ति है . **"मै बौरी खोजन गई, रही किनारे बैठ ।"**

इसे कठस्थ कर ले और यू ही फुरसत मे कभी-कभी दुहराते रहे !

"जिन खोजा तिन पाइयाँ, गहरे पानी पैठ ।

मै बौरी खोजन गई, रही किनारे बैठ ॥"

रजनीश के प्रणाम

८-३-१९७१

[प्रति डॉक्टर हेमन्त शुक्ल, जूनागढ]

४२ / अमृत-वर्षा की बाढ़

प्रिय आनंद विजय,

प्रेम। होती है जब प्रभु की वर्षा, तो ऐसी ही होती है।
सब द्वार-दरवाजे तोड़कर उसके अमृत की बाढ़ आ जाती है।
आनंद सम्हाले नही सम्हलता है।
सीमायें खो जाती हैं सब।
समझ-बूझ बह जाती है सब।
किनारो का कोई पता नहीं और मझधार ही किनारा हो जाती है!
यहां उबरना ही डूबना और डूबना ही उबरना है।
इसलिए, अब डूबो—भूलो सब और डूबो।

रजनीश के प्रणाम
८-३-१९७१

[प्रति : स्वामी आनद विजय, जबलपुर]

४३ / उतरो अब उस नासमझी में

प्रिय आनद विजय,

प्रेम। अब उस बिंदु पर हो, जहाँ बहुत कुछ होगा और समझ कुछ भी नही पड़ेगा।

समझ से छुट्टी का क्षण आ गया है।

और, मनुष्य की तथाकथित समझ नासमझी को भुलाये रखने के अतिरिक्त और क्या है ?

उतरो अब उस नासमझी में, जिसमें कि समझदार सदा ही उतरते रहे हैं !

रजनीश के प्रणाम

८-३-१९७१

[प्रति . स्वामी आनद विजय, जबलपुर]

४४ । स्वर्ग के भी पार होना है

मेरे प्रिय,

प्रेम । शुभ है कि अनुभव करते हो कि नरक से निकले और स्वर्ग में गये ।
ध्यान का यह पहला चरण है ।
अभी एक चरण और बाकी है ।
क्योंकि, स्वर्ग के भी पार होना है ।
और, निश्चय ही दूसरा चरण पहले से कठिन है ।
और, जिसने पहला नही उठाया, उसके लिए तो दूसरा असभव ही है ।
लेकिन, पहले के बाद दूसरे को उठाने की क्षमता भी आ जाती है ।
क्योकि, शीघ्र ही ज्ञात होता है कि सुख भी दुःख ही है और स्वर्ग भी नरक ही है ।
जजीरे लोहे की हो या सोने की, जजीरो के जजीर होने मे फर्क नही है ।

रजनीश के प्रणाम

९-३-१९७१

[प्रति श्री मदनलाल, अमृतसर]

४५ / समस्त आयामों में हो रहा—अनादि-अनंत संगीतोत्सव

प्यारी शिरीष,

प्रेम। शून्य में प्रवेश के पूर्व अति-सूक्ष्म शब्द की अनुभूति होती है।

वह शब्द अर्थातीत, पर अपूर्व शातिदायी होता है।

ध्वनि-तरंगें (Sound waves) अस्तित्व के सगठक विद्युत-कण-तरंगो (Quanta) के लयबद्ध नृत्य से फलित होती हैं।

अस्तित्व का परमाणु-परमाणु अनत नृत्य मे लीन है।

बाहर-भीतर-समस्त आयामो (Dimensions) मे अनादि-अनत संगीतोत्सव चल रहा है।

हम उलझे होते हैं व्यर्थ के दैनदिन शोरगुल में, इसलिए उस संगीत का साक्षात्कार नही हो पाता है।

ध्यान में—जो सदा है, उसकी पुनः प्रतीति प्रारंभ होती है।

उस द्वार के ही तू निकट है, इसीलिए अहर्निश नाद की वर्षा हो रही है।

उसमे ज्यादा-से-ज्यादा लीन हो—उसे ज्यादा-से-ज्यादा सुन और उसमे डूब।

यही मूल शब्द है।

यही बीज मत्र है।

यही वेद है।

और, उसके भी पार जो है, वही ब्रह्म है।

रजनीश के प्रणाम

१-३-१९७१

[प्रति : सौ० शिरीष पै (साध्वी योग शिरीष), बम्बई]

४६ / नया नाम—पुराने से तादात्म्य तोड़ने के लिए

प्रिय योग सम्बोधि,

प्रेम। नया दिया है नाम तुझे—नये व्यक्तित्व के जन्म के लिए।
पुराने से तादात्म्य टूटे—शृंखला विशृंखल हो—इसलिए।
अतराल पडे बीच मे—अलघ्य खाई निर्मित हो—इस आशा मे।
भूल जा जो थी—भूल जा उसे, जो स्वप्न की भाँति आया और जा चुका है।
और, स्मरण कर उसका, जो सदा है—सनातन और नित नवीन!
चिर नूतन को पहचान।
यद्यपि वही अनादि भी है।

रजनीश के प्रणाम

९-३-१९७१

[प्रति : मा योग सम्बोधि, जबलपुर]

४७ / निकट है तेरा नया जन्म

प्यारी मृणाल,

प्रेम। निश्चय ही तेरा नया जन्म निकट है।
तैयारी कर।
तिथि-तारीख सभी की तो घोषणा हो चुकी है!
मै तैयार हूँ कि शुभाशीष दूँ।
बस, तेरी तैयारी की ही देर है।

रजनीश के प्रणाम
९-३-१९७१

[प्रति . सौ० मृणाल जोशी, पूना]

४८ / संवादित प्रार्थना के स्वर

मेरे प्रिय,

प्रेम। अंगूर मिले।
मीठे थे बहुत—अगूरों की सामर्थ्य से बहुत ज्यादा।
क्योकि, रस उनमे पृथ्वी का ही नही, प्रार्थना का भी था।
और, अंगूर तो अब नही हैं—खो गये पृथ्वी मे पुनः।
पर, उनसे संवादित प्रार्थना के स्वर अभी भी हैं।
यही तो है मजा—दृश्य बन भी नही पाता और मिट भी जाता है।
और अदृश्य है कि कभी बनता ही नही और फिर भी मिटता नही है!

रजनीश के प्रणाम

९-३-१९७१

[प्रति : श्री जवाहर बोहरा, ओम निवास, मीवा पुरकर लेन, अमरावती म० प्र०]

४९ / समाधान—समाधि पर ही

प्रिय आनंद ब्रह्म,

प्रेम। मैं सभी प्रश्नो के उत्तर नही देता हूँ।

पहले तो सभी प्रश्न, प्रश्न ही नही होते हैं।

मात्र प्रश्न प्रतीत ही होते है।

दूसरे, कुतूहलो के समाधान के लिए, मेरे पास न समय है, न सुविधा है, न इच्छा है।

तीसरे, ऐसे प्रश्न भी हैं, जो वस्तुत: प्रश्न हैं और कुतूहल मात्र ही नही है, लेकिन जिनके समाधान समाधि के अतिरिक्त और कही नही हैं!

तुम्हे तो मैं निश्चय ही समाधि मे ले जाना चाहता हूँ।

उसी ओर श्रम करो।

शक्ति सीमित है—समय अल्प है—अवसर अमूल्य है।

इसे ऐसे ही न खो देना।

रजनीश के प्रणाम

१०-३-१९७१

[प्रति स्वामी आनन्द ब्रह्म, पूना]

५० / ध्यान से मन हो जाता है अनासक्त

प्रिय आनन्द ब्रह्म,

प्रेम। तुम्हारा ध्यान का अनुभव बहुत सांकेतिक है।

ध्यान गहराता है, तो ऐसा ही लगता है।

जैसे कि मन पारा है—है भी और छूता भी है। और फिर भी चिपकता नहीं है

इसे और साधो।

नये-नये द्वार खुलेंगे और नये-नये साक्षात् होंगे।

रजनीश के प्रणाम

१०-३-१९७१

[प्रति : स्वामी आनद ब्रह्म, पूना]

५१ / स्वानुभव ही श्रद्धा है

मेरे प्रिय,

प्रेम। अधकार गया और प्रकाश आने लगा न ?
काम-ऊर्जा (Sex energy) में भी रूपातरण शुरू हो गया न ?
और, थोड़े से ही ध्यान से !
ध्यान की शक्ति असीम है।
और, उसकी कीमिया का जादू अनत है।
और भी शक्ति लगाओ।
और भी सकल्प से आगे बढो।
और, अब तो श्रद्धा भी साथ देगी न ?
क्योंकि, स्वानुभव ही श्रद्धा है।

रजनीश के प्रणाम

१०-३-१९७१

[प्रति : श्री मदनलाल, अमृतसर]

५२ / संन्यासी जायेंगे——अमृत-संदेश बाँटने

प्यारी योग तरु,

प्रेम। निश्चय ही संदेश को उन सब तक पहुँचाना ही होगा, जो कि प्यासे है और प्रतीक्षा में है।

और, **बहुत हैं, जो कि प्यासे हैं और प्रतीक्षा में हैं।**

ऐसे ही जैसे कि चातक स्वाति-नक्षत्र की बाट जोहता है।

और, वे प्यासे लोग पृथ्वी के कोने-कोने मे है।

तुम्हे अमृत की खबर लेकर उन तक जाना होगा।

सब सीमाएँ तोड़कर——सब सरहदो के पार।

उस महाकार्य के लिए ही तो तुम संन्यासियों-संन्यासिनियो को निर्मित कर रहा हूँ।

मनुष्य की चेतना में एक बड़ी उत्क्रांति की घड़ी निकट है और मै उसकी ही पूर्व तैयारी मे लगा हूँ।

रजनीश के प्रणाम

१०-३-१९७१

[प्रति : मा योग तरु, बम्बई]

५५ / अतीत को टूटने दो--मिटने दो

प्यारी योग तरु,

प्रेम । जन्मों-जन्मों का सग्रह है भीतर ।

गहरी—अति गहरी अतीत की जडे है ।

लेकिन, वे टूट रही है और इसलिए तुझे टूटे-टूटे होने की प्रतीति होती है ।

इसमे भयभीत न होना ।

टूटने को पूरी तरह राजी रहना, क्योकि उस टूटने और मिटने से ही, जो मै चाहता हूँ, वह अकुरित होगा ।

मिटाये बिना कुछ भी तो नही बनता है ।

मृत्यु के बिना अमृत कहाँ है ?

रजनीश के प्रणाम

११-३-१९७१

[प्रति मा योग तरु, बम्बई]

५६ / काम-ऊर्जा के अन्तर्गमन का विधायक मार्ग

प्रिय योग समाधि,

प्रेम। सिद्ध के लिए स्त्री—पुरुष मे कोई भी भेद नही है।

पर, साधक के लिए है।

और, जितना कमजोर साधक हो उतना ही ज्यादा है।

भेद से अर्थ असमानता नही है—भेद से अर्थ है भिन्नता।

और, भिन्नता है, और प्रगाढ है।

जैविक अर्थ मे दोनों के बीच अलध्य खाई है।

और, वही दोनो के बीच आकर्षण का सेतु भी है।

प्रकृति भिन्नता से आकर्षण निर्मित करती है।

ऐसे आकर्षण का नाम ही काम (Sex) है।

काम मे जीवन-ऊर्जा (Life Energy) का बहिर्गमन होता है।

साधक इसी ऊर्जा को अन्तर्गमन मे नियोजित करता है।

लेकिन, यह दमन से नही होना चाहिये।

दमन विकृति बन जाता है।

ऊर्जा का अन्तर्गमन होना चाहिये विधायक (Positive)—**विधायक अर्थात् काम से लड़कर नहीं, वरन् राम को चाहकर।**

रजनीश के प्रणाम

११-३-१९७१

[प्रति मा योग समाधि, राजकोट]

५७ / मैं हूँ ही कहाँ—वही है

प्रिय धर्म रक्षिता,

प्रेम। पागल! मेरा तुझ पर कोई उपकार नही है—क्योंकि मैं ही कहाँ हूँ! उपकार है, तो सब प्रभु का।

इसलिए, **जब भी धन्यवाद दे, तो आकाश को धन्यवाद देना—निर्गुण को, निराकार को।**

अनुग्रह माने, तो उसका ही मानना—अनादि का, अनत का।

ध्यान रखना कि मुझे कभी भी तेरे और उसके बीच न लाना।

मैं हूँ भी नही।

क्या तुझे मै पारदर्शी (Transparent) नही दिखाई पडता हूँ?

रजनीश के प्रणाम

११-३-१९७१

[प्रति मा धर्म रक्षिता, मलाड, बम्बई-६४]

५८ / तैयारी—भविष्य के लिए

प्यारी योग तरु,

प्रेम। तुम्हारे आँसुओ को मै भलीभाँति समझता हूँ।
वे अतीत को पोछ जायेगे और भविष्य को जन्म देंगे।
वे सूखे पत्तो को बहा ले जावेगे और नये पत्तो को शक्ति देगे।
तुम्हारी साधना और तैयारी का यह अनिवार्य चरण है।
बहुत कुछ होने को है—उसके पूर्व अतीत से निर्भार होना है।
और, भविष्य के लिए तैयार भी।
भविष्य अनजान-अपरिचित मार्गों पर ले जायेगा।
अनजान-अपरिचित मित्रो मे।
अनजान-अपरिचित कार्यों मे।
और, **तुम्हारी तैयारी पूरी होते ही मेरा आदेश मिल जायेगा।**

रजनीश के प्रणाम
११-३-१९७१

[प्रति · मा योग तरु, बम्बई]

५९ / पदार्थ परमात्मा की देह है

मेरे प्रिय,

प्रेम । **धर्म वासना के विरोध में नहीं है ।**

धर्म वासना के **रूपांतरण के पक्ष में है ।**

जीवन-ऊर्जा (Elan vital) पदार्थ की ओर बहे, तो वासना है और वही जीवन-ऊर्जा पदार्थ का अतिक्रमण करके बहने लगे, तो निर्वासना है ।

पदार्थ का अतिक्रमण (Transcendence) **ही परमात्मा की अनुभूति है ।**

पदार्थ परमात्मा का रूप है, गुण है ।

परमात्मा पदार्थ मे जो अरूप है, निर्गुण है, उसका ही नाम है ।

पदार्थ परमात्मा की देह है ।

परमात्मा पदार्थ की आत्मा है ।

रजनीश के प्रणाम

११-३-१९७१

[प्रति : **श्री** सुभाषचन्द्र पान्डे, सतना, म० प्र०]

६० / गूँगे का गुड़

मेरे प्रिय,

प्रेम। नही, वर्णन नही कर सकोगे उसका, जो कि अनुभव के क्षितिज पर ऊगना प्रारभ हुआ है।

क्योकि, सब शब्द ज्ञात है।

और, जो उतर रहा है, प्राणो के गहरे मे, वह नितात अज्ञात है।

उसकी प्रत्यभिज्ञा (Recognition) भी तो नही होती है।

जिसे पूर्व कभी जाना ही नही, उसे पहचानोगे कैसे ?

और, मजा तो यह है कि वह अपूर्व-ज्ञात सदा-सदैव का जाना हुआ ही अनुभवित होता है !

यही है रहस्य—यही है पहेली, जो कि दो और दो चार की भाँति सीधी और साफ और सुलझी हुई भी है !

पर अनुभव (Experience) मे जो सुलझी-सुलझाई बात है, शब्दो मे—अभिव्यक्ति मे उसी की उलझन का कोई अंत ही नही है।

इसलिए, शब्दो मे पडो ही मत।

जानो और जियो।

खाओ और खून बनाओ।

पियो और पचाओ।

और, जब मन हो कहने का, तो पहले कुछ और कहने के कहो : **"गूँगे का गुड"** !

और फिर, पहले गुड का स्वाद लो और बने तो फिर चुप ही रहो।

रजनीश के प्रणाम

११-३-१९७१

[प्रति श्री मदनलाल, मेसर्स, अरविनचंद एड कं०, क्लाक हावर, अमृतसर, पजाब]

६१ / कूदो---असुरक्षा में, अज्ञात में, अज्ञेय में

प्रिय दिनेश भारती,

प्रेम। जीवन है गति---सतत गति।

कुछ भी ठहरा हुआ नही है---सब प्रवाह है।

इसे बुद्धि से समझना हो, तो किनारे बैठो और अध्ययन करो।

यद्यपि, जो भी इस भाँति समझोगे, वह जीवन की समझ नही, वरन् बुद्धि की मृत धारणा ही होगी।

क्योकि, बुद्धि केवल मृत और ठहरे हुए चित्र ही दे सकती है और वे भी सदा तिथि-बाह्य (Out of date)---क्योकि जीवन तब तक आगे निकल चुका होता है।

तट पर बैठना हो, तो जीवित फूलो का नही, बल्कि केवल सूखी पखडियो का ही संकलन हो सकता है।

जीवन की राख लग सकती है हाथ---**जीवन की अग्नि का दर्शन** नही होता है।

जीवन से ही मिलना है, तो कूदो धारा मे।

असुरक्षा मे।

अज्ञात मे।

अज्ञेय मे।

तट पर बैठे रहना बिना पानी के ही डूबना है।

रजनीश के प्रणाम

११-३-१९७१

[प्रति स्वामी दिनेश भारती, १७७।४, रेज हिल्स, खिड़की, पूना-२०]

६२ / अज्ञेय (Unknowable) से मिलन

प्रिय दिनेश भारती,

प्रेम। जीवन को कौन समझ सका है ?

समझ की वहाँ सामर्थ्य ही नही है।

जियो—समग्रता मे जियो—जीवन को जीना ही उसे जानना है।

फिर भी जो जान लिया, वह व्यर्थ हो जाता है, क्योंकि जीवन तो सदा अनजाने मे है।

और, अनजाना कभी चुकता नही है।

वरन्, जितना जानो, वह उतना ही बढा हुआ प्रतीत होता है।

ज्ञान, और अज्ञान को ही उघाड़ता है।

ज्ञात (known), और अज्ञात (unknown) के लिए द्वार से ज्यादा नहीं है।

और, अज्ञात (unknown) मे एक दिन अतत उससे भी मिलन होता है, जो कि अज्ञेय (unknowable) है।

वह अज्ञेय ही जीवन है—अस्तित्व है या परमात्मा है।

रजनीश के प्रणाम

११-३-१९७१

[प्रति : स्वामी दिनेश भारती, खिड़की, पूना]

६३ / सीखने के लिए मन को सदा खुला रखो

प्रिय प्रेम चैतन्य,

प्रेम। सीखने को जो तैयार है, वही शिष्य है।

शिष्यत्व कोई औपचारिकता नही है।

हृदय का भाव है वह।

और, स्वय पर ही निर्भर है।

गुरु से तो पूछने की भी आवश्यकता नही है।

इसीलिए तो मैं कहता हूँ कि **आध्यात्मिक जीवन में शिष्य ही होते हैं, गुरु नहीं!**

सीखो—और सदा सीखते रहो।

सीखने के लिए मन को सदा खुला रखो।

और, मेरे प्रति ही नहीं—सबके प्रति।

शिष्यत्व बंधन नहीं है और जहाँ बंधन है, वहाँ विष है।

रजनीश के प्रणाम

११-३-१९७१

[प्रति . स्वामी प्रेम चैतन्य, १०१, शिवाजीनगर, नागदेव, पूना-५]

६४ / गुरु सोये हुए ज्ञान को जगाने में निमित्त मात्र है

प्रिय प्रेम चैतन्य,

प्रेम। ज्ञान भीतर है—स्वयं मे है।

गुरु ज्ञान नही देता—केवल सोये ज्ञान को जगाने मे निमित्त मात्र ही हो सकता है।

और, वह भी तभी, जब शिष्य तैयार हो।

शिष्य की तैयारी का अर्थ है—**समर्पण**।

या, अहंकार विसर्जन।

और **साहस**।

अर्थात्, **अज्ञात में छलांग लेने की तत्परता**।

रजनीश के प्रणाम

१२-३-१९७१

[प्रति : स्वामी प्रेम चैतन्य, पूना]

६५ / गैरिक वस्त्र साधक के लिए मंगलदायी

प्रिय दिनेश भारती,

प्रेम । **जब तक शरीर-भाव आमूल तिरोहित नहीं होता है, तब तक वस्त्रों का भी मूल्य है ।**

गैरिक वस्त्र उस रग के निकटतम है, जो कि शरीर-भाव से अशरीरी-भाव मे प्रवेश करते समय प्रगट होता है ।

उनकी उपस्थिति साधक के लिए **मगलदायी** है ।

रग, ध्वनि, गध--सभी का चित्त दशाओ से सबध है ।

प्रत्येक का आघात भिन्न है और भिन्न तरग-जालो का स्रोत है ।

अस्तित्व मे जो क्षुद्रतम प्रतीत होता है, वह भी विराटतम से अनत रूपो मे सम्बद्ध है ।

पदार्थ-परमाणु (Atom) में विज्ञान ने अनत ऊर्जा का उद्घाटन किया है ।

वह सभी आयामो मे सत्य है ।

रजनीश के प्रणाम

१२-३-१९७१

[प्रति स्वामी दिनेश भारती पूना-२०]

६६ / अचेतन मन का पलायन--मृत्यु से बचने के लिए

प्रिय दिनेश भारती,

प्रेम। कुडलिनी-योग से ही तुम्हारे लिए मार्ग मिलेगा।

बचाव न खोजो--उपाय खोजो।

व्यक्ति व्यक्ति के लिए भिन्न-भिन्न मार्ग उपयोगी होते हैं।

और **मजा तो यह है कि अकसर ही जो व्यक्ति जिस मार्ग से बचना चाहता है, वही मार्ग उसके लिए होता है।**

शायद, अचेतन मन (Unconscious mind) स्वय की मृत्यु से बचने के लिए पलायन खोजने लगता है!

रजनीश के प्रणाम

१२-३-१९७१

[प्रति स्वामी दिनेश भारती, खिडकी, पूना]

६७ / साहस को जगाओ—सक्रिय करो

मेरे प्रिय,

प्रेम । साहस बीज की भाँति प्रत्येक मे छिपा है ।

कायर से कायर मे भी ।

कायर मे भी साहस का अभाव नही है ।

बस—इतना ही कि कायर साहस को सक्रिय नही कर पाया है ।

साहस के बिना तो जीवन ही असभव है ।

एक श्वास लेना भी सभव नही है ।

एक पल होना भी कम साहस नही है ।

पर, यह निष्क्रिय साहस या अचेतन साहस से ही हो जाता है ।

इतना आवश्यक है—पर पर्याप्त नही ।

इसमे जीवन एक टिमटिमाती मोमबत्ती की भाँति जल तो लेता है, लेकिन आनद को जगमगाती मशाल नही बन पाता है ।

मोमबत्ती को मशाल बना लेना ही धर्म है ।

साहस का एक भी अवसर न चूको ।

सक्रिय होने से ही वह क्रमश नये सोपानो पर गतिमान होता है ।

रजनीश के प्रणाम

१२-३-१९७१

[प्रति श्री सुभाषचन्द्र पान्डे, द्वारा-श्री लक्ष्मीदत्त पान्डे, सिविल लाइन्स, पन्नारोड, अपोजिट गवर्नमेंट एग्रीकल्चर इजीनियरिग वर्कशाप, सतना (म० प्र०)]

६८ / नव-संन्यास आन्दोलन का महत् कार्य

प्यारी योग तरु,

प्रेम। निश्चय ही जो मुझे कहना है, वह कहा नही जा सकता है।

और जो कहा जा सकता है, वह मुझे कहना नही है।

इसलिए ही तो इशारों मे कहता हूँ—शब्दों के बीच छोड़े अतरालो से कहता हूँ।

विरोधाभासो (Paradoxes) से कहता हूँ या कभी न कहकर भी कहता हूँ।

धीरे-धीरे इन सकेतो को समझने वाले भी तैयार होते जा रहे है और न समझने वाले दूर हटते जा रहे है—इससे काम मे बडी सुविधा होगी।

नव-संन्यास आंदोलन से इन संकेतों के बीज पृथ्वी के कोने-कोने तक पहुँचा देने हे।

और, हजार फेंके गये बीजो मे यदि एक भी अकुरित हो जाये, तो यह रिकार्ड तोड सफलता है!

रजनीश के प्रणाम

१२-३-१९७१

[प्रति . मा योग तरु, बम्बई]

६९ / शब्दों की मूर्च्छा और विचारों का सम्मोहन

मेरे प्रिय,

प्रेम । अनंत के चिन्तन में कुछ भी सार नहीं है ।
क्योंकि, अनंत का चिन्तन नहीं हो सकता है ।
चिन्तन सदा ही सीमा है और सीमा में है ।
चिन्तन को विदा करो, तो ही असीम आमंत्रित होता है ।
सोचो नहीं—जागो ।
सोचना भी स्वप्न है ओर निद्रा है ।
शब्दों की अपनी मूर्च्छा है और विचारों का अपना सम्मोहन है ।
शब्द से निःशब्द में सरको ।
पार करो विचारों को और निर्विचार में उतरो ।
मन है परिभाषा और सत्य है अपरिभाष्य ।
इसलिए, मन का और सत्य का कहीं भी मिलन नहीं है ।
जहाँ तक मन है, वहाँ तक सत्य नहीं है ।
और, जहाँ मन नहीं है, वहीं सत्य है ।

रजनीश के प्रणाम
१२-३-१९७१

[प्रति : श्री श्रीकान्त नारायण लगड, सिद्धार्थ विद्यालय, सगमनेर, जिला अहमदनगर, महाराष्ट्र]

७० / आकाश में छलाँग—खिड़कियों से निकलकर

मेरे प्रिय,

प्रेम। आकाश को खिडकियो से मत देखो।

क्योकि, खिडकियाँ असीम आकाश को भी सीमाएँ दे देती है।

और, सत्य को शब्दो से नही।

क्योकि, शब्द निराकार को आकार दे देते है।

आकाश को जानना है, तो खुले आकाश के नीचे आ जाओ।

अपनी-अपनी खिडकियो को छलाँगकर।

और, सत्य को जानना हो, तो नि शब्द मे लीन हो जाओ।

अपने-अपने शब्दों को त्यागकर।

और, सोचो मत—करो और देखो।

क्योकि, सोचने मात्र से खिड़कियों से छलाँग नहीं लगती है और न ही शब्दो का ही अतिक्रमण होता है।

रजनीश के प्रणाम

१२-३-१९७१

[प्रति श्री श्रीकान्त नारायण लग्गड़, सगमनेर]

७१ / सहायता—देशातीत व कालातीत की

प्रिय विजय मूर्ति,

प्रेम। मैं यात्रा करूँ या न करूँ—बोलूँ या न बोलूँ, इससे कोई भी भेद नहीं पडेगा, उनके लिए जो कि मेरे साथ चलने को तैयार हैं।

उनके लिए रुके हुए भी मेरी यात्रा जारी रहेगी और मौन में भी मैं बोलता ही रहूँगा।

शरीर भी मेरा निराकार मे खो जाये, तो भी मेरे हाथों का सहारा उन्हे मिलता रहेगा।

और, आज ही नही—कभी भी, काल के अनत प्रवाह मे मै उन्हे मार्ग दूँगा।

क्योकि, अब मै नही हूँ—वरन् स्वयं प्रभु ही मेरी बांसुरी से गीत गा रहा है।

जिनके पास आँखे हो—वे देख ले।

जिनके पास कान हो—वे सुन ले।

और, जिनके पास प्रज्ञा हो—वे पहचान ले।

रजनीश के प्रणाम

१२-३-१९७१

[प्रति स्वामी विजय मूर्ति, १७५९, लक्ष्मी रोड, दूसरा फ्लोर, पूना–२]

५७२ / चाह है जहाँ—वहाँ राह भी है

मेरे प्रिय,

प्रेम। आश्वस्त रहो, मार्ग मिल जायेगा।

चाह है जहाँ—वहाँ राह भी है।

और, संकल्प है जहाँ—वहाँ सफलता भी।

द्वार बंद नहीं है प्रभु का।

तुम्हीं आँखे बंद किये हो।

बड़ी युक्ति से स्वयं ही अंधेरे में हो—जबकि अस्तित्व आलोक है!

डरे-डरे, दूर-दूर न रहो।

आओ! पास आओ—ताकि मैं तुम्हारी बंद आँखों को खुलने का साहस दे सकूँ।

रजनीश के प्रणाम

१२-३-१९७१

[प्रति श्री चंपक लालजे सोलंकी, ब्रह्मचारी चाल, गुफारोड, जोगेश्वरी (पूर्व), बंबई-६०]

७३ / स्वयं को बचाने में ही अज्ञान है

प्रिय आनद नारायण,

प्रेम। दुख है, तो प्रभु स्मरण।
सुख है, तो प्रभु स्मरण।
सब प्रभु को समर्पित करो।
स्वय को जरा भी अलग न बचाओ।
उस बचाव मे ही अज्ञान है।

रजनीश के प्रणाम

१२-३-१९७१

[प्रति स्वामी आनद नारायण, मु० निगडी, पो० चिंचवड़, पूना]

७४ / ध्यान—अशरीरी भाव—और ब्रह्म-भाव

मेरे प्रिय,

प्रेम। ध्यान मे शरीर-भाव खोयेगा।
अशरीरी दशा निर्मित होगी।
शून्य का अवतरण होगा।
इससे भय न लें—वरन् प्रसन्न हों, आनदित हों।
क्योकि, यह बड़ी उपलब्धि है।
धीरे-धीरे ध्यान के बाहर भी अशरीरी-भाव फैलेगा और प्रतिष्ठित होगा।
यह आधा काम है।
शेष आधे मे ब्रह्म-भाव का जन्म होता है।
पूर्वार्ध है—अशरीरी-भाव।
उत्तरार्द्ध है—ब्रह्म-भाव।
और श्रम मे लगे।
स्रोत बहुत निकट है।
और सकल्प करे।
विस्फोट शीघ्र ही होगा।
और समर्पण करे।
और, स्मरण रखे कि मै सदा साथ हूँ, क्योकि अब बड़ा निर्जन पथ सामने हैं।
मजिल के निकट ही मार्ग सर्वाधिक कठिन होता है।
सुबह के करीब ही रात और गहरी हो जाती है।

रजनीश के प्रणाम

१२-३-१९७१

[प्रति : श्री नटवरसिंह, पोस्ट-सीधावार, खेरवा, सौराष्ट्र]

७५ / ध्यान के बिना ब्रह्मचर्य असंभव

प्रिय धर्म रक्षिता,

प्रेम । निश्चय ही **ब्रह्मचर्य** इतना ही सरल है—लेकिन ध्यान के बाद ।

ध्यान के पूर्व कठिन ही नहीं, असंभव ही है ।

पर, जाने बिना जानती कैसे ?

और, जाने बिना मानती कैसे ?

रजनीश के प्रणाम

१२-३-१९७१

[प्रति · मा धर्म रक्षिता, मलाड, बम्बई-६४]

७६ / यात्राएँ—सूक्ष्म शरीर से

मेरे प्रिय,

प्रेम। जो जाना, वह सत्य है।

मैं आता हूँ।

तुम्हे जब भी मेरी जरूरत है—मैं आता हूँ।

स्थूल शरीर की यात्राएँ बंद कर रहा हूँ, ताकि सूक्ष्म शरीर की यात्राओं पर ज्यादा ध्यान दे सकूँ।

अज्ञात से—आकाश से तुम्हारे सिर पर उतरे हाथ मेरे ही थे और जिस आकृति को अचानक तुमने प्रत्यक्ष बनते और विलीन होते देखा, वह मेरी ही थी।

ऐसा अब जब भी हो, तब तत्काल गहरे ध्यान मे चले जाना।

क्योंकि, तब तुम और भी बहुत कुछ जान, देख और समझ पाओगे।

रजनीश के प्रणाम

१३-३-१९७१

[प्रति · श्री आर० एन० ऐरन (स्वामी चैतन्य बोधिसत्व), ६, गणेश सोसायटी, शाहपुर दरवाजा के सामने, अहमदाबाद]

७७ / अहंकार को समझो

मेरे प्रिय,

प्रेम । अहकार के मिटाने मे पड़े कि उलझे ।
क्योंकि, जो नहीं है, वह मिटाया कैसे जा सकता है ?
इसलिए, मिटाओ नही—समझो ।
अहंकार को खोजो—अहकार को पहचानो ।
लड़ो नही उससे—उसका साक्षात्कार करो ।
उसका ज्ञान ही उससे मुक्ति है ।
क्योंकि, जो खोजता है उसे, वह उसे नहीं पाता है ।

रजनीश के प्रणाम
१३-३-१९७१

[प्रति : श्री श्रीकान्त नारायण लग्गड, सगमनेर]

७८ / संन्यास के संस्कार—पिछले जन्मों के

मेरे प्रिय,

प्रेम। तुम्हारा यह लगना ठीक ही है कि जैसे मैं चौबीस घंटे तुम्हारे साथ हूँ।
हूँ ही।

बदलना है तुम्हें।

नया जन्म देना है तुम्हे।

तो तुम्हारा पीछा करना ही पड़ेगा न ?

प्रभु के सैनिक तो तुम हो ही—बस, वर्दी पहनकर पंक्ति मे खड़े भर हो जाने की देर है।

और, वह भी शीघ्र ही हो जायेगा।

तुम्हारी नियति की रेखाये बहुत साफ हैं और तुम्हारे संबंध में आश्वासनपूर्वक भविष्यवाणी की जा सकती है।

विगत दो जन्मो के तुम्हारे संस्कार भी सन्यासी के है—**तुम्हारी हड्डियाँ, तुम्हारे मांस, तुम्हारी मज्जा में फकीरी की गहरी छाप है।**

अब जो बीज है, उसे वृक्ष बनाना है और जो संभावना है, उसे सत्य करना है।

और, मैं एक माली की भाँति तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहा हूँ।

रजनीश के प्रणाम

१३-३-१९७१

[प्रति . श्री रत्नेश अग्रवाल (स्वामी आनन्द निर्गुण), हॉस्टल बी०।३७ गवर्नमेंट कॉलेज ऑफ इंजीनियरिंग, रायपुर, म० प्र०]

७९ / बंधन स्वयं का निर्माण है

मेरे प्रिय,

प्रेम । बधनो से हो जायेगी मुक्ति—सरलता से ।
क्योकि, बधन स्वय से ही निर्मित है ।
अन्य कोई नही बाँध रहा है तुम्हे ।
समस्त कारागृह आत्मा के स्वय के ही श्रम है !
न करो निर्मित उन्हे और तुम मुक्त हो ।

रजनीश के प्रणाम

१३-३-१९७१

[प्रति श्री शकर लाल बी० रामी, जवेरीवाड-डीलक्स गारमेंट्स, रतनपोल, अहमदाबाद]

८९ / बढ़ो और मिटो—यही मेरी कामना है

मेरे प्रिय,

प्रेम। स्वीकार—सर्व-स्वीकार में जीना और बहना ही आस्तिकता है।
और अंतत, स्वय को शून्य मे खो देना ही संन्यास।
जानता हूँ की सतत उसी दिशा मे तुम्हारी यात्रा है।
आस्था से, आनन्द से भरे उसी ओर बहती हुई तुम्हारी जीवन-धारा है।
सागर की पुकार भी रोज बढ़ती जाती है और तुम्हारी प्रवाह-गति भी।
शीघ्र ही होगा मिलन।
मिलन अर्थात् विसर्जन।
सरिता का सागर मे खो जाना।
लेकिन, वही सरिता का सागर हो जाना भी है।
बढो और मिटो—यही मेरी प्रेरणा है।
बढो और मिटो—यही मेरी कामना है।
बढो और मिटो—यही मेरी प्रार्थना है।

रजनीश के प्रणाम

१३-३-१९७१

[प्रति डॉ० बी० सी० भट्टाचार्य, बी० ए०, एम० एच० एम०, निवास ए-१५, एच० ए० कालोनी, पिम्परी, पूना-१८]

८१ / जो खाली हैं—वे भर दिये जाते हैं

प्यारी उर्मिला,

प्रेम। निश्चय ही जो खाली हैं, वे भर दिये जाते हैं।

यही शाश्वत नियम है।

जो हारे ही हुए हैं, उनकी विजय सुनिश्चित है।

यही शाश्वत नियम है।

मृत्यु के लिए जो स्वागत से राजी हैं, वे अमृत को उपलब्ध हो जाते हैं।

यही शाश्वत नियम है।

इस नियम को सदा ध्यान में रखना—सदा स्मरण; क्योंकि इससे बहुमूल्य और कोई नियम नहीं है।

रजनीश के प्रणाम

१२-३-१९७१

[प्रति सुश्री उर्मिला, ओम इंजीनियरिंग कंपनी, कूड़ाघाट, गोरखपुर]

८२/ मेरा भरोसा रख

प्यारी पुष्पा,

प्रेम। प्रभु के द्वार तक पहुँचाये विना हाथ नही छोड़ूँगा।

भरोसा रख।

मै हाथ छोडने के लिए पकडता ही नही हूँ।

और, कभी यदि छोड़ता हुआ लगता भी हूँ, तो सिर्फ और जोर से पकड़ने के लिए।

रजनीश के प्रणाम

१३-३-१९७१

[प्रति · श्रीमती पुष्पाजी, मकान न० एन० के० १८१, चरणजीतपुरा, जाल्धर, पजाब]

८३. अहंकार की अतिशय उपस्थिति

प्यारी मौनू,

प्रेम। आँखों के सामने है मार्ग—और दिखायी नही पड़ता है।

कानों के पास है पुकार—और सुनाई नही पडती है।

लेकिन क्यो ?

क्योंकि, देखने वाला देखने के लिए अति-आग्रहशील है और इसलिए आँखें खुल नहीं पाती है।

और, सुनने वाला स्वय मे इतना केंद्रित है कि कान बहरे हो जाते है।

●

एक सद्गुरु से पूछता है कोई **"मार्ग कहाँ है ?"**

कहा गया उससे **"ठीक आँखों के सामने !"**

लेकिन पूछा उसने पुन "फिर मुझे दिखाई क्यो नही पडता ?"

कहा गया · "क्योंकि तुम अतिशय हो—अत्यधिक हो इसलिए (Because you are too much)।

पर वह माना नही और बोला · "आपके सबध मे पूछना चाहता हूँ—क्या आपको दिखाई पडता है वह ?"

उत्तर आया "आह ! जब तक देखोगे दो को—'मैं' और 'तू' को—तब तक आँखो मे धुआँ है !"

पर नहीं—वह फिर भी नही माना और बोला . "क्या जब न 'मै' है, न 'तू' है, तब वह दिखाई पड़ेगा ?"

प्रत्युत्तर मे मौन रहा बड़ी देर और फिर कहा गया **"पागल ! जब न 'मैं' है, न 'तू', तब उसे देखना ही कौन चाहता है ?"**

रजनीश के प्रणाम

१४-३-१९७१

[प्रति मा योग क्राति, जबलपुर]

८४ / ज्ञानोपलब्धि और अज्ञेय जीवन

प्यारी मौनू,

प्रेम। **ज्ञानियों से बड़े अज्ञानी नहीं हैं; क्योंकि, जीवन अज्ञेय है।**

ज्ञान असंभव है; क्योंकि, जीवन रहस्य है।

और, फिर भी, मैं कहता हूँ कि जो सत्य की इस अज्ञेयता को समझ लेता है वह अज्ञान से मुक्त हो जाता है!

या ज्ञान को उपलब्ध हो जाता है।

और, मैं ये दोनो ही विरोधी भासने वाली बाते एक ही साथ कहता हूँ, क्योंकि जीवन रहस्य है!

एक झेन फकीर से किसी ने पूछा : "मैं सत्य को खोज रहा हूँ। मन की किस अवस्था के लिए मैं स्वय को तैयार करूँ कि सत्य को पा सकू।"

फकीर ने कहा **"मन है कहाँ?** इसलिए तुम उसे किसी भी अवस्था मे कैसे रख सकते हो? और रहा सत्य—सो सत्य कही भी नही है, इसलिये उसे खोजोगे कैसे?"

स्वभावत. उस व्यक्ति ने कहा . "जब मन ही नही है, तो तुम्हारे ये शिष्य किसका अभ्यास कर रहे हैं? और जब सत्य ही नही है, तो इतने साधको को क्या खोजने के लिए तुमने अपने आसपास इकट्ठा कर रखा है?"

फकीर ने सुना और कहा "लेकिन यहाँ तो इच-भर की भी जगह कहाँ है, जो मैं साधको को इकट्ठा कर सकूं? और मैं तो कभी बोला ही नही, सो शिष्यो को शिक्षा कैसे दे सकता हूँ?

चकित और क्रुद्ध हो उस व्यक्ति ने कहा . "महाशय! झूठ की भी हद होती है?"

फकीर हँसा और बोला "लेकिन जब मैं आज तक बोला ही नही, तो झूठ कैसे बोल सकता हूँ?'

फकीर की हँसी ने उस व्यक्ति को कुछ होश दिया, तो उसने उदास हो कहा : "मैं आपका अनुसरण नही कर पा रहा हूँ—मैं आपको समझ नही पा रहा हूँ!"

फकीर खिलखिलाकर देर तक हँसता रहा और फिर बोला : **"मैं स्वयं ही स्वयं को कहाँ समझ पाता हूँ!"**

रजनीश के प्रणाम

१४-३-१९७१

[प्रति : मा योग क्राति, जबलपुर]

८५ / बूंद-बूंद सुखों में—परमात्मा का विस्मरण

प्यारी मौनू,

प्रेम ! बुद्ध अकसर कहते थे एक कथा।

वह मनुष्य की ही कथा है।

वह कथा पूरे संसार की ही कथा है।

कहते थे वे : एक यात्री किसी पर्वतीय निर्जन में पीछा करते एक पागल हाथी से बचने को भाग रहा है।

निश्चय ही जीवन और मृत्यु का सवाल है—उसके लिए और वह पूरी शक्ति लगाकर दौडता है और पहुँच जाता है, एक ऐसी चट्टान के निकट, जिसके आगे कि भयकर गड्ढा है और जिस पर कि मार्ग भी समाप्त होता है और पीछे लौटना सभव नही है, क्योंकि हाथी अभी भी पीछे चला आ रहा है।

मरता क्या न करता !

वह कोई और उपाय न देख एक लता को पकड़कर खाई में लटक जाता है।

लता कमजोर है और किसी भी क्षण टूट सकती है।

वह नीचे झुककर खाई में देखता है तो एक सिंह मुह बाये खड़ा है।

और, हाथी ऊपर चिघाड रहा है।

और तभी वह देखता है कि दो चूहे लता की जड़ों को कुतर रहे हैं—**दिन और रात की भाँति**, एक उनमें सफेद है और एक काला है !

उन चूहों की गति तेज है और साफ है कि वे शीघ्र ही अपना कार्य पूरा कर लेंगे।

मौत अब जैसे सुनिश्चित है—आह ! लेकिन तभी चट्टान के किनारे खड़े एक वृक्ष पर एक मधुछत्ता दिखायी पडता है।

उस मधुछत्ते से **बूंद-बूंद मधु** ठीक उसके ऊपर ही टपक रहा है।

जैसे बूंद-बूंद सुख।

वह मुँह खोलकर मधु की बूंद का स्वाद लेता है।

कितना मधुर है मधु।

कैसी मिठास है मधु मे।

और मधु-मिठास के उस स्वाद-क्षण में मौत का **साकार** रूप वह पागल हाथी बिल्कुल ही **भूल जाता है**—उसको चट्टानों को कपाती **चिघाड़े भी सुनायी नहीं पड़ती हैं और नहीं स्मृति रहती है**—नीचे मुँह बाये खड़े सिंह की और एकमात्र सहारे को काटते हुए चूहे भी खो जाते हैं।

सत्य जैसे खो जाता है स्वप्न में।
ऐसा ही संसार है।
ऐसा ही ससार है।
ऐसा ही ससार है!

रजनीश के प्रणाम
१५-३-१९७१

प्रति : मा योग क्रांति, जबलपुर

८६०/ सत्य का द्वार शास्त्र नहीं—समाधि है

प्यारी मौनू,

प्रेम ! एक जीर्ण-शीर्ण मदिर के बाहर वटवृक्ष की छाया में बैठा है फकीर दोकुआन (Dokuon)।

सूरज ढलने को है।

पक्षी अपनी नीडो मे लौट रहे है।

एक युवक यामाओका (Yamaoka) दोकुआन से कह रहा है "न कोई गुरु है, न कोई शिष्य—क्योकि सत्य न दिया जा सकता है, न लिया। और जो हम सोचते है और अनुभव करते है कि यथार्थ है, वह सब अयथार्थ है—माया है। संसार शून्य के अतिरिक्त और कुछ भी नही है और जो भी प्रतीत होता है कि 'है' वह सब स्वप्नवत् है।"

निश्चय ही वह युवक ज्ञान की बाते बोल रहा है !

निश्चय ही शास्त्रों से वह परिचित मालूम होता है !

और, दोकुआन है कि चुपचाप अपना हुक्का गुड़गुड़ा रहा है।

वह सुनता रहता है, बिना कुछ बोले और फिर अचानक हुक्का उठाकर उस युवक के सिर पर मार देता है।

यामाओका घबडाकर खड़ा हो जाता है।

उसकी आँखे क्रोध से भर जाती है।

दोकुआन हँसता रहता है और अतत सिर्फ इतना ही बोलता है **"जब इनमें से किसी भी वस्तु का कोई अस्तित्व नहीं है और सभी कुछ शून्य है, तब तुम्हारा क्रोध कहाँ से जन्म रहा है ? इसके संबंध मे सोचो।** (Since none of these things really exist and all is emptiness where does your anger come from ? Think about it !)"

काश ! ज्ञान की वार्ता से ज्ञान हो सकता और शास्त्र-शब्द सत्य बन सकते, तो जीवन मे फिर कोई उलझाव ही क्या था ?

पर, ज्ञान की बाते केवल अज्ञान को छिपाती है और शास्त्रो के शब्द अज्ञान के ओठो पर असत्य से भी असत्य हो जाते है।

सत्य को जानना कठिन तपश्चर्या है, क्योकि सत्य का द्वार अध्ययन नही, अनुभूति है—शास्त्र नही, समाधि है।

रजनीश के प्रणाम

१६-३-१९७१

[प्रति मा योग क्रांति, जबलपुर]

प्यारी मौनू,

प्रेम ! झेन फकीर एक प्यारी कहानी कहते है ।
कहते हैं वे कि एक वृद्ध स्त्री थी—बुद्ध के समय मे ।
बुद्ध के ही गाँव मे जन्मी ।
बुद्ध के ही जन्म दिन पर जन्मी ।
लेकिन, वह सदा ही बुद्ध के सामने आने मे डरती रही ।
तभी से, जबकि वह छोटी-सी थी ।
युवा हो गयी, फिर भी डरती ही रही ।
और, वृद्ध हो गयी—फिर भी ।
लोग उसे समझाते भी कि बुद्ध परम पवित्र है ।
साधु हैं—सिद्ध हैं ।
उनसे भय का कोई भी कारण नहीं है ।
उनका दर्शन मगलदायी है—वरदान स्वरूप है ।
लेकिन, उस वृद्धा की कुछ भी समझ मे न आता ।
यदि, कभी भूल से वह बुद्ध की राह मे पड भी जाती, तो भाग खड़ी होती ।
अव्वल तो बुद्ध गाँव मे होते, तो वह किसी और गाँव चली जाती ।
लेकिन, एक दिन कुछ भूल हो गयी ।
वह कुछ अपनी धुन मे डूबी राह मे गुजरती थी कि अचानक बुद्ध सामने पड गये ।
भागने का समय ही न मिला ।

और फिर, वह बुद्ध को सामने ही पा इतनी भयभीत हो गयी कि पैरो ने भागने से जवाब ही दे दिया ।

उसे तो लगा कि जैसे उसकी मृत्यु ही सामने आ गयी है ।
भाग तो वह न सकी, पर आँखे उसने जरूर ही बद कर ली ।
पर, यह क्या—बद आँखो मे भी बुद्ध दिखाई ही पड रहे है ।
और, गैरिक वस्त्रों में स्वर्ण-सा दीप्त उनका चेहरा सामने है
उसने दोनो हाथो से आँखे ढँक ली ।
पर, आश्चर्यों का आश्चर्य ही उस क्षण घटित होने लगा !
जितना ही करती है वह बद आँखो को, बुद्ध उतने ही सुस्पष्ट प्रगट होते है !

आह ! जितना ही ढंकती है वह आँखों को, बुद्ध उतने ही भीतर आ गये मालूम होते हैं ।

नहीं—अब कोई बचाव नहीं है ।

मृत्यु निश्चित है—और ऐसी प्रतीति के साथ ही वह वृद्धा खो जाती है और बुद्ध ही शेष रह जाते हैं !

और, झेन फकीर सदियों से पूछते रहे हैं . "बताओ—वह वृद्धा कौन है ?"

रजनीश के प्रणाम

१७–३–१९७१

[प्रति मा योग क्रांति, जबलपुर, म० प्र०]

८८ / धर्म की दो अभिव्यक्तियाँ—तथाता और शून्यता

प्यारी मौन्,

प्रेम ! सेहेई (Seihei) के शिष्य सुइबी (Suibi) ने एक दिन अपने गुरु से पूछा : "प्यारे गुरुदेव ! धर्म का मूल रहस्य क्या है ?"

सेहेई ने कहा : "प्रतीक्षा करो और जब हम दोनो के अतिरिक्त यहाँ कोई भी नही होगा, तब मै तुझे बताऊँगा ।"

और फिर, उस दिन बहुत बार ऐसे मौके आये, जबकि वे दोनो एक ही झोपड़े मे थे और ऐसे हर मौके पर सुईबी ने कहा "गुरुदेव ! अब हम दोनों ही यहाँ हैं, और तीसरा कोई भी नही है ।"—लेकिन हर बार वह अपना प्रश्न पूरा भी न कर पाता कि **सेहेई अपने ओंठों पर अंगुली रखकर उसे चुप होने का इशारा कर देता !**

ऐसे उसने बार-बार बताया कि '**धर्म का मूल रहस्य मौन है**—लेकिन, सुइबी कुछ भी न समझा ।

शब्द से ही समझने की जिद्द, सत्य को समझने मे बड़ी से बड़ी बाधा है ।

और फिर, साँझ हो गयी और सेहेई का झोपडा बिलकुल खाली हो गया ।

सुइबी ने फिर पूछना चाहा, लेकिन फिर वही ओठो पर रखी हुई अगुली उत्तर मे मिली ।

और फिर, रात उतर आयी और पूर्णिमा का चाँद आकाश मे ऊपर उठ आया ।

सुइबी ने कहा "अब मै और कब तक प्रतीक्षा करूँ ?"

तब सेहेई उसे लेकर झोपडे के बाहर आ गया ।

सुइबी ने कहा "यहाँ अब कोई भी नही—अब तो कुछ कहे ।"

सेहेई ने तब सुइबी के कान मे फुसफुसाकर कहा "**बाँसो के ये वृक्ष यहाँ लंबे हैं । और बाँसो के वे वृक्ष वहाँ छोटे हैं । और जो जैसा है, वैसा है—इसकी पूर्ण स्वीकृति ही स्वभाव में प्रतिष्ठा है । और स्वभाव धर्म है । और स्वभाव में जीना धर्म का मूल रहस्य है ।**

नि:शब्द को जो न सुन सके—उसे शब्द से ज्यादा-से-ज्यादा बस इतना ही कहा जा सकता है ।

शब्द मे धर्म की अभिव्यक्ति है : तथाता (Suchness) ।

नि:शब्द में धर्म की अभिव्यक्ति है : शून्यता (Voidness) ।

रजनीश के प्रणाम

१९-३-१९७१

[प्रति मा योग क्रांति, जबलपुर]

८९ / सभी कुछ वही है

प्यारी मौनू,

प्रेम ! जो जानता है, उसके लिए परमात्मा के अतिरिक्त और कुछ भी नही है। अर्थात् सभी कुछ वही है।

क्षुद्र भी तब विराट् है और अणु भी आकाश है।

बूंद में समाये हैं तब समस्त सागर और नन्हीं-सी किरण में महासूर्यों का आवास है।

तोझान (Tozan) उनमे से था एक, जो कि जानते हैं।

सुबह ही सुबह तराजू पर तौल रहा था वह कपास।

और, तभी एक शिष्य ने आकर उससे पूछा : "गुरुदेव ! बुद्ध कौन है ? क्या है ? कहाँ है ? कृपा करे और स्पष्टत. बताये मुझे।"

तोझान ने कपास की ओर इशारा किया और कहा . **"यहाँ—पाँच सेर कपास में।"**

रजनीश के प्रणाम

२०-३-१९७१

[प्रति : मा योग क्रांति, जबलपुर]

९० / स्वयं को खोल लो—आकाश की भाँति—विस्तीर्ण, मौन, निःशब्द

प्यारी मौनू,

प्रेम। जोशु (Joshu) ने पूछा अपने गुरु नानसेन (Nansen) से : "सत्य का सम्यक् मार्ग क्या है ?"

नानसेन बोला . **"अति साधारण है वह मार्ग। दैनंदिन का ही है वह मार्ग। चलते हो जिस पर प्रतिदिन, वही है वह मार्ग।"**

जोशु ने पूछा तब . "क्या मै उसका अध्ययन कर सकता हूँ ?"

नानसेन ने कहा · **"नहीं—क्योंकि जितना ही तुम उसका अध्ययन करोगे, उतने ही उससे दूर हो जाओगे। जितना ही सोचोगे उसे—उतनी ही दूर भटकोगे उससे। इधर आया विचार कि उधर खोया मार्ग !"**

स्वभावत· चकित हो जोशु ने कहा : "जब मै उसका अध्ययन ही नही कर सकता हूँ, तो उसे जानूँगा कैसे ?"

इस पर नानसेन हँसा और चुप हो गया।

थोडी देर जोशु ने मौन मे प्रतीक्षा की और पुनः प्रार्थना की : "कुछ तो कहे कि वह मार्ग कैसा है ?"

तब नानसेन आकाश की ओर देखने लगा और बोला "वह मार्ग दृश्य वस्तुओं मे से नही है—न ही अदृश्य वस्तुओं मे से है। वह न ज्ञात की कोटि मे आता है, न अज्ञात की। उसे खोजो मत। उसे विचारो मत। और न ही उसे कोई नाम दो। और यदि पाना है स्वय को उसके ऊपर, तो बस, स्वय को खोल लो आकाश की भाँति विस्तीर्ण—(To find your self on it, open yourself wide as the sky.)।"

यही है राज—स्वय को पाने का।
और स्वयं को खोने से गुजरता है यह मार्ग।
मन बनाता है सीमाएँ।
और, आत्मा है असीम—आकाश की भाँति असीम।
और, विचार करता है परिभाषाएँ।
और, प्राण माँगते हं अनुभूति !

बुद्धि के पास है शब्द—कोरे शब्द।

और, सत्य है सदा मौन।

बुद्धि चुप हो—शब्द हों शांत, तो मार्ग यहीं है—अभी और यहीं—बस, प्रत्येक के पैरों तले।

और, बुद्धि हो मुखर और विचार बुनते हों जाल, तो मार्ग कहीं भी नहीं है।

रजनीश के प्रणाम

२०–३–१९७१

[प्रति : मा योग क्रांति, जबलपुर]

९१ / मन के द्वन्द्वों के प्रति सजगता

मेरे प्रिय,

प्रेम। मन जीता है द्वैत मे।
और, विकल्पो की लहरो से द्वैत निर्मित होता है।
जब उठे विकल्प मन मे, तब करे कुछ भी नही।
दोनों के पार खड़े हो—देखे।
न भोगे, न दमन करे।
वरन् भोग और दमन—दोनो इच्छाओ को देखे।
ऐसे क्षण में श्वासें गहरी लें, तो जागरूकता की लपट तेज हो सकेगी।
शायद मन कहेगा कि यह तो दमन है!
तो इस मन को भी जाने—देखे।
और फिर, शीघ्र ही विकल्प खो जावेंगे और द्वैत के पार अद्वैत की झलक मिलेगी।

रजनीश के प्रणाम

१–४–१९७१

[प्रति : डॉ० मदन, गोरा बाजार, गाजियापुर, उ० प्र०]

९२ / जीवन एक अभिनय है

प्यारी नीलम,

प्रेम ! जानकर खुश हूँ कि अभिनय के प्रयोग से तेरी शांति बढ़ी है ।

जीवन एक अभिनय से ज्यादा नही है, इसे चेतना मे जितना गहरा उतार सके उतना ही मगलदायी है ।

उठते-बैठते, सोते-जागते इस महासूत्र को स्मरण रख : "जीवन एक अभिनय है ।"

श्वास-प्रश्वास मे इसे पिरो ले ।

तेरे लिए फिलहाल यही ध्यान है ।

शाति इतनी हो जाये कि उसका पता भी न चले ।

वस्तुत., पता तो अशाति का ही चलता है न ?

शाति की गहनता से सत्य मे छलांग अति आसान है ।

'ससार स्वप्न है', इस प्रतीति से, 'प्रभु सत्य है', इस अनुभूति मे उतर जाना कठिन नही है ।

तू शाति को सँभाल ले, फिर तो तुझे मै सत्य मे धक्का दे ही दूँगा !

रजनीश के प्रणाम

१-४-१९७१

[प्रति : सुश्री नीलम, अमरजीत, लुधियाना, पंजाब]

९३ / शास्त्रों से मन पसंद अर्थ निकालने की कुशलता

प्रिय कृष्ण सरस्वती,

प्रेम ! शास्त्र दया योग्य हैं।

क्योंकि, आदमी उनमें से वही निकाल लेता है, जो कि निकालना चाहता है।

शास्त्र आदमी के समक्ष बहुत असमर्थ हैं।

प्रसिद्ध आंग्ल-अभिनेता चार्ल्स बेनिस्टर (Charles Bannister) को किसी भोज में शराब पीते देखकर उसके निजी चिकित्सक ने रोका और कहा : "अब उस गंदी चीज को और न पियो—और मैं कितनी बार तुमसे नही कह चुका हूँ कि पृथ्वी पर शराब से बड़ा शत्रु तुम्हारा और कोई भी नही है ?"

बेनिस्टर ने शराब पीते-पीते कहा : "ज्ञात है मुझे. लेकिन क्या धर्मशास्त्र में यह आदेश नही दिया गया है कि शत्रुओ को प्रेम करो ?"

रजनीश के प्रणाम

१-४-१९७१

[प्रति : स्वामी कृष्ण सरस्वती, अहमदाबाद]

९४ / आदमी की गहन मूर्च्छा

प्रिय कृष्ण सरस्वती,

प्रेम ! सोया हुआ होना साधारणत लोगो का जीने का ढंग है ।

और, आदत इतनी गहरी है कि स्मरण भी नही आता है ।

और फिर, निरतर अभ्यास से कुशलता भी उपलब्ध हो जाती है ।

एक धर्मगुरु ने एक दिन किसी चर्च मे बोलना शुरू किया तो कहा . "मै आपके नगर जोहन्सटाउन मे आकर अत्यत आनदित हूँ ।"

और फिर, क्षण भर को रुका ।

तभी एक व्यक्ति ने चौककर कहा "जोहन्सटाउन ? नही, महोदय, ग्रीनवर्ग !"

धर्मगुरु ने कहा . "मुझे ज्ञात है ; लेकिन, मै जानना चाहता था कि यहाँ कोई जागा हुआ भी है या नही ?"

रजनीश के प्रणाम

२-४-१९७१

[प्रति स्वामी कृष्ण सरस्वती, अहमदाबाद]

९५ / बीज को लड़ना भी होगा--मिटना भी होगा

प्रिय चैतन्य प्रभु,

प्रेम ! तेरे आँसुओ का मुझे पता है और तेरे हृदय की धड़कनों का भी ।

फिर भी मै चुपचाप प्रतीक्षा करता हूँ---वैसे ही जैसे कोई माली बीज बोकर उसके अकरित होने की प्रतीक्षा करता है।

बीज को लडना भी पडेगा---कठोर भूमि से सघर्ष अनिवार्य है ।

और बीज को मिटना भी पडेगा---क्योकि, वह मिटे तो ही अकुर का जन्म हो सकता है ।

पर, मै तेरी शक्ति मे आश्वस्त हूँ और तेरे सकल्प से भी ।

रजनीश के प्रणाम

२-४-१९७१

[प्रति · स्वामी चैतन्य प्रभु, हिन्दुस्तान मैनेजमेट कारपोरेशन, श्री पोपटलाल शाह ट्रस्ट बिल्डिग, १८९, रविवार पेठ, बोरीआली, पूना-२ ।

९६ / प्रभ् के द्वार पर कोई भी अपात्र नही है

प्यारी साधना,

प्रेम । प्रभु के द्वार पर कोई भी अपात्र नही है ।

लेकिन, उन अभागो के लिए क्या कहा जाये, जो कि उसके द्वार की ओर पीठ किये ही खड़े रहते है !

और, कभी-कभी जब द्वार ही उनके सामने आ जाता है, तब भी वे आँखे बद कर लेते है !

अपात्र, तो तू है ही नहीं; क्योंकि अपात्र कोई भी नहीं है ।

और, अभागी भी नही है ।

द्वार तेरे सामने है—नाच, गा और प्रवेश कर ।

धर्म है—एक उत्सव ।

गभीर, उदास और रुग्ण चेहरो की वहाँ कोई भी गति नही है ।

रजनीश के प्रणाम

२–४–१९७१

[प्रति : सौ० साधना बेलापुरकर (मा अमृत साधना), ५५५।२, लक्ष्मी सदन, शिवाजी नगर, पूना–५]

१७४ मार्ग की कठिनाइयाँ—और जीवन-शिखर छूने को अभीप्सा

प्यारी योग तरु,

प्रेम ! मार्ग मे कठिनाइयाँ तो सदा ही है ।
लेकिन, जीवन-शिखर छूने की अभीप्सा ने कब उन्हे कठिनाइयाँ माना है ।
और, स्मरण रखना कि सुबह होने के पूर्व अँधेरा सदा ही घना हो जाता है !
पर, जो जानते है, उनके लिए तो वह सुसमाचार है ।
नि:सशय मन से आगे बढ़ ।
फिर, मै तो साथ हूँ ही न ?

रजनीश के प्रणाम

२-४-१९७१

[प्रति : मा योग तरु, बम्बई]

९८ / पार उठो——विचारों के

मेरे प्रिय,

प्रेम ! स्वय के मन की ही गहराई को कहाँ जानते हो अभी ?
सतह की लहरो से ही तो परिचय है अभी केवल !
विचार नही है जहाँ, वही स्वय से साक्षात्कार है ।
छोडो——लहरो को ।
पार उठो——विचारो के ।
और, तब ही पाओगे पहचान——स्वय को ।
और, जो जान लेता है स्वय को, उसे जानने को फिर कुछ भी शेष नही रह जाता ।

रजनीश के प्रणाम

२-४-१९७१

[प्रति श्री रत्नेश अग्रवाल (स्वामी आनन्द निर्गुण), रायपुर, म० प्र०]

९९/ समग्र प्राणों की आहुति—और सत्य का विस्फोट

मेरे प्रिय,

प्रेम। सत्य मिल सकता है—क्षण भर में।

चाहिये त्वरा।

समग्र प्राणो की आहुति देने का सकल्प-क्षण ही सत्य का विस्फोट बन जाता है।

अन्यथा, जन्म-जन्म खोते चले जाते हैं—व्यर्थ ही।

बिना किसी यात्रा के।

कोल्हू के बैलो जैसे।

रजनीश के प्रणाम

२–४–१९७१

[प्रति श्री रत्नेश अग्रवाल (स्वामी आनन्द निर्गुण), म० प्र०]

प्रिय कमला,

प्रेम । बढ़ो ।
ध्यान मे आगे बढो ।
ऊँची है चढाई ।
सँकरा है मार्ग ।
और, सिर पर है—व्यर्थ का बोझ ।
बोझ को क्रमश. करो ।
और, स्मरण रखना कि विचार पत्थरों से भी भारी होते हैं ।

रजनीश के प्रणाम
२-४-१९७१

[प्रति . श्रीमती कमला लक्ष्मीचन्द, फ्लेट न० १, नानकी निवास, ७५ सरपेन्टीन रोड
के० पी० वेस्ट, बेंग्लोर-२०]

१०१ / बहुत तरह की अग्नियों में जलना होगा—निखरने के लिए

प्रिय दिनेश,

प्रेम। जीवन है मिट्टी मिले सोने जैसा।

इसलिए, स्वर्ण-शुद्धि का सघर्ष जरूरी है।

उससे घबडाओ न।

जलना ही होगा—बहुत तरह की अग्नियों में जलना होगा।

पर, उससे ही निखरोगे भी और आज जो अभिशाप है, अतत: उसे ही वरदान पाओगे।

रजनीश के प्रणाम

२-४-१९७१

[प्रति : श्री दिनेश शाही (स्वामी दिनेश भारती), मोतीलाल बनारसीदास चौक, वाराणसी, उ० प्र०]

१०२ / मार्ग चुनने के पहले स्वयं की पहचान जरूरी

प्रिय लीला,

प्रेम। प्रभु के अनंत मार्ग हैं।
लेकिन, **चुनाव सदा ही साधक की रुचि और प्रकृति पर निर्भर है।**
रुचि कभी-कभी समझ में स्वयं के नहीं भी आती है।
और, प्रकृति तो और भी गहरी और गहन है।
पर, सम्यक् निरीक्षण से स्वयं की पहचान हो सकती है।
निरीक्षण की सुगम विधियाँ भी हैं।
और, ठीक निरीक्षण के पूर्व कुछ-भी करने लगना ठीक नहीं है।
योग-साधना की अभीप्सा है, तो अकारण तो नहीं हो सकती है।
पर, बिना मिले मैं कुछ भी नहीं कह पाऊँगा।
आकर मिल जाओ।

रजनीश के प्रणाम
२-४-१९७१

[प्रति : सौ० लीला अभ्यकर, ४१-५, सत्यजा बंगला, पर्वती दर्शन, पूना-९]

१०३ / हृदय की सरलता ही तो उसका द्वार है

प्यारी प्रेमा,

प्रेम । अनायास ही तू प्रभु मंदिर के द्वार पर आकर खडी हो गयी है ।

जो सरल है, वे ऐसे ही—अनायास ही उसके द्वार पर आ जाते हैं ।

क्योंकि, हृदय की सरलता ही तो उसका द्वार है ।

आनद की वर्षा हो रही है तेरे ऊपर ।

सर्व-स्वीकृति का भाव आया इधर कि उधर उसकी अनुकपा के सदा से बरसने को आतुर मेघ वर्षा शुरू कर देते हैं ।

आकांक्षा गयी कि आनंद आया ।

माँग मिटी कि माँग पूरी हुई ।

हृदय की वीणा बजेगी अब और प्राण नाचेंगे किसी अज्ञात धुन पर ।

दिये जलेंगे अब अन्तर्आकाश के ।

और, अधकार खोजकर भी कहीं न पा सकेगी ।

श्वास-श्वास से अनुग्रह प्रगट कर प्रभु के प्रति ।

सोते-जागते अनुग्रह प्रगट कर प्रभु के प्रति ।

रजनीश के प्रणाम

२–४–१९७१

[प्रति · सुश्री प्रेमा बाई, "गीताजली" डैकन कॉलेज रोड, पूना–६]

१०४ / प्यास चाहिए—पुकार चाहिए

मेरे प्रिय,

प्रेम। घर-घर में है गगा।
हृदय-हृदय मे है प्रियतम।
प्यास चाहिए।
पुकार चाहिए।
खटखटाओ—और द्वार खुल जाते हैं।
चाहो—और मिलन हो जाता है।

रजनीश के प्रणाम

२-४-१९७१

[प्रति श्री मल्लिकार्जुन सिद्ध अप्पा हिपलगे, पो० धानुरा (स्टेशन), तालुका मालकी, जिला . बिदर, मैसूर राज्य]

१०५ / समर्पित हृदय की अन्तर्साधना

प्यारी साधना,

प्रेम। तेरा समर्पित हृदय शीघ्र ही एक कमल की भाँति खिल उठेगा।
उसी की तैयारी चल रही है अन्तर्गर्भ में।
चक्र-चक्र पर तैयारी हो रही है।
प्रकाश और नाद के अनुभव बढ़ेंगे।
और, कभी-कभी लगेगा कि जैसे शरीर टुकड़े-टुकड़े होने जा रहा है।
पर, उससे भयभीत मत होना।
जो होता है, वही हो रहा है।

रजनीश के प्रणाम

२-४-१९७१

[प्रति : सौ० साधना बेलापुरकर (मा अमृत साधना), पूना]

१०६। काँटों को गिनते रहना पागलपन है

प्रिय अक्षय,

प्रेम । गुलाब के साथ काँटे भी हैं ।

पर, काँटों को गिनते रहना पागलपन है ।

गुलाब के सौदर्य मे नाचो ।

उसकी सुगध के गीत बनाओ ।

उसके आनद मे डूबो और फिर तुम पाओगे कि धीरे-धीरे काँटे भी फूल बनते जा रहे हैं ।

रजनीश के प्रणाम

३–४–१९७१

[प्रति : स्वामी अक्षय सरस्वती, रेलवे वायर लेस, जबलपुर, म० प्र०]

१०७ / शांति का द्वार—जीवन की समग्र स्वीकृति

मेरे प्रिय,

प्रेम। जीवन की समग्र-स्वीकृति ही शाति का द्वार है।

'जो है—है' और उससे अन्यथा न चाहना ही आस्तिकता है।

विराट् के सागर मे स्वय का होना एक लहर से ज्यादा नही है।

और, लहर ने जैसे ही स्वय की इच्छाओ के बीज बोये कि दुःख आया।

लहर तो बस, लहर है—आयी नहीं कि गयी—ऐसा ही जानें तो ही आनंद है

ऐसा ही जाने स्वय को।

और तब, क्रमश 'स्व' मिटेगा और 'सर्व' का आविर्भाव होगा।

'जो है—है', इसे मंत्र की भाति ही स्मरण करते रहे—उठते-बैठते, सोते-जागते।

श्वास-श्वास मे इसी भाव को भर जाने दें।

हृदय की धडकने यही कहे।

तन का रोयाँ-रोयाँ यही कहे।

सफलता मे, असफलता मे—शिखर पर या घाटियो मे, प्राण—'जो है—है'—इसका ही गान करें।

और, फिर प्रभु का प्रसाद चारो ओर बरसने लगेगा।

उसके अनुग्रह के फूल खिलने लगेंगे।

और, अन्तस् मे होगा **आलोक**।

और, आत्मा मे **अमृत**।

रजनीश के प्रणाम

३-४-१९७१

[प्रति श्री कृष्णजी गनेश जोशी, न० ५, बेडेकर सदन, मुगभाट, बम्बई-४]

१०८ / विवाद—अज्ञानियों के

प्रिय योग चिन्मय,

प्रेम। नहीं जिन्हे पता है कुछ भी, वे भी सत्य के सबंध मे अपना मत रखते है। उनके मतो (Opinions) के कारण ही व्यर्थ का विवाद है।

विवाद सत्यो के कारण नही है—**विवाद मतों के कारण है।**

सत्य तो संवाद है।

लिखा है खलिल जिब्रान ने .

एक बार तीन व्यक्तियों ने देखा दूर से हरी भरी पहाड़ी पर स्थित एक छोटा-सा सुदर भवन।

उनमे से एक ने कहा "यही है उस कुरूप बुढ़िया रूथ का मकान, जो कि एक पुरानी जादूगरनी है।"

फिर दूसरा कैसे चुप रहे—उसने भी कहा . "तुम गलती पर हो। श्रीमती रूथ तो एक अति सुदर नवयुवती है, जो कि सदा ही अपने सपनो मे खोयी रहती है।"

और फिर, तीसरा कैसे पीछे रहे—उसने भी कहा . "तुम दोनो ही भ्रम मे हो। श्रीमती रूथ न तो वृद्ध है, और न ही नवयुवती ही, और न ही वह कोई जादूगरनी है, और न ही कोई कवियित्री। श्रीमती रूथ तो एक अधेड़ महिला है। वही इस विस्तृत भूभाग की स्वामिनी है—अति कठोर और शोषक। उनके इस भवन की सफेदी के पीछे गरीब किसानों के खून की पर्त है।"

स्वभावत., उनका विवाद बढता ही चला गया।

और फिर, अन्तहीन मालूम होने लगा—जैसा कि सभी विवादो मे होता है!

किन्तु, जब वे एक चौराहे पर पहुँचे, तो भाग्य से उनकी भेट एक वृद्ध से हो गयी।

उन्होने उस वृद्ध से पूछा "क्या आप उन श्रीमती रूथ के सबध मे कुछ बता **सकेंगे**, जो कि उस पहाडी पर स्थित सफेद मकान मे रहती है?"

इस पर उस वृद्ध ने सिर उठाकर उन व्यक्तियो की ओर साश्चर्य देखा और कहा· "मै नब्बे वर्ष का हूँ और जब मैं नितान्त बालक था, तभी से मुझे श्रीमती रूथ के सबध मे कुछ-कुछ याद है। परन्तु श्रीमती रूथ का देहावसान हुए भी तो अस्सी वर्ष बीत गये हैं। और तब से ही यह मकान बिलकुल खाली पड़ा है। वहाँ कभी-कभी उल्लू बोला करते हैं और कुछ लोगो का अनुमान है कि वहाँ प्रेतो का निवास है।"

रजनीश के प्रणाम

१०-४-१९७१

[प्रति स्वामी योग चिन्मय, बम्बई]

१०९ / पूर्ण संकल्प में तुम स्वयं ही मंजिल हो

मेरे प्रिय,

प्रेम । पूछते हो : मंजिल कितनी दूर है ?
आह ! मजिल दूर भी है बहुत और अति निकट भी ।
और, मजिल की दूरी या निकटता मंजिल पर नही, स्वय तुम पर ही निर्भर है ।
सकल्प है जितना सघन, मजिल उतनी ही निकट है ।
सकल्प है यदि पूर्ण, तो तुम स्वय ही मंजिल हो ।

रजनीश के प्रणाम

१३-४-१९७१

[प्रति श्री धनवंत (स्वामी आनन्द सन्त), द्वारा : श्री प्रतापसिंह संतोखसिंह, बाजार माई सेवान, अमृतसर]

११० / संसार में अभिनेता की भाँति जीना योग है

मेरे प्रिय,

प्रेम। ध्यान के पहले अवतरण में कर्म-रुचि सदा ही खो जाती है।

उपेक्षा-पूर्ण शून्यता से भी गुजरना पड़ता है।

लेकिन, यह मंजिल नहीं—मार्ग की घटना है।

संक्रमण का ऐसा ही क्षण तुम्हारी यात्रा में भी आ उपस्थित हुआ है।

इससे भयभीत न होओ और प्रयासपूर्वक कर्म किये जाओ।

हाँ—स्वयं को कर्ता न जान सकोगे अब।

इसलिए, साक्षी-भाव को और गहराओ और इस भाँति कर्म करो जैसे कि अभिनय कर रहे हो।

और फिर,संसार में अभिनेता की भाँति जीना ही तो योग है।

रजनीश के प्रणाम

१४-४-१९७१

[प्रति श्री धनवन्त (स्वामी आनन्द सन्त), अमृतसर]

१११ / सहजता ही संन्यास है

प्रिय आनंद आलोक,

प्रेम। सहजता ही संन्यास है।
सहज बहो—जैसे तिनका बहता है, सरिता में।
तैरे कि डूबे।
बचाया स्वयं को कि मिटे।

रजनीश के प्रणाम

१४-४-१९७१

[प्रति . स्वामी आनंद आलोक, संगमनेर]

मेरे प्रिय,

प्रेम । अस्तित्व आनंद-धर्मा है—आनद स्वरूप है—आनद अणुओं से ही निर्मित है।

लेकिन, मनुष्य-मन की आविष्कार की क्षमता भी अनंत है !

जो नही है—उसका भी वह आविष्कार कर लेता है !

दु:ख नही है—सुख भी नही है; पर मनुष्य-मन दु:ख-सुख मे ही जीता है।

नरक नही है, पर मन उसे निर्मित करता है।

स्वर्ग स्वप्न है, पर मनुष्य-मन उसे सत्य की भाँति देखता है।

और जो है—जो सदा है—मन उसे देखता ही नही है, क्योंकि उसके दर्शन में **मन की मृत्यु है।**

मन का जीवन है द्वैत।

अद्वैत है उसकी मृत्यु।

और, जो है—वह अद्वैत है।

सुख-दु:ख मे है द्वैत।

स्वर्ग-नरक मे है द्वैत।

आनद है अद्वैत।

मोक्ष है अद्वैत।

इसलिए, **जहाँ भी हो द्वैत, वहाँ सावधान रहें**—वही दुर्घटना होती है।

और, **अद्वैत को हर द्वैत की स्थिति में स्मरण करते रहें;** क्योकि वहीं मुक्ति का द्वार है।

निश्चय ही वह मुक्ति मन की मुक्ति नही है—वह मुक्ति है मन से मुक्ति।

और, जो मन से मुक्त हुआ, वह अस्तित्व मे प्रवेश कर जाता है।

या कहें आनद मे।

या कहें मोक्ष मे।

या कहें ब्रह्म मे।

रजनीश के प्रणाम

१५-४-१९७१

[प्रति श्री कातिलाल टी० सेठिया, द्वारा · हीरालाल एण्ड ब्रदर्स, सेक्टर-४, रशियन कालोनी शाप न० ४, बोकारो स्टील सिटी, धनबाद, बिहार]

११३ / व्यक्ति का विसर्जन—प्रकाश में

प्यारी रजनी,

प्रेम । प्रकाश और बढेगा, इतना कि प्रकाश ही होगा और तू नही ।

अधेरे मे तो स्वयं को प्रत्येक ने अनत बार खोया है, पर अधेरे में खोने से सिवाय दु.ख के और कुछ भी हाथ नही लगता है ।

किन्तु, जो स्वय को प्रकाश मे खोने की कुंजी पा जाता है, वह उस आनद को उपलब्ध होता है, जो कि नित्य है और अनादि है और अनत है ।

रजनीश के प्रणाम

१५-४-१९७१

[प्रति · कुमारी रजनी, पूना]

११४ / अहिंसा—अनिवार्य छाया ध्यान की

मेरे प्रिय,

प्रेम। ध्यान से मांसाहार तो कठिनाई मे पड़ेगा ही।

अपने तथाकथित सुख के लिए अब दुःख किसी को भी न दे सकोगे।

अहिंसा ध्यान की अनिवार्य छाया है।

और, उस ध्यान मे कुछ चूक है, जिससे कि अहिंसा सहज ही फलित नही होती है।

अहिंसा को प्रयास से लाना पड़े, तो भी ध्यान मे भूल है।

अहिंसा को भी जो साधते है, उन्हें वास्तविक अहिंसा का कोई पता ही नही है।

अहिंसा तो आती है—सहज—ध्यान के साथ-साथ—बस, ऐसे ही जैसे सूर्य के साथ प्रकाश।

आनद मनाओ और प्रभु को धन्यवाद दो कि ऐसी ही अहिंसा का पदार्पण तुम्हारे जीवन मे हो रहा है।

रजनीश के प्रणाम

१५-४-१९७१

[प्रति : श्री धनवंत (स्वामी आनन्द सत) अमृतसर, पजाब]

११५/ विचारों का विसर्जन

प्यारी रजनी,

प्रेम। ध्यान मे प्रकाश के साथ-साथ बीच-बीच मे विचार आते है, तो उन्हे देखना —तीव्रता से—पूरी चेतना से—समग्र एकाग्रता से।

और, कुछ भी न करना—बस, दृष्टा बनना।

पर, दृष्टि प्रगाढ हो और पैनी।

और, विचार खो जावेंगे।

बड़े कमजोर हे बेचारे।

लेकिन, हमारी दृष्टि उनसे भी ज्यादा बेजान है—इसीलिए कठिनाई है।

अन्यथा, विचार से ज्यादा हवाई चीज और क्या हो सकती है ?

रजनीश के प्रणाम

१५-४-१९७१

[प्रति : कुमारी रजनी, १४०, शनिवार पेठ, पूना]

११६ / गहरे ध्यान में दर्शन—बिंदु का

प्यारी रजनी,

प्रेम । नीले आकाश के वर्तुल मे जो शुभ्र बिंदु चमकता है, उस पर ही एकाग्रता को बढ़ा ।

एकाग्रता के साथ ही इस बिंदु को शुभ्रता बढेगी ।

और, वह बिंदु भी बडा होगा ।

और अतत , यह बिंदु ही द्वार बन जाता है, स्वय के ही रहस्य मे प्रवेश का ।

ध्यान के सातत्य मे अब एक भी दिन चूक न करना ।

जो बिंदु दर्शन दे रहा है, इसे पाना अति-कठिन और खोना अति-आसान है ।

रजनीश के प्रणाम

१५-४-१९७१

[प्रति . कुमारी रजनी, पूना]

११७/ 'स्व' से मुक्ति ही मोक्ष है

प्रिय आनंद आलोक,

प्रेम। छोडो स्वय को तो फिर प्रभु संभालता है।
अपने ही कधों पर बैठे है जो—वे समझे भी तो कैसे समझें!
उतरो स्वय पर से।
'स्व' का बोझ बहुत ढोया—अब और न ढोना।
'स्व' के कारागृह मे मुक्त होते ही सर्व का खुला आकाश है—अब उसमे ही उड़ो।
'स्व' से मुक्ति ही मोक्ष है।

रजनीश के प्रणाम

१५-४-१९७१

[प्रति : स्वामी आनद आलोक, संगमनेर, जि० अहमदनगर, महा०]

११८ / चक्रों के खुलते समय पीड़ा स्वाभाविक

प्यारी साधना,

प्रेम। पीडा थोडी बढे, तो चिंतित मत होना।

चक्र सक्रिय होते हैं, तो पीडा होती है।

पीड़ा के कारण ध्यान को शिथिल न करना।

वस्तुत. तो, चक्रो पर पीडा शुभ-लक्षण है।

और, जैसे ही अनादि-काल से सुप्त चक्र पूर्णरूपेण सक्रिय हो उठेंगे, वैसे ही पीडा शात हो जायेगी।

चक्रों की पीडा—प्रसव-पीडा है।

तेरा ही नया जन्म होने को है।

सौभाग्य मान और अनुगृहीत हो—क्योंकि स्वय के जन्म को देखने से बडा और कोई सद्भाग्य नही है।

रजनीश के प्रणाम

१६-४-१९७१

[प्रति . सौ० साधना (मा अमृत साधना), पूना-५]

११९ / स्वप्न-सा है—यह जीवन

मेरे प्रिय,

प्रेम। स्वप्न-सा है यह जीवन—अभी है और अभी नहीं है।

नदी में उठी लहर की कहानी—अभी उठी, अभी गिरी।

फिर भी, मन कितना भरोसा करता है!

और, अंत में वह भरोसा ही धोखा सिद्ध होता है।

पर धोखा खाने में भी कैसा सुख है!

यद्यपि, सभी सुख केवल दुःखों के द्वार हैं।

काश! नरक के द्वार पर नरक ही लिखा होता—नहीं, लेकिन नरक के द्वार पर स्वर्ग लिखा है।

रजनीश के प्रणाम

१६-४-१९७१

[प्रति : श्री सुखराज जैन, सतधारा, बरमान, म० प्र०]

१२० / सोया हुआ आदमी—जीवन के तथ्यों के प्रति

मेरे प्रिय,

प्रेम । द्वार से जब निकले अर्थी कोई, तो पूछने मत भेजना कि किसकी है—वह स्वय की ही है ।

लेकिन, कुशल है मनुष्य का मन आत्म-वचना मे ।

सोचकर कि मर गया फिर कोई , सो जाता है पुन. गहरी निद्रा मे ।

ऐसे ही जागने के अवसर चूकते ही चले जाते है । और व्यर्थ की ही दौड़-धूप मे खो देते हैं हम, उसे जो कि हमारा ही था और मिल जाता तो सब मिल जाता ।

अमृत है—स्वय मे ।

लेकिन, जहर से फुरसत मिले तब न ?

रजनीश के प्रणाम

१६-४-१९७१

[प्रति : श्री सुखराज जैन, बरमान, म० प्र०]

१२१ / गहरी निद्रा का बोध

मेरे प्रिय,

प्रेम। जलती है ज्योति दिये मे, तो स्मरण भी तो नहीं आता है कि तेल चुका जा रहा है!

और, ऐसे ही जीवन प्रतिपल मृत्यु बनता है।

और, हम तभी जागते हैं, जब मृत्यु ही आ जाती है।

गहरी है नीद, तभी तो मृत्यु के अतिरिक्त और कोई भी नही जगा पाता है!

यद्यपि, फिर जागने का अर्थ ही क्या है?

रजनीश के प्रणाम

१६-४-१९७१

[प्रति श्री मुन्वराज जैन, सतधारा, बरमान, म० प्र०]

१२२ / पकने दो--प्यास को

मेरे प्रिय,

प्रेम। नहीं--प्यासे नहीं रहोगे।

देर है--अंधेर नही।

और, देर भी है, तो स्वय ही के कारण।

प्यास पकेगी, तब ही तो कुछ होगा न ?

फिर, कच्ची प्यास को छेडना उचित भी नही है।

पकने दो प्यास को।

गहन होने दो--तीव्र होने दो।

झेलो पकने की पीड़ा।

झेलनी ही पडती है, क्योंकि निर्मूल्य कुछ भी नही है।

मूल्य चुकाओ।

गुजरो जीवन मे।

दु.ख से--सताप से।

नरकों मे--स्वर्गो की आशा मे।

बनाओ भवन ताशो के--क्योकि और किसी प्रकार के भवन पृथ्वी पर बनते ही नही है !

और, हवा के झोंके जब उन्हे गिरा दे--तो रोओ।

टूटो और स्वय भी उनके साथ गिरो।

तैराओ नावें कागजों की महासागरो मे--क्योंकि आदमी और किसी भाँति की नावे बनाने मे समर्थ ही नही है।

और फिर, जब लहरो के थपेडे उन्हे डुबा दे--तो पछताओ, जैसे कि सुखद-स्वप्न टूट जाये, तो कोई भी पछताता है।

और, ऐसे ही यात्रा होगी।

और, ऐसे ही अनुभव शिक्षा देंगे।

और, ऐसे ही ज्ञान जगेगा।

और, पकेगी प्यास।

और, तुम स्वयं को दाँव पर लगा, उसे खोजोगे, जो कि समस्त प्यासों के पार ले जाता है।

वह तो निकट ही है--बस, तुम्हारी ही स्वयं को दाँव पर लगाने की देर है।

रजनीश के प्रणाम
१६-४-१९७१

[प्रति : श्री राजेन्द्र खजान्ची, पो० सावली, जि० चन्द्रपुर, महा०]

१२३ / चित्त के दर्पण पर जन्मों-जन्मों की धूल

मेरे प्रिय,

प्रेम। जल्दी न करे।

जन्मो-जन्मों के सस्कार हैं।

अनत यात्राओं की धूलि चित्त के दर्पण पर है।

पर, ध्यान ने काम शुरू कर दिया है—संकल्प से, धैर्य से, निष्ठा से, श्रम मे लगे रहे।

धीरे-धीरे सफाई होगी और दर्पण निखरेगा।

जहाँ से भी धूल हटेगी, वही स्वय का प्रतिबिब बनने लगेगा।

और, जैसा कि स्वाभाविक ही है, सफाई की अवधि मे कभी-कभी तो धूल और भी ज्यादा मालूम होने लगेगी, पर उससे चिंचित न होना।

निश्चित होकर चले।

ऐसा मैं अपने अनुभव से आश्वासन दिलाता हूँ।

रजनीश के प्रणाम

१६-४-१९७१

[प्रति · श्रीकालूराम अग्रवाल, पोस्ट जुगसलाई, जि० सिंगभूमि, बिहार]

१२४ / प्रतिपल स्मरण रख—जीवन नाटक है

प्यारी साधना,

प्रेम। भीतर जी और बाहर अभिनय जान।
बाहर है नाटक—लंबा—जन्म से लेकर मृत्यु तक।
लंबा और एकाकी—परदा उठता है जन्म मे और गिरता है मृत्यु मे।
फिर, हम दर्शक भी है और पात्र भी।
इसीलिए, भूल जाते है कि जीवन नाटक है।
लेकिन, अब तू स्मरण रख।
प्रतिपल स्मरण रख।
यह स्मरण ध्यान के लिए गहरा सहारा है।

रजनीश के प्रणाम

१७-४-१९७१

[प्रति . सौ० साधना बेलापुरकर, पूना]

१२५ / साधना के कीमती क्षणों में सजगता

प्यारी साधना,

प्रेम । अनजला दिया जैसे बस, जलने को हो—ऐसी ही तेरी स्थिति है ।

या जैसे कली, बस, फूल बनने को हो ।

द्वार पर ही तू खड़ी है और द्वार, बस, खुलने को है और तेरे पैर प्रवेश के लिए तैयार हैं ।

ध्यान पर पूरी शक्ति लगा दे ।

सकल्प मे जरा-सी भी कमी न रहे ।

समर्पण हो पूरा ।

और, जन्मों-जन्मो की अनत-यात्रा में जिसे खोजा है, तू उसे पा लेगी ।

इसलिए, अब एक-एक क्षण कीमती है ।

और, ध्यान रखना कि जरा-सा आलस्य और अवसर खो भी सकता है ।

रजनीश के प्रणाम

१७-४-१९७१

[प्रति सौ० साधना, पूना]

१२६ / नया जन्म—शरीर के पार—मन के पार

प्यारी रमा,

प्रेम। तेरे ध्यान से अति आनंदित हूँ।
तेरे श्रम से भी।
तेरे संकल्प से भी।
और, तेरे समर्पण से भी।
अब निकट ही है द्वार।
निकट ही है वह मिलन, जिसके लिए तू जन्म-जन्म तड़पी है।
मंदिर आ गया है पास।
थोड़ा ही श्रम और।
थोड़ा ही साहस और।
और, लग जायेगी छलांग।
और, बनेगी तू द्विज।
नया होगा तेरा जन्म।
शरीर के पार।
मन के भी पार।
आत्मा का।

रजनीश के प्रणाम

१८-४-१९७१

[प्रति सुश्री रमा पटेल (मा योग शिवानी), न्यू अमृतकुंज फ्लेट्स, पंचवटी, अहमदाबाद-६]

१२७ / सत्य एक है—बस, नाम ही अनेक हैं

प्यारी रमा,

प्रेम। वही हूँ मैं, जो तूने पहचाना।
वही तू भी है—बस, पहचानने की ही देर है।
शिव कहो—राम कहो—रहीम कहो—सब शब्दो का ही भेद है।
क्योकि, सत्य एक है—अस्तित्व एक है।
बस, नाम ही अनेक है।
रूप ही अनेक है।
सागर एक है—बस, लहरे ही अनेक है।

रजनीश के प्रणाम
१८-४-१९७१

[प्रति . सुश्री रमा पटेल (मा योग शिवानी), अहमदाबाद-६]

१२८ / देखो अद्वैत को--पहचानो अद्वैत को

प्यारे कचु,

प्रेम। पृथ्वी आकाश के विरोध में नहीं है।
न ही पदार्थ चेतना के विरोध में है।
न ही ससार परमात्मा के विरोध मे है।
विरोध की—द्वैत की भाषा ही अज्ञान की भाषा है।
पृथ्वी आकाश मे ही है सदा-सदैव।
पदार्थ चेतना का विश्राम है या है निद्रा।
ससार परमात्मा की ही अभिव्यक्ति है।
देखो अद्वैत को।
पहचानो अद्वैत को।
और फिर, तुम बँधनों मे भी पाओगे कि मुक्त हो।

रजनीश के प्रणाम
१८-४-१९७१

[प्रति. श्री कचु (स्वामी चैतन्य प्रभु), पूना]

१२९ / बढ़ो, बहो--सागर की ओर

प्रिय वेदांत सागर,

प्रेम। सागर ने कब किस सरिता को स्वयं मे गिरने से रोका है?
उसके द्वार तो सदा ही खुले है।
और, उसका निमत्रण भी अहर्निश ही दिया जा रहा है।
पर, यात्रा सरिता को करनी ही पड़ती है।
और, वह मूल्य--उपलब्धि की दृष्टि से न-कुछ ही है।
इसलिए, यह न सोचो कि सागर स्वीकार करेगा या नहीं—बढो—बहो—सागर की ओर।
सोचने मे समय न गँवाओ—क्या काफी समय पहले ही नही गँवा चुके हो?

रजनीश के प्रणाम

१८-४-१९७१

[प्रति· स्वामी वेदान्त सागर, द्वारा : मा योग समाधि, राजकोट]

१३० / मृत्यु है द्वार—अमृत का

प्रिय अमृत सिद्धान्त,

प्रेम। पढ़ो आकाश को—क्योंकि वही शास्त्र है।
सुनो शून्य को—क्योंकि वही मन्त्र है।
जियो मृत्यु को—क्योंकि वही अमृत है।
और, गये शास्त्र मे कि भटके।
और, पकड़े शब्द कि डूबे।
लिया सहारा मंत्र का कि किया छेद नाव मे।
और, खोजना मत अमृत को।
क्योकि—उसे ही खोजते तो जन्म-जन्म व्यर्थ ही गँवाये हैं।
खोजो मृत्यु को—मिलो मृत्यु से।
और, अमृत के द्वार खुल जाते है।
मृत्यु अमृत का ही द्वार है।

रजनीश के प्रणाम

१८-४-१९७१

[प्रति : स्वामी अमृत सिद्धान्त, द्वारा : वीनस चश्माघर, रिलीफ रोड, अहमदाबाद-१]

१३१ / जियो जीवन को—पियो जीवन को

प्रिय अमृत सिद्धात,

प्रेम। **रहस्य है जीवन।**
पहेली नही, जो कि सुलझ जाये।
सुलझाओ उसे जितना, उतना ही उलझता है।
और, सुलझाओ नहीं, तो सुलझा ही हुआ है!
जीवन समझने को नहीं—जीने को है।
समझने मे पड़ा जो, वह जी तो पाता ही नहीं, समझ भी नही पाता है।
और, जिया जिसने गहरे मे जीवन को, वह जीता तो है ही, समझ भी पाता है!
जियो जीवन को।
पियो जीवन को।
तट पर रुककर सोचने मे न पडो।
मझधार में डूबो।

रजनीश के प्रणाम
१८-४-१९७१

[प्रति : स्वामी अमृत सिद्धान्त, अहमदाबाद-१]

१३२ / ध्यान में पूरी बाजी लगाओ

प्यारी पुष्पा,

प्रेम। भरोसा न खोओ स्वयं पर।
इसी जन्म में सब कुछ हो सकेगा।
बस, श्रम करो और शेष सब प्रभु पर छोड दो।
फल की आकाक्षा मर बाधा है।
ध्यान मे पूरी बाजी लगाओ।
क्योकि, सवाल ही जीवन-मृत्यु का है।
माना कि चुनौती बड़ी है।
पर, भीतर जो छिपा है, वह हर चुनौती से बडा है।

रजनीश के प्रणाम
१९-४-१९७१

[प्रति . श्रीमती पुष्पा, हाउस न० १८१, अजीतपुरा, जालधर, पजाब]

१३३ / पीड़ा प्रार्थना बने—तो ही मुक्ति है

मेरे प्रिय,

प्रेम। जानता हूँ तुम्हारी पीडा।
नही कह पाते हो—इसलिए और भी जानता हूँ।
पर बहुत झेली पीडा।
जन्मों-जन्मो और कुछ भी तो नही किया।
अब पीडा को बनाओ प्रार्थना।
अन्यथा, पीडा से मुक्ति नही है।
जुटाओ साहस—प्रभु-मदिर मे प्रवेश का।
छोडो अस्मिता।
क्योकि, वही प्रभु-मिलन मे बाधा है।

रजनीश के प्रणाम
१९-४-१९७१

[प्रति . श्री सरदारी लाल सहगल, न्यू मिसरी बाजार, अमृतसर, पंजाब]

१३४ / एक ही है मंत्र—समर्पण

मेरे प्रिय,

प्रेम। एक ही है मंत्र—समर्पण।

समग्र समर्पण।

जरा-सा भी बचाया स्वयं को कि खोया सब कुछ।

बस, खो दो स्वयं को—पूरा का पूरा।

बेशर्त।

निरपेक्ष।

और—और फिर, पा लोगे वह सब, जिसे पाये बिना जीवन एक लंबी मृत्यु के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है।

और, समझकर करने के लिए मत रुके रहना।

क्योंकि, किये बिना समझने का कोई उपाय ही नहीं है।

रजनीश के प्रणाम

१९-४-१९७१

[प्रति . श्री सरदारी लाल सहगल, अमृतसर]

१३५ / आँसुओं से सींचना—प्रार्थना के बीज को

प्रिय चैतन्य प्रभु,

प्रेम । आँखों में हो आँसू और हृदय में प्रार्थना, तो जानना कि प्रभु को निमंत्रण भेज दिया गया है ।

मनुष्य है अति-असहाय (Helpless) ।

इसे ठीक से पहचानना ।

क्योंकि, कर-कर भी मनुष्य क्या कर पाता है ?

असहाय होने के बोध में ही प्रार्थना का बीज अंकुरित होता है ।

फिर, आँसुओं के जल से सींचना उसे ।

क्योंकि, और कोई जल प्रार्थना के बीज के लिए काम का नहीं है ।

रजनीश के प्रणाम

१९-४-१९७१

[प्रति : स्वामी चैतन्य प्रभु, पूना-२]

१३६ / अनेक द्वैतों को समाहित किये हुए—अद्वैत

प्रिय योग लक्ष्मी,

प्रेम । जीवन और मृत्यु—कैसे विपरीत तथ्य, फिर भी अस्तित्व मे एक !

अस्तित्व द्वैत को तो जैसे मानता ही नही है ।

अस्तित्व है अद्वैत ।

लेकिन, फिर भी स्वरहीन नही ।

वरन् स्वरो से भरपूर—विपरीत स्वरों से भी ।

अनत द्वैतो को समाहित किये—किसी पूर्णतर एकत्व में ।

अद्वैत अनेकता का अस्वीकार नही है—अन्यथा होता मृत ।

अद्वैत है—अनंत अनेकत्व में ओत-प्रोत एकत्व ।

अद्वैत है सगीत—अनगिनत स्वरो का ।

स्वरो का अभाव नही—वरन् स्वरो का सतुलन ।

और, विपरीत दीखने वाले स्वर भी विरोधी नही हैं—सहयोगी है ।

विरोध है ऊपर—गहराई में अविरोध है ।

और, विरोध ने अविरोध को रौनक दी है—रसमय बनाया है ।

पर, बुद्धि की सीमा है द्वैत ।

और इसलिए, बुद्धि सतह से ज्यादा कभी नहीं जान पाती है ।

खलील जिब्रान ने लिखी है एक कथा

एक सहस्र वर्ष पूर्व मिले दो दार्शनिक, लेबनान की एक ढाल पर ।

पूछा एक ने दूसरे से : "कहाँ जा रहे हो तुम ?"

दूसरे ने उत्तर दिया "मैं अमृत की खोज मे निकला हूँ । सुना है मैंने कि इन्ही पर्वतो मे कही अमृत का झरना है । परन्तु तुम यहाँ क्या खोजने आये हो ?"

दूसरे दार्शनिक ने कहा "जरूर ही तुम कोई भूल कर बैठे हो—क्योकि शास्त्रो से मैने जाना है कि इन्ही पर्वतो मे कही मृत्यु का राज छिपा है और मै उसकी ही खोज म निकला हूँ ।"

फिर विवाद तो स्वाभाविक ही था ।

जहाँ बुद्धि है, वहाँ विवाद है ।

और, जहाँ विवाद है, वहाँ सत्य कहाँ ?

अतत, प्रत्येक दार्शनिक इसी निष्कर्ष पर पहुँचा कि दूसरा अज्ञानी है और उसे सत्य का कोई भी पता नही है ।

और तभी, उस राह से एक व्यक्ति निकला, जिसे कि उसके पहाड़ी गाँव के लोग पागल समझते थे।

उसने दार्शनिक का विवाद सुना और फिर हँसा और बोला . "भद्रजनो, यदि तुम मुझ पागल की बात मान सको, तो विवाद मे समय न गँवाओ और अपनी-अपनी खोज पर निकल पडो, क्योंकि तुम जो खोज रहे हो, उसका नाम ज़ीवन है और वही अमृत है और वही मृत्यु भी।"

रजनीश के प्रणाम

२०-४-१९७१

[प्रति : मा योग लक्ष्मी, बम्बई]

१३७ / भीतर डूबो और भीड़ को स्वयं से बाहर करो

प्रिय कृष्ण कबीर,

प्रेम। चेतना की सूक्ष्म वाणी प्रत्येक के पास है।

लेकिन, हम उसके प्रति व्यवस्थित रूप से बहरे बन गये हैं।

दूसरों के अनुगमन से प्रत्येक व्यक्ति स्वयं को इतना दीन बना देता है कि वह स्वयं को ही सुनने, जानने और मानने मे असमर्थ हो जाता है।

और फिर, स्वभावतः, एक ऐसे नकली और थोथे जीवन का जन्म होता है, जो कि मृत्यु से भी ज्यादा मृत होता है।

कंठ हमारा, और वाणी दूसरो की !

बुद्धि हमारी और विचार दूसरो के !

समाज व्यक्ति को सब भाँति नष्ट करता है।

और, भीड़ प्रत्येक की आत्मा पर कब्जा करना चाहती है।

इसलिए, क्रमशः भीतर डूबो और भीड़ को स्वयं से बाहर करो।

शांति के क्षणों मे स्वयं को सुनने का प्रयास करो।

समाज के कारागृहों के अतिक्रमण (Transcendence) से ही तुम्हारे कान तुम्हे वापस मिलेंगे।

और तुम्हारी आँखे भी।

और, तुम भी।

और, स्वयं को पा लेना प्रभु के मंदिर को पा लेना है।

रजनीश के प्रणाम

१८-५-१९७१

[प्रति : स्वामी कृष्ण कबीर, बम्बई]

१३८ / विचारों से गहरी—भावना

प्रिय आनद परमहंस,

प्रेम । भावना किसी भी विचार से अधिक मूल्यवान है ।

क्योंकि, विचार सागर की सतह पर हवाओं के थपेड़ो से पैदा हुई लहरो से ज्यादा कुछ भी नही है ।

हाँ, कभी-कभी इन्ही थपेड़ों से लहरों पर झाग के शुभ्र मुकुट भी निर्मित हो जाते हैं !

पर, उनके धोखे में मत आना ।

और, सूर्य की किरणें उन्हें कितने ही इन्द्रधनुषो के रंग क्यो न दे दें , लेकिन वे सब रग उन ढोल जैसे ही हैं, जो कि दूर से सुहावने मालूम पड़ते है ।

भावना गहराई है ।

भावना हृदय है ।

भावना आत्मा है ।

और इसलिए, जब विचारो की झाग से ठीक से परिचय हो जाता है, तो चेतना भावना की ओर मुडना शुरू करती है ।

और, इस अतस् क्रांति के बिना जीवन के गहन सार से व्यक्ति दूर ही रह जाता है ।

वह व्यर्थ के ककड़-पत्थर तो खुद इकट्ठे कर लेता है, लेकिन गहरे मे सदा ही दिवालियापन महसूस करता है ।

भावना का अभाव भिखमगापन है ।

और, भावना मे प्रतिष्ठा स्वयं के सम्राट का जन्म है ।

रजनीश के प्रणाम

२०-५-१९७१

[प्रति स्वामी आनन्द परमहंस, जबलपुर]

१३९ / स्वयं में विश्वास प्रतिभा है

प्रिय आनंद परमहंस,

प्रेम । **स्वयं में विश्वास ही प्रतिभा है ।**

फिर चाहे कितनी ही भूलों से क्यो न गुजरना पडे, एक न एक दिन सत्य के मदिर मे प्रवेश मिलता ही है ।

स्वय के भूल भरे पथ पर चलकर भी कोई सत्य तक पहुँच सकता है ; लेकिन दूसरे के उधार सत्य पथ पर चलकर कोई कभी सत्य तक नही पहुँचा है ।

प्रामाणिक रूप से (Authentically) **स्वयं होना ही सत्य को पाने की प्राथमिक पात्रता है ।**

इसलिए, वही सोचो जो कि तुम्हारा सोचना है ।

और, वही करो भी ।

और, वही जियो भी ।

निश्चय ही कठिन होगा मार्ग ।

और, बहुत झेलनी होगी पीडा ।

पर, और कोई विकल्प नही है ।

और, प्रसव-पीडा के बिना स्वय को जन्म देना असभव है

रजनीश के प्रणाम

२१-५-१९७१

[प्रति स्वामी आनन्द परमहंस, जबलपुर]

१४० / अन्तर्ज्योति

प्रिय योग चिन्मय,

प्रेम । पुस्तको और परपराओ को व्यर्थ बना दो और वही करो जो कि तुम सोचते हो कि करने योग्य है—वह नही, जो कि लोग कहते है कि करो ।

प्रकाश की उस किरण को खोजो, जो कि प्रभु ने प्रत्येक मे छुपाई है ।

ऋषियों के ज्योतिर्मय से ज्योतिर्मय वचन भी स्वय की उस अन्तर्ज्योति के समक्ष फीके है ।

क्योकि, सत्य का कोई हस्तातरण सभव नही है ।

उसकी अनुभूति तो है, अभिव्यक्ति नही ।

निज मे, **निजता मे ही पाये बिना, उसे पाने की कोई और विधि नही है ।**

रजनीश के प्रणाम

२१-५-१९७१

[प्रति : स्वामी योग चिन्मय, बम्बई]

१४१ / बस, सीधी चली आ

प्यारी चंदना,

प्रेम। मधु और प्रिया को भेज रहा हूँ, तुझे लेने को।
एक क्षण भी अब व्यर्थ खोना उचित नहीं है।
बस, सीधी चली आ।
सोचना हो जो भी, यहाँ आकर सोचना।
पूछना हो जो, मुझसे पूछना।
वैसे तो मुझे देखेगी, तो न सोचने को कुछ बचेगा, न पूछने को।

रजनीश के प्रणाम
२४-५-१९७१

[प्रति : साध्वी चन्दना, कलकत्ता]

१४२ / अविचलता से स्वयं का अनुसरण करो

प्रिय योग चिन्मय,

प्रेम । व्यक्ति स्वय के विचारों की अवज्ञा कर देता है, क्योंकि ये विचार उसके ही होते हैं ।

और, यही अवज्ञा अतत. आत्मघात सिद्ध होती है ।

तुम्हारे लिए तुम्ही सर्व प्रथम हो ।

इसे क्षण भर को भी भूलना खतरनाक है ।

यह अहकार नही, सत्य की विनम्र स्वीकृति मात्र है ।

आत्यतिक अविचलता से स्वय का अनुसरण करो ।

अन्यथा, बाद मे पछतावे के आँसुओ के अतिरिक्त आत्मा के पास कुछ भी नही होता है ।

और, जब कि भीड की आवाजो की चीख तुम्हारे प्रतिपक्ष मे हो, उस क्षण तो अत्यत सावधानी से स्वय मे थिर रहना, क्योंकि चुनौतियो के ऐसे विरल क्षणो मे ही निजता का जन्म होता है ।

रजनीश के प्रणाम

२५-५-१९७१

[प्रति स्वामी योग चिन्मय, बम्बई]

१४३ / कर्मों का चट्टानी ढेर

प्रिय योग प्रार्थना,

प्रेम । संघर्ष निश्चय ही कठिन है ।

क्योकि, जन्मो-जन्मो के रोग है साथ ।

पर, विजय असभव नही ।

क्योकि, स्वय मे प्रभु की अनन्त शक्ति का आवास भी है ।

कर्मों की सघन चार-दीवारी है चारो ओर ।

और, द्वार मुक्ति का कोई भी नही ।

जैसे, पहाड मे खोदते है सुरग—ऐसे ध्यान से कर्मों के चट्टानी ढेर मे भी सुरग खोदनी है ।

पर, आशा और आस्था की बारूद निश्चय ही मार्ग बना लेती है ।

हँसते और नाचते हुए आगे बढ ।

श्रम कर और शेष प्रभु पर छोड दे ।

रजनीश के प्रणाम

६-६-१९७१

[प्रति : मा योग प्रार्थना, बम्बई-७४]

१४४ / धैर्य और प्रतीक्षा

प्रिय तारा,

प्रेम। दूर नहीं है वह क्षण, जब तू सागर में प्रवेश करेगी।
या, सागर ही तुझमे प्रवेश करेगा।
पर, जल्दी नहीं करना।
अधैर्य बाधा है।
धैर्य द्वार है।
मौन प्रतीक्षा कर।
शून्य प्रतीक्षा कर।
प्रतीक्षा की भूमि में ही प्रभु का बीज अंकुरित होता है।

रजनीश के प्रणाम

६-६-१९७१

[प्रति : मा योग तारा, अंधेरी, बम्बई-६९]

१४५ / समर्पण है द्वार—परम जीवन का

मेरे प्रिय,

प्रेम। जीतने की कोशिश करोगे, तो हारोगे।
बचना चाहा, तो मिटोगे।
इसलिए, हार ही जाओ, तो जीत का हार तुम्हारे गले मे है।
और, मिट ही जाओ, तो फिर मिटना असम्भव है।
सकल्प नही—समर्पण ही परम जीवन का द्वार है।

रजनीश के प्रणाम

२२-६-१९७१

[प्रति : स्वामी रामकृष्ण भारती, पो० बागरातवा, जि० होशंगाबाद, म० प्र०]

१४६ / बुद्धि की सीमा

प्यारी सुशीला,

प्रेम। तेरा पत्र।

और, जैसी आशा थी, वैसा ही।

पर, इतना भविष्यवाणी-योग्य (Predictable) होना क्या ठीक है?

पर, बुद्धि—तथाकथित ही—सदा ही भविष्यवाणी-योग्य ही होती है।

इसीलिए, जड़ (Matter) ही उसकी ज्ञात-सीमा है।

और, अब तो जड़ भी भविष्यवाणी-योग्य होने से इनकार कर रहा है!

न भरोसा हो, तो भौतिकी (Physics) की नयी उद्भावनाओं से पूछ।

रही अभौतिक (Metaphysics) की बात।

सो, वह तो है—बुद्धि-अतीत।

उस ओर तो समझ को छोड़ना ही समझदारी है।

रजनीश के प्रणाम

५-७-१९७१

[प्रति : श्रीमती सुशीला सिन्हा, ब्रजकिशोर पथ, पटना-१]

१४७ / मृत्यु-बोध और आत्म-क्रान्ति

मेरे प्रिय,

प्रेम। मृत्यु जीवन का स्वभाव है।

जन्म से ही यह निश्चित है।

उसके लिए दुःखी न हों।

और, अच्छा तो यह हो कि जागें—स्वयं की मृत्यु के प्रति जागें।

मृत्यु-बोध ही आत्म-क्रान्ति का पहला चरण है।

रजनीश के प्रणाम

१२-१२-१९७१

[प्रति : श्री नागेश्वर प्रसाद सिंह, ग्राम—औंटा, पो० मोकामाबाद, जिला-पटना, बिहार]

१४८ / बस, ज्ञान ही मुक्ति है

प्रिय राहुल,

प्रेम । जिससे मुक्त होना चाहोगे, उससे ही और बँध जाओगे ।
क्योंकि, मुक्ति नकार (Negation) नही है ।
मुक्ति 'किसी-से' नही होती है और न 'किसी-के-लिए' ही होती है ।
क्योंकि, मुक्ति विधेय (Positive) भी नही है ।
मुक्ति निषेध और विधेय दोनो का ही अतिक्रमण है ।
मुक्ति अर्थात् द्वैत से मुक्ति ।
वहाँ पक्ष कहाँ—विपक्ष कहाँ ?
प्रतिक्रिया किससे ?
विद्रोह कैसा ?
प्रतिक्रिया प्रज्ञा नही है ।
और, विद्रोह पुराने का ही सातत्य (continuity) है ।
इसलिए, समझो—लडो नही ।
लडकर कब किसने क्या पाया है ?
सिवाय दुःख के—सिवाय पराजय के ?
इसलिए, जागो—भागो नही ।
भागकर फिर और भागना पडता है ।
और, फिर उसका कोई भी अन्त नही है ।
ज्ञान ही मुक्ति है ।
भय नही, क्रोध नही, वैमनम्य नही, विद्रोह नहीं ।
बस, ज्ञान ही मुक्ति है ।

रजनीश के प्रणाम
२८-२-१९७२

[प्रति : श्रीयुत राहुल, नाथ निकेतन, १|१६, महात्मा गांधी मार्ग, आगरा-२]

१४९ / मन को भी जो देखता और जानता है—वही हो तुम

मेरे प्रिय,

प्रेम। मन का भी जो साक्षी है—मन को भी जो देखता और जानता है— वही हो तुम।

उसकी ही सुनो।
उसका ही अनुसरण करो।
उसको ही जियो।
शरीर भी उपकरण है।
मन भी।
मालिक—शरीर-मन—दोनों के ही पार है।
शरीर भी परिधि है।
मन भी।
केन्द्र दोनो के ही अतीत है।
वही हो तुम।
उसमे ही ठहरो।
उसमे ही रमो।
वही हो तुम।
उसको ही जानो।
उसको ही पहचानो।
उसको ही स्मृति रखो।
वही हो तुम।

रजनीश के प्रणाम

१८-४-१९७१

[प्रति श्री एम. एल. राजोरिया, सर्वे आफिसर न० ४४, पार्टी कैंप १, सर्वे आफ इंडिया, जबलपुर, म० प्र०]

१५० / घूँघट के पट खोल

मेरे प्रिय,

प्रेम । असत् भी है ।
नही है—ऐसा नही ।
लेकिन, स्वप्नवत् है ।
अर्थात्, होकर भी नही जैसा है ।
सत् अर्थात् शाश्वत ।
आकाश की भाँति ।
असत् अर्थात् अनित्य ।
परिवर्तनशील ।
बदलियो की भाँति ।
सत् को पाना नही है ।
क्योकि, वह सदा ही मिला ही हुआ है ।
असत् को छोडना नही है ।
क्योकि, वह छोडने के लिए भी कहाँ है ?
देखो—दोनो को देखो ।
दोनो के दर्शन करो ।
दोनो को जानो ।
न सत् का लाभ रखो ।
न असत् का भय ।
फिर हँसी आती है बहुत ।
क्योंकि, असत् सत् का ही घूघट सिद्ध होता है !
सत् का ही खेल ।
सत् की ही लीला ।
सत् के सागर पर ही उठी लहरे ।
साधना का सार चार शब्दो मे—घूँघट के पट खोल ।

रजनीश के प्रणाम
६-३-१९७१

[प्रति : श्री पुष्कर गोकाणी, जवाहर रोड, द्वारका, गुज०]

भगवान् श्री रजनीश
हिन्दी साहित्य

	रु. पैसे
१. जिन खोजा तिन पाइयाँ	४०.००
२. ताओ उपनिषद्, भाग–१	४०.००
३. ताओ उपनिषद्, भाग–२	४०.००
४. कृष्ण : मेरी दृष्टि मे	४०.००
५. महावीर : मेरी दृष्टि मे	४०.००
६. महावीर-वाणी, भाग–१	३०.००
७. महावीर-वाणी, भाग–२	३०.००
८. गीता-दर्शन, अध्याय–१,२	३०.००
९. गीता-दर्शन, अध्याय–३	(शीघ्र प्रकाशित)
१०. गीता-दर्शन, अध्याय–४	३०.००
११. गीता-दर्शन, अध्याय–५	१५.००
१२. गीता-दर्शन, अध्याय–६	३०.००
१३. गीता-दर्शन, अध्याय–७	१२.००
१४. गीता-दर्शन, अध्याय–८	२५.००
१५. गीता-दर्शन, अध्याय–९	२५.००
१६. गीता-दर्शन, अध्याय–११	(शीघ्र प्रकाशित)
१७. मैं मृत्यु सिखाता हूँ	२०.००
१८. ईशावास्य उपनिषद्	१५.००
१९. निर्वाण उपनिषद्	१५.००
२०. प्रेम है द्वार प्रभु का	९.००
२१. पद घुंघरू बाँध	८.००
*२२. नव-संन्यास क्या ?	
२३. समुन्द समाना बुन्द मे	७.००
२४. घाट भुलाना बाट बिनु	७.००
२५. सूली ऊपर सेज पिया की	७.००
२६. सत्य की पहली किरण	७.००
२७. संभावनाओं की आहट	६.००
२८. प्रभु की पगडंडियाँ	६.००
२९. मैं कहता आँखन देखी	६.००
*३०. अन्तर्वीणा	६.००
*३१. ढाई आखर प्रेम का	६.००
३२. संभोग से समाधि की ओर	६.००
*३३. क्रांति-बीज	६.००
३४. समाजवाद अर्थात् आत्मघात	६.००
३५. गांधीवाद : एक और समीक्षा	५.५०
३६. साधना-पथ	५.००
३७. पथ के प्रदीप	६.००
३८. मिट्टी के दीये	५.००
३९. अन्तर्यात्रा	५.००
४०. प्रेम के फूल	५.००
४१. अस्वीकृति मे उठा हाथ	५.००
४२. सत्य की खोज	५.००
४३. गहरे पानी पैठ	५.००
४४. ज्यों की त्यों धरि दीन्ही चदरिया	५.००
४५. मुल्ला नसरुद्दीन	५.००
४६. समाजवाद से सावधान	५.००
४७. शून्य की नाव	५.००
४८. शून्य के पार	४.००
४९. शान्ति की खोज	३.५०

भगवान श्री रजनीश का नवीनतम हिन्दी साहित्य

रा. = राज संस्करण | सा. = सामान्य संस्करण

	रु. पैसे		रु. पैसे
१. एक ओंकर सतनाम	रा. ७५-००	१२ गूंगे केरी सरकरा	रा. ५०-००
(नानक-वाणी)	सा. ५०-००	(कबीर-वाणी)	सा. ३०-००
२ दिया तले अन्धेरा	रा ७५-००	१३ कस्तूरी कुडल बसै	रा ५०-००
	सा ५०-००	(कबीर-वाणी)	सा. ३०-००
३. ताओ उपनिषद्	रा ७५-००	१४ पिव पिव लागी प्यास	रा ५०-००
(भाग-३)	सा ४५-००	(दादू-वाणी)	सा ३०-००
४. ताओ उपनिषद्		१५. गीता-दर्शन अध्याय-१०	५०-००
(भाग-२)	रा ४०-००	१६ गीता-दर्शन अध्याय-४	३०-००
५ महावीर-वाणी (भाग-३)	६०-००	१७ गीता-दर्शन अध्याय-८	२५-००
६ महावीर-वाणी (भाग-२)	३०-००	१८ गीता-दर्शन अध्याय-११	२५-००
७ महावीर-वाणी (भाग-१)	३०-००	१९. गीता-दर्शन अध्याय-५	१५-००
८ महावीर मेरी दृष्टि मे	४०-००	२०. ईशावास्य उपनिषद्	१५-००
९ कृष्ण · मेरी दृष्टि मे	४०-००	२१. निर्वाण उपनिषद्	१५-००
१० तत्त्वमसि	४०-००	२२ महावीर या महाविनाश	१५-००
११ शिव-सूत्र	रा ५०-००	२३. जीवन-क्रान्ति के सूत्र	१२-००
	सा २५-००		

शीघ्र प्रकाश्य

१. सहज समाधि भली
२ सुनो भाई साधो
३ मेरा मुझमें कुछ नही
४. कहै कबीर दिवाना
५ सबै सयाने एक मत
६ अकथ कहानी प्रेम की
७ बिन घन परत फुहार
८ भज गोविन्दम्
९ गीता-दर्शन अध्याय-१७
१०. गीता-दर्शन अध्याय-१८

आश्रम से प्रकाशित पाक्षिक पत्रिका :

रजनीश फाउन्डेशन न्यूजलेटर

(हिन्दी और अंग्रेजी भाषा मे विभिन्न नवीनतम सामग्री सहित)

वार्षिक शुल्क (प्रत्येक का) २४-००

भगवान श्री रजनीश के नवीनतम और पूर्व-प्रकाशित साहित्य के लिए सम्पर्क करिये : रजनीश फाउडेशन, १७-कोरेगाव पार्क, पूना-४११ ००१

Latest Books of Bhagwan Shree Rajneesh

D = Deluxe edition   O = Ordinary edition

	Rs.
1. The Mustard Seed	D. 105-00
	O. 75-00
2. The way of the white cloud	66-00
3. The Book of the Secrets-I (Tantra : 112 Ways of Meditation)	65-00
4 The Book of the secrets-II (Tantra 112 Ways of Meditation)	D 65-00
	O 50-00
5 The Supreme Doctrine (Ken-Upanishad)	D. 65-00
	O 50-00
6 Tantra : the Supreme Understanding (Tilopa's . Song of Mahamudra)	65-00
7. No Water, no Moon (Zen)	D. 65 00
	O. 40-00
8 Roots and Wings	65-00
9. The Empty Boat	60-00
10 And the flowers Showered	60-00
11. When the shoe fits	60-00
12 The Grass Grows by itself	60-00
13 Returning to the Source	60-00
14. Just like that	60-00
15. Neither this Nor that	60-00
16 I am the Gate	25 00

Forthcoming Books

1 The Hidden Harmony (Heraclitus)
2 Until you Die
3 The three Treasures-I
4. The three Treasures-II
5 The True Sage (Hasidism)
6. Come follow Me (The Life of Jesus)
7. The Alpha and the Omega

Rajneesh Foundation Newsletter (Fortnightly)
Annual Subscription Rs 24-00
Sannyas (Bi-monthly) Subscription Rs 60-00

For all books contact or write to ·

Secretary   Rajneesh Foundation
Shree Rajneesh Ashram
17, Koregaon Park,
Poona—411 001 (India) Tel. 28127